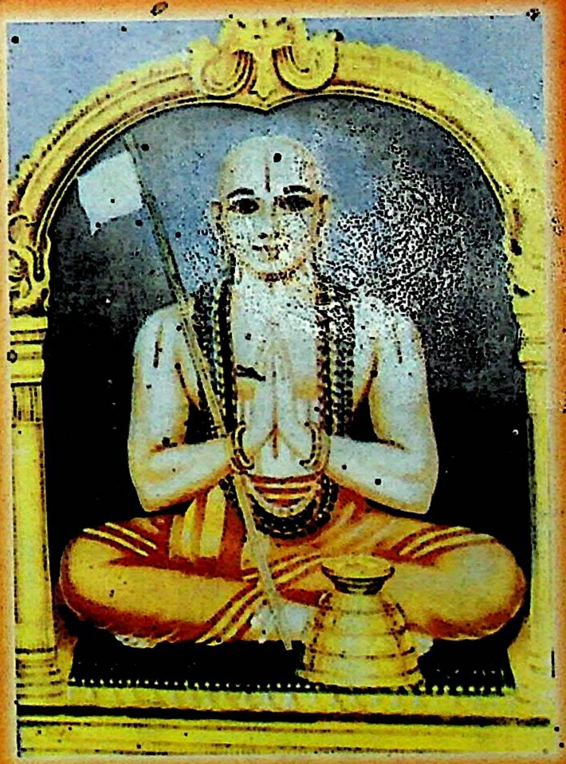




15

वेदान्तकारिकावलीविमर्श



डॉ० केदारप्रसाद परोहा

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

भारतीय दर्शन का शिरोमणि वेदान्त-दर्शन है। वेदान्त दर्शन के प्रमुख पाँच सिद्धान्त हैं— शंकर का अद्वैतवाद, रामानुज का विशिष्टाद्वैतवाद, निम्बार्क का द्वैताद्वैतवाद, मध्व का द्वैतवाद और वल्लभ का शुद्धाद्वैतवाद। रामानुज का विशिष्टाद्वैतवाद वैष्णव-वेदान्त का मुख है। विशिष्टाद्वैत वेदान्त के सुप्रसिद्ध आचार्यों में वुच्चि वेंकटाचार्य एक हैं, इन्होंने रामानुज वेदान्त का अनुसरण करते हुये "वेदान्तकारिकावली" नामक ग्रन्थ की रचना की है।

प्रस्तुत ग्रन्थ वेदान्त-कारिकावली-विमर्श है; जिसमें विशिष्टाद्वैत वेदान्त के ऐतिहासिक पक्ष एवं सिद्धान्त के साथ वेदान्त-कारिकावली का विमर्शात्मक अध्ययन किया गया है। इसमें दार्शनिक विषय का प्रतिपादन कविता के रूप में रखकर अति सुगम रीति से किया गया है। विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के विशिष्ट विषयों को अत्यन्त सरलता से समझाया गया है। क्या प्रमाणमीमाँसा-क्या प्रमेयमीमाँसा, उभय-मीमाँसा ही विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के बोध हेतु इस ग्रन्थ की शैली-विशेषता है।

यह ग्रन्थ विशिष्टाद्वैत वेदान्त की विशिष्ट कृति है। इसमें प्रमाण-प्रमेय का अद्भुत रूप से कारिकाओं के माध्यम से परिचय दिया गया है, जो आचार्यश्री रामानुज के विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के रूप में प्रतिपादित है। प्रमाण में प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द भेद से वर्णित है। प्रमेय पदार्थों में प्रकृति, काल, नित्यविभूति, धर्मभूतज्ञान, जीव एवं ईश्वर की सत्वता का परिचय विशिष्ट रूप से किया गया है।

CC0. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

दर्शन सङ्कायाध्यापकानां करकमलयोः
सादरं समर्पयति —

केशवप्रसादपोस्ति

CC0. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

वेदान्तकारिकावलीविमर्श

डॉ० केदारप्रसाद परोहा
एम० ए०, एम० फिल्, पी-एच० डी०
साहित्याचार्य, ज्योतिषाचार्य
वरिष्ठ प्रवक्ता, विशिष्टाद्वैत वेदान्त विभाग
श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठ
मानित विश्वविद्यालय
कुतुब सांस्थानिक क्षेत्र नई दिल्ली-१६



अमर ग्रन्थ पब्लिकेशन्स
दिल्ली-११०००९

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

प्रकाशक :
अमर ग्रन्थ पब्लिकेशन्स
८/२५-ए, विजय नगर, दिल्ली-९
दूरभाष : ५५४३२६५८

© लेखक

प्रथम संस्करण २००४

ISBN : 81-87322-30-6

मूल्य : रु० 325/मात्र

मुद्रक :
अमर प्रिंटिंग प्रैस
८/२५, विजय नगर, दिल्ली-९
दूरभाष : ७२५२३६२

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

शुभाशंसा

भारतीय दार्शनिक चिन्तन परम्परा में विशिष्टाद्वैत वेदान्त का स्थान महत्वपूर्ण है । इसके प्रवर्तक आचार्य श्री रामानुज का सिद्धान्त प्रत्नतत्त्वविशारद विद्वानों के द्वारा सर्वदा स्तुत्य एवं श्लाघनीय रूप में समादृत हुआ है । विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त बोधक वाङ्मय परमतखण्डनपूर्वक स्वमत स्थापना के कारण विद्वानों के आकर्षण का विषय रहा है । विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय में 'न्याय-सिद्धाञ्जन' सदृश प्रौढ़ ग्रन्थों की रचना के साथ-साथ "बालानां सुखबोधाय" न्याय का परिपालन करते हुए वेदान्त-कारिकावली जैसे प्रकरण ग्रन्थ की भी रचना की गई है ।

मुझे हार्दिक परितोष का अनुभव हो रहा है कि विद्यापीठ के दर्शन-संकाय में प्राध्यापक डॉ. केदार प्रसाद परोहा ने सरल एवं सुबोध शैली में वेदान्त-कारिकावली नामक विमर्शात्मक ग्रन्थ का प्रणयन किया है । डॉ. परोहा को रामानुज सिद्धान्त के ग्रन्थ-ग्रन्थियों का परिचय गुरु परम्परा से प्राप्त है । रामानुज सम्प्रदाय में दीक्षित होने के कारण इनका विद्यावंश प्रशस्त है । इन्होंने कारिकाओं की व्याख्या के साथ-साथ ग्रन्थकार की स्वोपज्ञ वृत्ति का भी यथास्थान उपयोग किया है । सम्पूर्ण वेदान्त-कारिकावली का मूल रूप में इस ग्रन्थ के साथ प्रकाशन विद्वानों के लिए उपयोगी होगा । मुझे पूर्ण विश्वास है कि यह विमर्शात्मक ग्रन्थ विशिष्टाद्वैत के गहन सिद्धान्तों के बोध को उद्घाटित करने में सफल होगा तथा सुधी समाज में सम्यक् रूप में समादृत होगा ।

वाचस्पति उपाध्याय
कुलपति
श्रीलाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ
मानित विश्वविद्यालय
नई दिल्ली-११००१६

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

प्राक्कथन

भारतीय दर्शन का शिरोमणि वेदान्त दर्शन है। वेदान्त दर्शन के प्रमुख पांच सिद्धान्त हैं—शंकर का अद्वैतवाद, रामानुज का विशिष्टाद्वैतवाद, निम्बार्क का द्वैताद्वैतावाद, मध्व का द्वैतवाद और बल्लभ का शुद्धाद्वैतवाद। रामानुज का विशिष्टाद्वैतवाद वैष्णववेदान्त का मुख है। विशिष्टाद्वैत वेदान्त के सुप्रसिद्ध आचार्यों में बुच्चि वेंकटाचार्य एक हैं, इन्होंने रामानुज वेदान्त का अनुसरण करते हुये 'वेदान्तकारिकावली' नामक एक प्रकरण ग्रन्थ की रचना की है।

बुच्चि वेंकटाचार्य का जन्म 'आन्ध्र प्रदेश' में (गुट्टी) के समीप 'सुरपुरम्' नामक ग्राम में हुआ था। यह सुरपुरम् आजकल 'निजाम' की राज्यभूमि जिला 'गुलबर्ग' में प्रवाहित कृष्णा और भीमा नदी के बीच बताया जाता है। ऐसी जनश्रुति प्रसिद्ध है कि वेंकटाचार्य 'सुरपुरम्' के एक श्रेष्ठ ब्राह्मण कुल में अवतरित हुए थे, ये 'वुक्कपट्टण' परिवार के 'अण्णयार्यं' के तृतीय पुत्र थे। 'अण्णयार्य' सुरपुरम् में १७६० ई. में आये थे, 'पमिनायक राघव' १७७३ ई. में दिव्य गति को प्राप्त हो गये थे। तदनन्तर उनके पुत्र वेंकटनायक 'सुरपुरम्' की गद्दी को स्वीकार करके अण्णयार्य के पुत्र वेंकटाचार्य हुये जो संभवत: १८ वीं शताब्दी में हुये होंगे।

'सुरपुरम्' में अनेक विद्वानों द्वारा रचित अनेक ग्रन्थ आज भी उपलब्ध होते हैं। इन ग्रन्थों के परिशीलन से सुरपुरम् के सभी विद्वानों की वंशावली को जाना जा सकता है। जो वंशावली निम्न प्रकार है—

१. वेंकटाचार्य: I २.अण्णयाचार्य:I

३. नरसिंहाचार्य: ४. श्रीनिवासताताचार्य: अथवा

श्रीनिवासाचार्य: I

५. वेंकटाचार्य: II ६. अण्णयाचार्य: II ७. श्रीनिवासाचार्य: II

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

८. श्रीनिवासाचार्यः III ९. वेंकटाचार्यः III १०. वेंकटाचार्यः IV

इनमें १० वें वेंकटाचार्य ही बुच्चि वेंकटाचार्य के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनकी रचनायें निम्नलिखित हैं—

१. विष्णुसप्तविभक्तिस्तोत्रम्,

२. वेदान्तकारिकावली, तथा

३. इन्द्रष्टोत्तरशतनामस्तोत्रम्।

प्रस्तुत ग्रन्थ वेदान्तकारिकावलीविमर्श है, जिसमें विशिष्टाद्वैत वेदान्त के ऐतिहासिक पक्ष एवं सिद्धान्त के साथ वेदान्तकारिकावली का विमर्शात्मक अध्ययन किया गया है। यह अध्ययन चार अध्यायों में विभक्त है। प्रथम-अध्याय में प्रमाण का स्वरूप विवेचन किया गया है। प्रमाण और अप्रमाण की व्यवस्था उपस्थित की गयी है। साथ ही प्रमा और अप्रमा का स्वरूप सभेद स्पष्ट किया गया है। द्वितीय-अध्याय में रामानुज-वेदान्त सम्मत प्रमाण के भेदों को प्रस्तुत किया गया है। प्रत्यक्ष प्रमाण का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है, जिसमें निर्विकल्पक, सविकल्पक, इन्द्रियसापेक्ष, इन्द्रियानपेक्ष, स्वतःसिद्ध और दिव्य आदि साक्षात्कार के भेदों को स्पष्ट किया गया है। तृतीय-अध्याय में अनुमान विवेचन हुआ है, जिसमें अनुमान का स्वरूप, व्याप्ति का स्वरूप, हेतु का स्वरूप,-हेत्वाभास का स्वरूप और इन सभी के भेद विस्तृतरूपेण उपस्थित किये गये हैं। चतुर्थ-अध्याय में शब्द प्रमाण की व्याख्या की गई है। शब्द के लक्षण के साथ वाक्यार्थ ज्ञान के करण और शब्दशक्तियों को भी बताया गया है। चूंकि रामानुज वेदान्त के अनुसार बुच्चिवेंकटाचार्य ने वेद को ही एक मात्र शब्द प्रमाण स्वीकार किया है। अतः अत्रैव वेद के कर्मकाण्ड, ब्रह्मकाण्ड, उनमें मन्त्र, अर्थवाद, विधि, प्रकार, नित्य,नैमित्तिक, काम्यकर्म, वेदाङ्ग, वेद पर आश्रित स्मृतियों का प्रामाण्य आदि की चर्चा की गयी है। अन्त में उपसंहार प्रस्तुत किया गया है। तदुपरान्त हिन्दी-अनुवाद व संस्कृतटिप्पण सहित मूल कारिकावली संलग्न है। ततः चार परिशिष्ट संयुक्त हैं—प्रथम में रेखाचित्र द्वारा ग्रन्थ का सिंहावलोकन प्रस्तुत है, द्वितीय कारिकार्धानुक्रमणी है, तृतीय व्याख्यानोदाहृतप्रमाणानुक्रमणी है तथा चतुर्थ सङ्केताक्षरसूची है। अन्त में सन्दर्भग्रन्थसूची है।

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

वेदान्तकारिकावली मुझे अपने विद्यार्थी-जीवन से ही प्रिय रही है। इसमें दार्शनिक विषय का प्रतिपादन कविता के रूप में रखकर अति सुगम रीति से किया गया है। विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के विशिष्ट विषयों को अत्यन्त सरलता से समझाया गया है। क्या प्रमाणमीमांसा, क्या प्रमेयमीमांसा, उभयमीमांसा ही विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के बोधहेतु इस ग्रन्थ की शैली-विशेषता है। अतएव मेरा भी यह वेदान्तकारिकावलीविमर्श एक लघु प्रयास है। हिन्दी-भाषा में कारिकावली हेतु कोई प्रयत्न नहीं हुआ था, इसीलिए मैंने यह प्रयत्न किया है। मुझे यह लिखने में लेशमात्र भी संकोच नहीं है कि प्रस्तुत कार्य संस्कृत-जगत् के सुप्रसिद्ध विद्वान्, दर्शनशास्त्र के पारंगत पण्डित तथा मेरे श्रद्धेय गुरुवर प्रो० वाचस्पति उपाध्याय, कुलपति श्री लालबहादुरशास्त्रिराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठ, नई दिल्ली की सहायता तथा स्नेह का ही परिणाम है। अपने अत्यन्त व्यस्त क्षणों में भी उन्होंने मेरी प्रार्थना पर अपने आशीर्वचनों से मुझे सिञ्चित कर मुझ पर अनुग्रह किया है। उनके लिए कृतज्ञता ज्ञापन करने के लिए मेरे पास पर्याप्त शब्द नहीं हैं और कृतज्ञता ज्ञापन करके उनके प्रति मैं अपने हृदयस्थ आभार के भाव को कम करना नहीं चाहता हूँ, एतदर्थ मैं तो उनके श्रीचरणों में अपनी प्रणामाञ्जलि अर्पित करता हूँ। इस ग्रन्थ के प्रणयन में मुझे प्रो० मदन मोहन अग्रवाल, संस्कृत-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली से प्रचुर व निर्व्याज सहायता मिली है। एतदर्थ उनका मैं हृदय से आभार स्वीकार करता हूँ।

इस अवसर पर मैं अपने पूज्यपाद पिताजी श्री बालाप्रसाद जी एवं पूज्य माताजी स्वर्गीय श्रीमती बिटुलिया बाई जी के श्रीचरणों में बार-बार प्रणाम करता हूँ, जिनके शुभ और अहैतुक आशीर्वाद से मैं इस अवस्था तक पहुँचा हूँ, फिर भी मैं पितृऋण से सर्वथा उऋण नहीं हूँ, आगे उन्हीं की कृपा से इस प्रकार के साहित्यिक कार्य में संलग्न रहूँगा।

अनेक विघ्न-बाधाओं के बीच मेरे परिवार के जिन सदस्यों की स्निग्ध प्रेरणा और आग्रह ने यह ग्रन्थ पूर्ण कराया उनमें उल्लेखनीय हैं—मेरी धर्मपत्नी उर्मिला, पुत्र पंकज, नीरज और पवन तथा पुत्री ममता। इन्हें उपचार-वचन से अधिक प्रिय और आह्लादक इस ग्रन्थ का प्रकाशन होगा, तथापि मैं इन्हें एतदर्थ शुभाशीष् देता हूँ।

CC0. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

यहाँ तक की यात्रा में बालूजा परिवार एवं साहनी परिवार के प्रत्येक सदस्यों से मुझे सदा स्नेह-सद्‌भावपूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है, किन शब्दों में उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करूँ, नहीं समझ आता। इस ग्रन्थ को प्रकाश में लाने का श्रेय सुरेन्द्र जी डाबर को है, मैं इनका कृतज्ञ हूँ। ग्रन्थ को साज-सज्जा के साथ प्रकाशित करने में श्री हीरालाल जी का अथक परिश्रम रहा है, उनको मैं आशीर्वाद प्रदान करता हूँ।

भगवदीय कृपा से ही मेरा मार्ग सफल हुआ है, अतएव उनका ही यह तत्व उनके प्रति समर्पित है—

'त्वदीयं वस्तु गोविंद तुभ्यमेव समर्पये।'

—केदार प्रसाद परोहा

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

आशीर्वचन

वेदान्त दर्शन का आधारस्तम्भ प्रस्थानत्रयी है। शंकर, भास्कर, यादव प्रकाश, रामानुज, मध्व, निम्बार्क, श्रीकंठ, श्रीपति, विज्ञानभिक्षु, बल्लभ और बलदेव आदि आचार्यों ने अपने-अपने सिद्धान्तों के अनुसार प्रस्थानत्रयी की व्याख्या करने का श्लाघ्य प्रयास किया है। अत: ये सभी आचार्य वेदान्ती कहलाते हैं। शंकर आदि आचार्य अद्वैत वेदान्त के समर्थक हैं। रामानुज आदि वैष्णव वेदान्त के समर्थक हैं, तथा श्रीकंठ आदि शैव वेदान्त के समर्थक हैं। वैष्णव वेदान्त में रामानुज वेदान्त मूर्धन्य हैं, जिनका कि सिद्धान्त विशिष्टाद्वैतवाद प्रसिद्ध है। विशिष्टाद्वैतवाद के-अनुसार जीव, जगत् और ईश्वर- त्रिविध सत्ता स्वीकार की जाती है। इसी सत्तात्रयी की सिद्धि के लिये रामानुज वेदान्त में तीन प्रमाण स्वीकार किये गये हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द।

रामानुज वेदान्त की व्याख्या और पुष्टि वेंकटनाथ, बुच्चि वेंकटाचार्य जैसे विद्वानों ने अत्यन्त सुव्यवस्था के साथ प्रस्तुत की है। बुच्चि वेंकटाचार्य ने अपनी 'वेदान्तकारिकावली' में प्रमाण और प्रमेय का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार प्रमेय तत्व के अन्तर्गत प्रकृति, काल, नित्यविभूति, धर्मभूतज्ञान, जीव, ईश्वर और अद्रव्य आते हैं। इन सभी की सिद्धि के लिये उन्होंने प्रमाण निरूपण भी प्रस्तुत किया है। जिसके द्वारा यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो, वह प्रमाण है। जो ज्ञान वस्तु का अनुभव कराने योग्य व्यवहार को उत्पन्न करता है, वह प्रमा है। इसके विपरीत अप्रमा है, संशय, अन्यथाज्ञान, विपरीतधी- ये अप्रमा हैं। वेंकटाचार्य के मत में स्मृति भी प्रमाण है। उनकी मान्यता है, भ्रम भी मिथ्या न होकर सत् ही होते हैं। अत: ये सत्ख्यातिवाद को स्वीकार करते हैं।

बुच्चि वेंकटाचार्य ने तीन प्रमाण स्वीकार किये हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, और शब्द। उपमान, अर्थापत्ति प्रमाण को अनुमान में अन्तर्भूत किया गया है, और अभाव प्रमाण को प्रत्यक्ष में ही अन्तर्भूत किया गया है।

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

वेंकटाचार्य साक्षात्कार करने वाली हेतु को प्रत्यक्ष कहते हैं, साक्षात्कार करने वाली प्रमा इन्द्रिय जन्य होती है, जो दो प्रकार की होती है—सविकल्पक और निर्विकल्पक। यह सविकल्पक,निर्विकल्पक साक्षात्कार इन्द्रियसापेक्ष और इन्द्रियानपेक्ष भेद से दो प्रकार का होता है। इन्द्रिय सापेक्ष साक्षात्कार साधारण पुरुषों में प्रसिद्ध है, इसके पांच भेद हैं—चाक्षुष, श्रावण, त्वाच, घ्राणज और रासन। इन्द्रियानपेक्ष दो प्रकार का होता है—स्वत:सिद्ध और दिव्य। वेंकटाचार्य के मत में स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और प्रतिभा प्रत्यक्ष प्रमाण के अन्तर्गत आते हैं।

बुच्चि वेंकटाचार्य ने अनुमिति के करण को अनुमान कहा है, और लिंग के परामर्श को अनुमान कहा है। वे भूयिष्ठ साहचर्यनियम को व्याप्ति कहते हैं। उनके अनुसार व्याप्ति दो प्रकार की है—अन्वय व्याप्ति और व्यतिरेक-व्याप्ति। हेतु के तीन रूप हैं—पक्ष,सपक्ष,विपक्ष। हेत्वाभास के पांच भेद हैं—व्यभिचारी, विरुद्ध, असिद्ध, सत्प्रतिपक्षदक, बाधित। अनुमान के दो भेद स्वीकार किये हैं—स्वार्थानुमान, परार्थानुमान। न्याय परम्परा के अनुसार ही वेंकटाचार्य ने पंचावयव को स्वीकार किया है।

वेंकटाचार्य अनाप्त के द्वारा अनुक्त वाक्य को शब्द प्रमाण कहते हैं। इन्होंने शब्द के लक्षण में अनाप्त शब्द का प्रयोग आप्त के निराकरण के लिए किया है, क्योंकि आप्त वाक्य कहने से वेद का ग्रहण नहीं होता क्योंकि वेद अपौरुषेय हैं। अनुक्त पद से लौकिक वाक्यों को दूर रखा गया है, क्योंकि वेद वाक्य अलौकिक होने से अनुक्त ही हैं, निष्कर्षत: वेंकटाचार्य के मत में वेद वाक्य ही शब्द प्रमाण हैं। बुच्चि वेंकटाचार्य ने अन्य सभी दार्शनिकों के अनुसार ही वाक्यार्थ ज्ञान के लिये—आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि को कारण स्वीकार किया है। इन्होंने शब्द शक्तियां दो ही स्वीकार की हैं—अभिधा और उपचार। वेद के दो भाग हैं—पूर्वभाग और उत्तरभाग-इन दोनों भागों के भी तीन प्रकार-हैं-मन्त्र, अर्थवाद और विधि। अभिप्राय यह है कि वेदांग और स्मृतियां ये सभी शब्द प्रमाण के रूप में ही स्वीकृत हैं। वेंकटाचार्य के अनुसार लोक में सभी शब्द शरीर-शरीरी के बीच रामानुज वेदान्त में अपृथक् सिद्धि सम्बन्ध स्वीकार किया गया है। इसलिए वेंकटाचार्य शब्द और अर्थ के बीच शरीर और शरीरी सम्बन्ध स्वीकार कर सभी शब्दों को भगवदीय स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं कि सभी शब्द यद्यपि शरीर

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

वाचक हैं, लेकिन उनका सम्बन्ध अर्थ के रूप में शरीरी तक है। इसलिए श्रुति, स्मृति, इतिहास इन सभी में शब्द भगवदीय ही स्वीकार करने चाहिए।

यह अतीव प्रसन्नता का विषय है कि 'वेदान्तकारिकावली विमर्श' नामक ग्रन्थ का प्रणयन पं० केदारप्रसाद परोहा ने किया है। इससे हमारे सम्प्रदाय की रक्षा होगी और यह छात्रों के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होगा। इसका स्वागत अखिल भारतीय स्तर पर न केवल विद्यार्थियों वरन् शिक्षकों के द्वारा भी होगा। 'वेदान्तकारिकावली' की सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि इस प्रकरण ग्रन्थ में तत्वमीमांसा के साथ प्रमाण मीमांसा भी विस्तार के साथ प्राप्त होती है। जबकि प्रायः वेदान्त दर्शन के ग्रन्थ तत्वपरक ही होते हैं। प्रस्तुत संस्करण में मूल ग्रन्थ भी हिन्दी अनुवाद के साथ होने से अत्यधिक संग्रहणीय हो गया है।

मझे पूर्ण विश्वास है कि भगवत्कृपा से प्रिय केदार प्रसाद शास्त्री 'विशिष्टाद्वैत वेदान्त' के अध्यावधि अप्रकाशित महत्वपूर्ण ग्रन्थों का विमर्शात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते रहेंगे।

मैं इनके उज्ज्वल भविष्य के लिए शुभाशीर्वाद देता हूँ।

श्री श्री १००८ श्री स्वामी संकर्षण प्रपन्नाचार्य राजगुरु जी महाराज
चित्रकूट धाम, हरिद्वार

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri



CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

विषयानुक्रमणिका

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

CC0. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

पूर्वपीठिका

विशिष्टाद्वैत वेदान्त का ऐतिहासिक पक्ष एवं सिद्धान्त

दर्शनों में वेदान्त का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। वेदों के अन्तिम भाग तथावेदों के अर्थ-निश्चय को वेदान्त कहते हैं। "वेदानामन्तः" यह वेदान्त शब्द का विग्रह है। अन्त शब्द अनेकार्थक है। कोश वाक्य के अनुसार यहाँ अन्त शब्द को अन्तिमभागपरक अथवा अर्थनिश्चयपरक माना जा सकता है।[१] वेदों का अन्तिम भाग उपनिषद् है, तथा वेदों के अर्थ का निश्चय मीमाँसा शास्त्र में किया जाता है।[२] आज वेदान्तों की अनेक शाखाएं प्रचलन में हैं, उनमें विशिष्टाद्वैत वेदान्त अन्यतम है। सम्पूर्ण वेदों की तत्वापादकता इस वेदान्त के अनुयायियों को अभिप्रेत है।

विशिष्टाद्वैत दर्शन का इतिहास कालक्रम के परिपेक्ष्य में इस प्रकार से देखा जा सकता है। वैष्णवभक्ति को विविध रूपों में स्थापित करने वाले आचार्यों का युग ११वीं शताब्दी से लेकर १६वीं शताब्दी तक स्वीकार किया जाता है।[३] यह युग राजनैतिक तनावों एवं छिन्न-भिन्न आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्था का युग था। राजनैतिक सत्ता हाथ से जाते ही हिन्दुओं को धार्मिक परतन्त्रता का आभास होने लगा। धार्मिक क्षेत्र में नेतृत्व की रिक्तता एवं अभाव सर्वत्र लक्षित होता था।जैन और बौद्ध धर्म अब युग के लिए प्रेरक शक्तियों के रूप में नहीं रह गये थे। बौद्ध धर्म के तांत्रिक स्वरूप से विकसित अनेक विकृतियों ने जन-जीवन को विषाक्त कर दिया था। धार्मिक स्तर पर समाज दो वर्गों में विभक्त था।

---

१. अन्तःस्वरूपे निकटे प्रान्ते निश्चयनाशयोः-"नानार्थकोश"।

२. वेदानां-संहिताब्राह्मणोपनिषदाम् अन्तः-निश्चयो यत्र सो वेदान्तः। -"यतीन्द्रमतदीपिका" भूमिका पृ०-७।

३. डा. नगेन्द्र-हिन्दी साहित्य का इतिहास-पृ०-१६७।

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

(१) निम्न वर्ग (अशिक्षित) और (२) उच्च वर्ग (शिक्षित)

निम्न वर्गीय अशिक्षित जनता पर जादू-टोने का प्रभाव था, तो सुसंस्कृत जनता अद्वैतवेदान्त प्रवर्तक आचार्य शंकर के धार्मिक, दार्शनिक आन्दोलन के प्रति आस्थावान्, थी। इसी समय दार्शनिक, तार्किक, धार्मिक आन्दोलन की सोपान परम्परा में मध्वाचार्य, निम्बार्क स्वामी एवं श्री स्वामी रामानुजाचार्यद्वारा पर्यन्त सामाजिक जागृति हुई। इन आचार्यों द्वारा प्रवर्तित वैष्णव-भक्ति विविध रूपों में जनमानस को आप्लावित करने में समर्थ हो सकी। सम्पूर्ण भारतीय साहित्य पर चाहें वह कला का क्षेत्र हो अथवा काव्य का विशिष्टाद्वैत का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। इस दर्शन में ईश्वर भक्ति एवं सगुणापासना का प्रतिपादन किया गया है।

विशिष्टाद्वैत दर्शन ने ईश्वर से जिस सगुण का प्रतिपादन किया है, उसे विष्णु नाम से अभिहित किया है। ऐतिहासिक दृष्टि से यदि देखा जाये तो हमें ज्ञात होता है,कि विष्णुपद का प्रयोग वैदिक काल से लेकर आधुनिक काल तक दर्शन साहित्य में विभिन्न रूपों में हुआ है। लौकिक जगत् के बाह्य रूपों में अन्तर्निहित एक परोक्ष सत्ता की चेतना ऋग्वेद में सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। वेद में विष्णु की एक सामान्य सौर देवता के रूप में प्रार्थना की गयी है। जिस प्रकार सिंह सभी प्राणियों में अपने पराक्रम से प्रख्यात है, उसी प्रकार विष्णु भी अपने पराक्रम के कारण ही मनुष्यों के स्तुति के पात्र हैं।[१] संहिताओं में भी-विष्णु की स्तुति की गयी है।[२] किन्तु ब्राह्मण काल तक आते-आते विष्णु ने अपने गुणों के कारण सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया था। विष्णु ने यज्ञ के विषय में सभी देवताओं से बढ़कर कार्य किया और इसी कारण उन्हें उन सभी से श्रेष्ठ समझे जाने लगा।[३] आरण्यकों का अन्तिम भाग उपनिषद् है।[४] उपनिषदों को ही वेदान्त कहते हैं। उपनिषद् भारतीय तत्व ज्ञान का मूल स्रोत हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद् में विष्णु एवं प्रपत्ति सिद्धान्त का वर्णन उपलब्ध होता है। उपनिषदों के पश्चात् महाभारत की

---

१. प्र प तद् विष्णो स्तवते वीर्येण। मृगो न भीमः कुचरो गिरीष्ठः। -ऋग्वेद १.१५४.२

२. तैत्तरीय संहिता-२.१.३.१

३. शतपथ ब्राह्मण-१४१.१

४. यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥-श्वेताश्वतरोपनिषद् ६.१८

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

रचना हुई इसने अवैदिक मतों की अप्रमाणिकता दिखाकर वैदिक मत की पुन: स्थापना का पुनीत कार्य सम्पन्न किया। महाभारत के पंचम वेद होने का यही रहस्य है।[1] "श्रीमद्भगवद्गीता" महाभारत का सारतम अंश है। इसमें भी विष्णु की स्तुति की गयी है।[2] रामानुज सम्प्रदाय में बाल्मीकिरामायण, महाभारत मूल धर्मशास्त्र के रूप में प्रतिष्ठित हैं। महाभारत के भगवद्गीता, विष्णुसहस्रनाम, भीमस्तव, अनुस्मृति और गजेन्द्रमोक्ष इस सम्प्रदाय के पंचरत्न माने जाते हैं।[3] जिनका स्वाध्याय तथा पारायण सम्प्रदाय के अनुयायी प्रतिदिन करते हैं। पुराणों में विष्णुपुराण और भागवतपुराण का स्वाध्याय रामानुज सम्प्रदाय में विशेष रूप से किया जाता है। रामायण, महाभारत और पुराणों में वेदान्त-विषयक जो विवेचन है उनको रामानुज सम्प्रदाय श्रद्धापूर्वक स्वीकार करता है। वह इतिहास-पुराण द्वारा वेद वेदान्त का उपबृंहण करता है। पांचरात्र आगम में प्रपत्ति के छ: अंगों का सुन्दर वर्णन है। भगवान् के भक्त को वहां पंचकालज्ञ कहा गया है। वह अपने समय को पांच भागों में बाँट कर भगवत्-पूजा में लगा रहता है।

पाँच कालों का क्रम इस प्रकार से है:—

१. अभिगमन २. उपादान ३. इज्या ४. स्वाध्याय, और ५. योगसाधना।

ऐतिहासिक पक्ष

रामानुज वेदान्त उभयवेदान्त कहलाता है। इसकी प्रमुख रूप से दो परम्परायें हैं।

१. आलवार परम्परा, और २. आचार्य परम्परा।

इस सम्प्रदाय की दोनों ही परम्परा समृद्ध एवं शक्तिशाली हैं। 'आलवार' शब्द तमिल भाषा का है। इसका अर्थ है अध्यात्मज्ञान रूपी सागर में गोता लगाने वाला। सभी आलवार उच्च कोटि के भक्त थे। उन्हें दिव्यसूरि कहा जाता है। उनकी वाणियों के संग्रह को "दिव्यप्रबन्धम्" कहा जाता है। उनमें प्रपत्ति अर्थात्

---

१. बलदेव उपाध्याय-भारतीय दर्शन, पृ०-५३
२. "आदित्यानामहं विष्णु"-श्रीमद्भगवद्गीता-१०-२१
३. गीता सहस्रनामानि स्तवराजो ह्यनुस्मृतिः। गजेन्द्रमोक्षणं चैव पंचरत्नानि भारत॥ -बलदेव उपाध्याय, संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ, पृ०-१८९

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

शरणागतिरूप भक्ति का पूर्ण विकास हुआ है। तमिल श्रुतियाँ वैसे ही प्रमाणित हैं, जैसे संस्कृत में श्रुतियाँ। तमिल श्रुतियों को तमिल वेद भी कहते हैं। इनके प्रणेता आलवार संत थे। जो संख्या में १२ थे, जो निम्न प्रकार से हैं।[१]

तमिलनाम	संस्कृत नाम
पोयगै आलवार	सरोयोगी
भूतन्ता आलवार	भूतयोगी
पेय आलवार	महद्योगी
नाम्य आलवार	भ्रान्तयोगी
पेरिय आलवार	भक्तिसार
अण्डाल आलवार	मधुर कवि
टोण्डरडिप्पोडि आलवार	सठारि वकुलाभरण
तिरूप्पन आलवार	कुल शेखर
तिरूमगै आलवार	विष्णुचित्त (भट्टनाथ)
शठकोप	गोदा
भक्तांघ्रिरेणु	विप्रनारायण
परकाल	नीलन्

ये सभी आलवार रामानुज के पूर्व थे। वे ही उनके ईश्वरवाद और प्रपत्तिमार्ग के प्रवर्तक थे। किन्तु इन सभी संतों का केवल भक्ति पक्ष ही प्रखर था। आगे आचार्य-परम्परा ने इसे समाज में तार्किक एवं धार्मिक रूप में सुव्यवस्थित रूप से प्रस्तुत किया जिसमें आचार्य रामानुज का विशेष स्थान हैं। इनसे भी पूर्ववर्ती एवं परवर्ती आचार्यों की शृंखला भी बृहद् है। आचार्य रामानुज तक श्री वैष्णव सम्प्रदाय की गुरुपरम्परा इस प्रकार से है।[२]

---

१. एस. कृणाचारी अयंगार के मतानुसार-बलदेव उपाध्याय-संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास-पृ.१९०

२. लक्ष्मीनाथसमारम्भां नाथयामुनिमध्यमाम्।
अस्मदाचार्यपर्यन्तां वन्दे गुरुपरम्पराम्॥ श्री रामसजीवन पोष्टाचार्य-मुक्तिविमर्श।

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

१. नारायण, २. श्रीलक्ष्मी, ३. विश्वक्सेन, ४. शठकोप, ५. बोपदेव, ६. नाथमुनि, ७. पुण्डरीकाक्ष, ८. राम मिश्र, ९. यामुनाचार्य, १०. पूर्णाचार्य, ११. महाचार्य, १२. रामानुजाचार्य ।

आचार्य रामानुज ने "वेदार्थसंग्रह" में अपने पक्ष को जिन आचार्यों से सेवित किया उनमें यथाक्रम बोधायन से भारुचि आचार्य तक आते हैं ।[१] श्रीभाष्य में वे कहते हैं कि भगवान् बोधायन ने बुद्धसूत्र पर एक विस्तृत वृत्ति लिखी थी, जिसका अनेक पूर्वाचार्यों ने संक्षेप किया है । बोधायन को वृत्तिकार के रूप में जाना जाता है । रामानन्द सम्प्रदाय भी बोधायन को एक विशिष्टद्वैतवादी आचार्य मानता है । अतः रामानुज के अन्तरंग साक्ष्य से तथा रामानन्द के बहिरंग साक्ष्य से सिद्ध है कि— बोधायन एक विशिष्टाद्वैत वेदान्ती थे, जिसकी वृत्ति के आधार पर रामानुज ने श्रीभाष्य लिखा । रामानुजाचार्य के परवर्ती आचार्यों की परंपरा निरंतर गतिमान् है, जिनमें मुख्य रूप से वैंकट नाथ (वेदान्त देशिक), राममिश्र, सुदर्शन सूरि, वात्स्य वरद, अप्पय दीक्षित, मेघनादारि परकालयति, रंगरामानुज, चम्पकेश, निवासचार्य, श्रीशैलनिवास, रामानुजदास, सेनेश्वर, उत्तमूरूरराघवाचार्य, लोकाचार्य, बुच्चिवेंकटाचार्य एवं सूदर्शनसूरि आदि परवर्ती आचार्यों ने इस श्रीसम्प्रदाय या रामानुजसम्प्रदाय का नाम "विशिष्टाद्वैतमत" रखा । इसके भी बाद में दो मत बन गये, एक "टैंकलमत" दूसरा "बड़कलैमत" । प्रथम की "मार्जारकिशोरन्याय" की प्रपत्ति है, तो दूसरे की "कपिकिशोरन्याय" की प्रपत्ति है । अर्थात् प्रपत्ति = शरणागति दोनों मतों में अभिप्रेत है ।

भारतीय दर्शन की चिन्तन परम्परा में विशिष्टाद्वैत वेदान्त

अनादि काल से अनवच्छिन्न रूप से प्रवाहमान भारतीय चिन्तनधारा की चरम परिणति वेदान्त दर्शन में हुई परिलक्षित होती है । वेदान्त दर्शन के तीन प्रस्थान स्वीकार किए जाते हैं—उपनिषद्, गीता एवं ब्रह्मसूत्र । स्थूल रूप में हम इन्हें क्रमशः श्रुतिप्रधान, स्मृतिप्रधान एवं न्यायप्रधान प्रस्थान के रूप में स्वीकार कर सकते हैं । बादरायणकृत वेदान्त-सूत्रों की अनेक आचार्यों ने व्याख्या कर अपने-अपने मतों

---

१. भगवद्-वोधायन, टंक, द्रमिड, गुहदेव, कपर्दि, भारुचि, प्रभृत्यवगीतशिष्ट-परिगृहीतपुरातनवेदवेदान्तव्याख्यानसुव्यक्तार्थश्रुतिनिकरनिदर्शनोऽयं पन्थाः । —वेदार्थसंग्रहः ।

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

का उपस्थापन किया है। इनमें पांच वाद सर्वाधिक प्रचलित हैं—अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, द्वैताद्वैतवाद, द्वैतवाद तथा शुद्धाद्वैतवाद।

विशिष्टाद्वैतवाद जिसके उद्‌भावक आचार्य होने का श्रेय श्री रामानुजाचार्य जी को है, वैष्णव सम्प्रदाय के मुख के रूप में स्वीकार किया जाता है। इस मत का सबसे बड़ा वैशिष्ट्य यह है कि केवलाद्वैत में एक मात्र ब्रह्म को ही सत्य सिद्ध करने के लिए जगत् के मिथ्यात्व की स्थापना करनी पड़ी, विशिष्टाद्वैत के मत में ब्रह्म में तीन पदार्थों—जीव, जगत् और ईश्वर की समष्टि है। इस मत में शास्त्र-वाक्यों से निश्चित कर दिया गया है कि विश्व ब्रह्म में लीन है और ईश्वर विश्व में अन्तर्हित है, अतः बिना मिथ्या कल्पना के ही ब्रह्म का एकत्व प्रमाणित हो जाता है अर्थात् उपनिषदों में भिन्न शब्दों में वर्णित यह जगत्कारण तत्व ईश्वर भिन्नता में न होकर एक ही है और वह एकमात्र तत्व नारायण है। वही इस सम्पूर्ण जगत् का एकमात्र कारण है, जो कि अद्वैत वैदान्तियों के समान निर्गुण निर्विशेष न होकर सगुण है, क्योंकि सगुण ब्रह्म की उपासना से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। ईश्वर की प्रत्यक्ष तथा अनुमान द्वारा सिद्धि नहीं हो सकती है। वह शास्त्रवेद्यक है अर्थात् शास्त्रों द्वारा जाना जाता है। ईश्वर या ब्रह्म ही इस सम्पूर्ण जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है।

भारतीय दर्शन का उद्‌भव ही वास्तविक तत्त्व के सर्वाङ्गपूर्ण उपपादन और क्रमबद्ध विवेचन के लिए हुआ है। भारतीय दर्शन की प्रमुख विशेषता यह है कि चार्वाक को छोड़कर इसके सभी आस्तिक एवं नास्तिक सम्प्रदायों ने निःश्रेयस को मानव जीवन का परम पुरुषार्थ माना है।[१]

जहां तक भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों का प्रश्न है, वैदिक प्रामाण्य को लेकर उसका आस्तिक एवं नास्तिक दो मुख्य धाराओं में विभाजन हुआ। न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त-ये षड्दर्शन आस्तिक माने गये,[२]

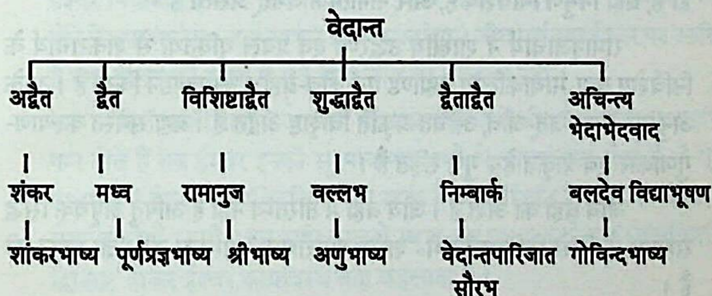
१: (क) परलोकः अस्तीति यस्य मतिरस्ति आस्तिकः तद्विपरीतो नास्तिकः—काशिका, पाणिनि, ४.४.६०।
(ख) नास्तिको वेदनिन्दकः।—मनुस्मृति, २.११

२. अक्षपादः कणादश्च कपिलो जैमिनिस्तथा व्यासः पतञ्जलिश्चैते वैदिकाः सूत्रकारकाः।—सर्वदर्शनसंग्रह, अपो०, पृ० २३

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

चार्वाक, जैन, एवं बौद्ध, वैदिक प्रामाण्य को स्वीकार, योगाचार एवं वैभाषिक चार सम्प्रदायों को मिलाकर बहु नास्तिक दर्शन स्वीकार किये गये ।[१]

परतत्व के सम्यक् अनुशीलन के लिए सभी सम्प्रदायों का अध्ययन उपादेय है । इन सभी दर्शनों में वेदान्त दर्शन सर्वोपरि है । यह प्रस्थानत्रयी—उपनिषद्, भगवद्गीता और ब्रह्मसूत्र पर आधारित है । वस्तुत: वेदान्त में वेदों का अन्तिम लक्ष्य निहित है, क्योंकि वेद के मूलभूत सिद्धान्तों का उपनिषदों ने दार्शनिक शैली में, भगवद्गीता ने नैतिक शैली में और ब्रह्मसूत्र ने तार्किक शैली में प्रतिपादन किया है । ब्रह्मसूत्रों में उपनिषदों के विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों को समन्वित एवं सुनियोजित रूप में प्रस्तुत किया गया है । पांच सौ पचपन सूत्रों में निबद्ध ब्रह्मसूत्र इतना सारगर्भित है कि इसके आधार पर विभिन्न वेदान्ताचार्यों ने अपने सिद्धान्तों का निर्माण एवं पोषण किया है ।[२] अधोलिखित तालिका में प्रदर्शित वेदान्त के सम्प्रदायों ने ब्रह्मसूत्र की सर्वोच्च प्रामाणिकता स्वीकार की है, और उन पर भाष्यों का प्रणयन कर अपने सिद्धान्तों को सुदृढ़ किया है ।[३]



१. ते च माध्यमिकयोगाचारसौत्रान्तिकवैभाषिकसंज्ञाभि: प्रसिद्धा बौद्धा: । —सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० ३१

२. (क) ब्रह्म सूच्यते यथायथं निरूप्यते येन तत् ब्रह्मसूत्रम् ।—श्रीभाष्य, भूमिका, पृ० २
(ख) हिन्दी विश्वकोष, खण्ड-२२, पृ १८४
(ग) रामानुजं श्री: स्वीचक्रे मध्वाचार्यश्चतुर्मुख: ।
श्रीविष्णुस्वामिनं रुद्रो निम्बादित्यं चतुस्सन: —प्र० रत्न० पृ २ ।

३. पदच्छेद: पदार्थोक्ति: विग्रहो वाक्ययोजना ।
आक्षेपस्य समाधानं व्याख्यानं पञ्च पक्षजम् ॥—श्रीभाष्य, १.१.१, पृ० २ ।

CC0. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

इस प्रकार वेदान्त के इन विभिन्न सम्प्रदायों के विकास का आधार जीव और ब्रह्म का आपसी सम्बन्ध है ।

ब्रह्मसूत्र

अनन्त वेद राशि का ऋगादि चार वेदों में विभाजन करने वाले महर्षि व्यास ने ईसापूर्व तीसरी शताब्दी में सारगर्भित एवं विद्वत्तापूर्ण सूत्रशैली में वेदान्त दर्शन की व्यवस्थित रूपरेखा प्रस्तुत की, जिसे ब्रह्मसूत्र कहा जाता है ।[१] आचार्य रामानुज के अनुसार उपनिषद्‌रूप क्षीर समुद्र का मन्थन करके, व्यास जी ने ब्रह्मसूत्र या शारीरीक-मीमांसा दर्शन रूप वाक्यसुधा प्रकट की । [२] गूढ़ार्थ संक्षिप्त शैली में विरचित होने के कारण प्रयास किया कि उनका सिद्धान्त ही ब्रह्मसूत्रकार का इष्ट सिद्धान्त है । इन भाष्यकारों में से शंकराचार्य एवं श्रीभाष्यकार रामानुजाचार्य विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं ।

आचार्य शंकर के अनुसार जीव और ब्रह्म में वस्तुतः अद्वैत है । जीव ब्रह्म ही है, ब्रह्म निर्गुण निर्विशेष है, और नानात्मक जगत् असत्य है ।[३]

रामानुजाचार्य ने शास्त्रीय उद्धरणों एवं प्रबल युक्तियों से शंकराचार्य के निर्विशेष ब्रह्म, मायाकल्पित ब्रह्माण्ड एवं जीव-ब्रह्मैक का खण्डन किया है । उनके अनुसार ब्रह्म, जित्-जीव, अचित-प्रकृति विशिष्ट अद्वैत है । ब्रह्म समस्त कल्याण-गुणाकार एवं प्राकृत हेय गुण रहित है ।

जीव ब्रह्म का अंश है । जीव ब्रह्म में तारतम्य नहीं है अपितु अपृथक् सिद्ध सम्बन्ध है, जिसे विशिष्टाद्वैत में "शरीर-शरीरीभाव" सम्बन्ध की संज्ञा प्रदान की है ।

---

१. (अ) विव्यास वेदान् यस्मात्स तस्माद् व्यास इति स्मृतः ।
—महाभारत, आदि पर्व, ६३.८८
(ब) अल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद्विश्वतो मुखम्,
अस्तोभनमवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः०००श्रीभाष्य, भूमिका, पृ० २

२. पराशर्यवचः सुधामुपनिषद्दुग्धाब्धिमध्योद्धृताम् ॥
—श्रीभाष्य, भूमिका, पृ० २

३. ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः ।—ब्रह्मज्ञानवलीमाला, पृ० १

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

विशिष्टाद्वैत

विशिष्टाद्वैत विश्वविख्यात दर्शन है । यह विद्वत् समाज एवं जनसाधारण दोनों को प्रिय है, क्योंकि इसमें धर्म और तर्क दोनों सम्मिलित हैं । अपने सर्वोत्कृष्ट शास्त्र सम्मत सिद्धान्तों के कारण यह दर्शन वेदान्त में मूर्धन्य स्थान अधिकृत किये हुये हैं । विशिष्टाद्वैत के बिना वेदान्त अधूरा है । विशिष्टाद्वैत का निर्वचन दो प्रकार से किया जाता है—

१. **विशिष्टस्य अद्वैतम्**—इसके अनुसार चित् 'जीव' अचित् 'प्रकृति' से विशिष्ट ब्रह्म का एकत्व या अभप्रेत है ।

२. **विशिष्टयोः अद्वैतम्**—सूक्ष्मचिद्विशिष्टं स्थूलचिद्विशिष्टं च इति विशिष्टयोः अद्वैतम् ।

प्रथम परिभाषा के अनुसार ईश्वर चित् एवं अचित् इन दो तत्वों से विशिष्ट होता है, परन्तु ईश्वर प्रधान है तथा चित् एवं अचित् दोनों ईश्वर के आधीन हैं ।[१] ईश्वर नियामक है और जीव नियाम्य । ईश्वर शेषी है और जीव एवं जगत् गौण होने के कारण शेष । ब्रह्म आधार है, जीव आधेय । जीव पूर्णतया ईश्वर पर आश्रित है तथा ईश्वर की शरण में गये बिना जीव का कल्याण नहीं ।

द्वितीय परिभाषा के अनुसार जब प्रलयावस्था में जीव एवं जगत् सूक्ष्मरूपापन्न होते हैं तब ईश्वर इनकी सूक्ष्मावस्था अपने में धारणा कर लेता है ।[२] ऐसी अवस्था में ईश्वर सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट रहता है । इस स्थिति में इसे 'कारणावस्थ-ब्रह्म' कहते हैं । इसी प्रकार सृष्टि काल में स्थूल रूप धारण करने पर 'स्थूलचिदचिद्विशिष्ट' होकर ईश्वर कार्यावस्थ ब्रह्म कहलाता है ।

---

१. अशेषचिदचित्प्रकारं ब्रह्मैक्मेवतत्वम् । तत्र प्रकारप्रकारिणोः प्रकाराणां च मिथो अत्यन्तभेदे अपि विशिष्टैक्यादि विवक्षयैकत्वव्यपदेशः ।
—न्यायसिद्धाञ्जनम्, वाराणसी, पृ० २

२. (अ) अतः स्थूलसूक्ष्मचिदचित्प्रकारं ह्यैवकारय, कारणं चेति ब्रह्मोपादानं जगत् । सूक्ष्मचिद्वस्तुशरीरकं ब्रह्मैवकारणमिति ।०००श्रीभाष्य, श्रुतिप्रकाशिका, पृ० २१३
(ब) उत्तरत्र कार्यावस्थः कारणावस्थश्च परमात्मा एत एवेति भाष्येण इदमेव वाक्यं कार्यकारणद्रव्यैक्यप्रतिपादनपरमित्यादि व्याख्यातम् ॥
—न्यायसिद्धाञ्जनम्, सुदर्शन टीका, पृ० १३१७

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

विशिष्टाद्वैत नामकरण

आचार्य रामानुज द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त का 'विशिष्टाद्वैत' अभिधान न तो रामानुज ने स्वयं प्रयुक्त किया और न ही उनके परवर्ती वरदनारायण भट्टारक ११५० ई० एवं वेदान्तदेशिक १२६८ ई० ने प्रयोग किया। विशिष्टाद्वैत शब्द का प्रथम प्रयोग सुदर्शनसूरि १३०० ई० ने श्रीभाष्य की व्याख्या 'श्रुतिप्रकाशिका' और 'वेदार्थसंग्रह' की व्याख्या 'तात्पर्यदीपिका' में किया। सुदर्शन सूरि द्वारा प्रयुक्त विशिष्टाद्वैत शब्द से उसके परवर्ती विद्वान् अत्यन्त प्रभावित हुए, परन्तु फिर भी उनके परवर्ती मेघनादारि ने अपने दर्शन को 'विशिष्टाद्वैत' नाम प्रदान नहीं किया। सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भट्टाचार्य, श्रीनिवास और बुच्चि वेंकटाचार्य की कृतियों में रामानुज सिद्धान्त का 'विशिष्टाद्वैत' नामकरण संस्कार किया गया।[१]

विशिष्टाद्वैत के प्रमुख सिद्धान्त

विशिष्टाद्वैत ने चित्, अचित् एवं ईश्वर इन तीन तत्वों को स्वीकार किया है। चित् का अभिप्राय भोक्ताजीव से, अचित् का भोग्य जगत् से तथा ईश्वर का अभिप्राय अन्तर्यामी परमेश्वर से है। चित् और अचित् ईश्वर का शरीर है और ईश्वर चित् अचित् की आत्मा है। ईश्वर एवं चित्-अचित् में 'शरीर-शरीरीभाव-सम्बन्ध' हैं जो उपनिषदों पर आधारित है। चित् और अचित् की सत्ता स्वीकार करने पर भी ईश्वर के 'एकत्व' एवं 'अद्रव्यत्व' की हानि नहीं होती क्योंकि भेद की दृष्टि से तत्व तीन हैं परन्तु अभेद के वितार से तत्व एक ही है, वह है चितचिद्विशिष्ट ब्रह्म।[२]

---

१. (क) श्रीमन्नारायण एव चिदचिद्विशिष्टाद्वैततत्वम्।
—यतीन्द्रमततदीपिका, आनन्दाश्रम, पृ० २।
(ख) तदेवं विशिष्टाद्वैतमिति पदस्यैषोऽर्थः पर्यवसन्नः विशिष्टस्य अशेषचिदचिद्विशिष्टस्य ब्रह्मणः अद्वैतमैक्यविशिष्टाद्वैतमिति
—वेदान्तकारिकावली, उपोद्धात, पृ० २।

२. सर्वशरीरतया सर्वप्रकारं ब्रह्मैव अवस्तितमिति, अभेदः समरक्थितः, एकमेव ब्रह्म नानाभूतचितचिद्वस्तुप्रकार नानात्वेन अवस्थितं इति भेदाभेदौ अचिद्वस्तुनश्च चित्वस्तुनश्च, ईश्वरस्य च स्वरूप स्वभावैलक्ष्यणात् अशङ्कराच्च भेदः समर्थिताः ॥—वेदार्थसंग्रह, पृ ९०

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

संक्षेपतः—विशिष्टाद्वैत के मूलभूत सिद्धान्तों को निम्न रूप से प्रस्तुत किया जा सकता है—

१. जगत् का सत्यत्व, सत्योपादाकत्व।

२. सृष्टि के लिए किसी भी प्रकार की उपधि, माया, अविद्या, अध्यास आदि का अस्वीकार।

३. ब्रह्म की पारमैश्वर्यशक्ति के रूप में माया का स्वीकार।

४. जीव का स्वाभाविक रूप से ज्ञान स्वरूपत्व, नित्यत्व, ज्ञातृत्व, भोक्तृत्व, ब्रह्मवश्यत्व एवं संख्या में बहुत्व।

५. ब्रह्म का परमार्थतः सविशेषत्व, निर्दोषत्व, सर्वकल्याणगुणसम्पन्नत्व, परमेश्वरत्व, जगत्कर्तृत्व, सर्वव्यापकत्व, सर्वान्तर्यामित्व, मोक्षप्रदत्व, उपास्यत्व, मुक्तिप्राप्यत्व एवं विशिष्टद्रव्यरूप सम्पन्नत्व।

६.दिव्यलोक में भगवान् के नित्यकैंकर्य की प्राप्ति ही सर्वोत्तम मोक्ष।

७. भक्ति या शरणागति ही उस मोक्ष का सर्वोत्तम उपाय।

८. कर्म, ज्ञान और योग आदि भक्ति के अंग।

इस तरह स्पष्ट है कि विशिष्टाद्वैत प्राचीनतम सिद्धान्त है। इसके सभी प्रमेय पूर्ण वैदिक हैं, जिनका महर्षि कण्व, बौधायन, आपस्तम्ब, व्यास, पराशर, मनु, वाल्मीकि, याज्ञवल्क्य, एवं गौतम ने विविध विधि-वर्णन किया है।

आचार्य शंकर से पूर्व विशिष्टाद्वैत के सिद्धान्त भली-भान्ति प्रचलित एवं प्रसारित थे, इस तथ्य की पुष्टि इस बात से भी होती है कि शंकराचार्य ने जीव को सत्य स्वीकार करने वाले सिद्धान्त का उल्लेख अपने ब्रह्मसूत्र के प्रथम अध्याय के तीसरे पाद के पन्द्रवें सूत्र के भाष्य में किया है। उन्होंने 'अस्मदीय' शब्द द्वारा विशिष्टाद्वैत वेदान्त को आदरपूर्वक स्मरण किया है।[१]

---

१. त्रययन्तैः एककण्ठैः तदानुगणमनुव्यासमुन्योक्तिभिश्च।
श्रीमन्नारायणो न पतिरखिलतनुः मुक्तिदः मुक्तभोग्यः॥—रहस्यसारः, परदेवता, परमार्थ्याधिकार, पृ० १

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

पाञ्चरात्र संहिताओं का विशिष्टाद्वैत चिन्तन पर प्रभाव

विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के पूर्ववर्ती प्रमुख आचार्य यामुन मुनि ने पाञ्चरात्र के प्रामाण्य की स्थापना करने का प्रयास करते हुए 'आगमप्रामाण्य' नामक ग्रन्थ लिखकर पाञ्चरात्र के महात्म्य की सिद्धि की है। श्रीरामानुजाचार्य ने भी श्रीभाष्य के पाञ्चरात्राधिकरण की व्याख्या खण्डनपरक न करके मण्डनपरक ही की है। आचार्य शंकर के द्वारा भी पाञ्चरात्रआगम में उद्भावित दोषों का परिहार ही किया गया है। इसे महाभारत में महोपनिषद् कहा गया है।[१] इसके माहात्म्यातिशय का हेतु है इसका नारायण भगवान् के मुखारविंद से निर्गमन।[२] वेंकटनाथ ने भी 'पाञ्चरात्ररक्षा' नामक ग्रन्थ लिखकर इस शास्त्र की महिमा को विस्तृत किया है।

इस प्रकार पाञ्चरात्र आगम विशिष्टाद्वैत के व्यूहवाद एवं शरणागति के सिद्धान्त को पल्लवित एवं पुष्पित करता है।

विशिष्टाद्वैत में प्रमुख प्रतिपाद्य विषय

विशिष्टाद्वैत में पदार्थों का विभाजन प्रमाण एवं प्रमेय के रूप में किया गया है—

प्रमाण :

'प्र' उपसर्ग पूर्वक 'मा' धातु से भाव और करण अर्थ में 'ल्युट्' प्रत्यय करने से प्रमाण शब्द की व्युत्पत्ति होती है। किसी के अनुसार भाव अर्थ में ल्युट् प्रत्यय करने से प्रमाण की व्युत्पत्ति होती है अर्थात् प्रमा ही प्रमाण है। अन्य के मत में करण अर्थ में ल्युट् प्रत्यय करने पर प्रमाण की व्युत्पत्ति होती है अर्थात् प्रमा के करण को प्रमाण कहते हैं। वेदान्तकारिकावलीकार प्रमाण में ल्युट् प्रत्यय को ही स्वीकार करके प्रमा के करण को प्रमाण मानते हैं। इस प्रकार प्रमाण वह है जिसके द्वारा यथार्थ ज्ञान प्रमा प्राप्त हो और इसे प्रमाकरण कहते हैं।

भारतीय दर्शन में प्रमाणों की संख्या के विषय में अनेक प्रकार के मत पाये जाते हैं। विभिन्न मतों में 'एक' से लेकर 'आठ' तक प्रमाण के भेद स्वीकार किये गये हैं। परन्तु विशिष्टाद्वैत वेदान्त में त्रिविध प्रमाण ही माने गये हैं—

---

१. इदं महोपनिषदं सर्ववेदसमन्वितम्।—महाभारत, शान्तिपर्व
२. पञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य वक्ता नारायण: स्वयम्।—यतीन्द्रमतदीपिका, पृ० ३०

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

१. प्रत्यक्ष

२. अनुमान

३. शब्द

अत: त्रिविध प्रमाण के अन्तर्गत ही अन्य प्रमाणों के अन्तर्भाव को सिद्ध किया गया है—

१. प्रत्यक्ष :

भारतीय दर्शन में इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा गया है । प्रसंगानुसार विभिन्न व्युत्पत्तियों के अनुसार प्रत्यक्ष तीन प्रकार से जाना गया है— जैसे—

१. जो इन्द्रियजन्य ज्ञानात्मक प्रयोजन को प्राप्त करने के लिए इन्द्रिय विषय के प्रति गमन करती है, वह प्रत्यक्ष इन्द्रियजन्य प्रमा के अर्थ में है ।

२. द्वितीय व्युत्पत्ति के अनुसार प्रत्यक्ष शब्द प्रत्यक्ष प्रमा के करण का बोध कराता है । क्योंकि विषयसन्निकृष्ट इन्द्रिय को ही मुख्यतया प्रत्यक्ष प्रमाण माना जाता है ।

३. तृतीय व्युत्पत्ति के अनुसार 'प्रत्यक्ष' शब्द प्रत्यक्ष प्रमा के विषयभूत अर्थ का बोधक होता है । क्योंकि जिस विषय के प्रति इन्द्रिय का गमन होता है, अर्थात् जो अर्थ इन्द्रिय सन्निकृष्ट होता है । वही प्रत्यक्ष-प्रमा का विषय होता है ।[१]

प्रशस्तपादाचार्य ने कहा है कि चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे प्रत्यक्ष कहते हैं ।[२] महर्षि गौतम के अनुसार इन्द्रिय जन्य ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान है । किन्तु सभी इन्द्रिय जन्य ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं होते । जो संशय, विपर्यय या भ्रमज्ञान से रहित हो, जिसे शब्दों द्वारा प्रकट न किया जा सके, ऐसा निश्चयात्मक ज्ञान कहलाता है ।[३]

---

१. प्रति विषयं प्रति गतं अक्षं इन्द्रियं यस्मै प्रयोजनाय तत् प्रत्यक्षम् । प्रतिगतं विषयं प्रति गतम् अर्थात् विषय-सन्निकृष्टं अक्षं प्रत्यक्षम् । प्रति यं विषयं प्रति गतं अक्षं स प्रत्यक्षः ।—तर्कभाषा, पृ० ६३-६४ ।

२. अक्षमक्षं प्रतीत्योत्पद्यते इति प्रत्यक्षम् ।—प्रशस्तपादभाष्य, पृ १५३ ।

३. इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यव्यभिचारी व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ॥—न्यायसूत्र, १.१.४

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तवादी बुच्चिवेंकटाचार्य 'प्रत्यक्षप्रमाण' का लक्षण करते हुये कहते हैं कि साक्षात्कार करने वाली प्रमा के हेतु को प्रत्यक्ष कहते हैं। साक्षात्कार करने वाली प्रमा वह है, जो इन्द्रियजन्य होती है। इस साक्षात्कार प्रमा के दो भेद होते हैं—सविकल्पक और निर्विकल्पक।[१]

गुण-संस्थानादि—रहित-विशिष्ट प्रथम पिण्डग्रहण निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है। गुण-संस्थानादि-विशिष्ट द्वितीय पिण्डज्ञान को सविकल्पक कहते हैं। दोनों प्रत्यक्ष विशिष्ट-विषयक ही होते हैं। द्रव्य का प्रत्यक्ष संयोग सम्बन्ध से होता है। द्रव्यगत रूपादि का प्रत्यक्ष संयुक्ताश्रयण सम्बन्ध से होता है। यहां समवाय को सम्बन्ध नहीं मानते हैं। पुन: प्रत्यक्ष के दो भेद हैं—अर्वाचीन और अनर्वाचीन।

अर्वाचीन के दो भेद हैं—इन्द्रिय सापेक्ष और इन्द्रिय निरपेक्ष।

इन्द्रिय अनपेक्ष के दो भेद होते हैं—स्वयंसिद्ध और दिव्य प्रत्यक्ष भगवत्कृपाजन्य।

अनर्वाचीन प्रत्यक्ष भी इन्द्रिय निरपेक्ष होता है वह नित्य मुक्त और ईश्वर का प्रत्यक्ष होता है।

अनुमान

दो शब्दों—अनु और मान के योग से अनुमान शब्द निष्पन्न होता है। प्रथम का अर्थ है—पश्चात् तथा द्वितीय का अर्थ है ज्ञान। अनुमान शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से की जा सकती है। प्रथम में 'अनु' पूर्वक 'मा' धातु के आगे 'ल्युट्' प्रत्यय भाव अर्थ में किया गया है और द्वितीय में करण अर्थ में। इस प्रकार भाव अर्थ में अनुमान शब्द अनुमिति प्रमा तथा करण अर्थ में अनुमान प्रमाण का वाचक होता है। अनुमिति में प्रयुक्त अनु पद प्रतियोगी-साकाङ्क्ष है। जो मिति अर्थात् ज्ञान के पूर्व किसी अन्य ज्ञान की अपेक्षां रखता है। पूर्व ज्ञान से यहां व्याप्तियुक्त पक्षधर्मता रूप एक विशिष्ट ज्ञान अभिप्रेत है। अत: इस विशिष्टज्ञान के पश्चात् होने वाला ज्ञान अनुमान कहलाता है।[२]

---

१. साक्षात्कारप्रमाहेतुः प्रत्यक्षं मानमीरितम्। सविकल्पो निर्विकल्पः साक्षात्कारो द्विधा भवेत्॥—वेदान्तकारिकावली, पृ० १०।

२. अनुमिति अनुमानम्। अनुमीयते अनेन इति अनुमानम्।—भारतीय दर्शन में अनुमान, भूमिका, पृ० १

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

इस प्रकार अनुमान शब्द 'अनु'-उपसर्ग पूर्वक 'मा' धातु से निष्पन्न होता है ।

तात्पर्य यह है कि अनु और मान शब्दों के योग से अनुमान शब्द बना है । अनु शब्द पश्चात् अर्थ का बोधक है और पश्चात् शब्द नियमतः प्रतियोगी-साकाङ्क्ष है, इस पश्चात् अर्थ में, लिंग और लिंगी का सम्बन्ध और लिंग ज्ञान का परिचायक है । लिंग और लिंगी का यह सम्बन्ध ही व्याप्ति या अविनाभाव आदि शब्दों से व्यक्त किया जाता है । अतः 'लिंग-लिंगी-सम्बन्ध-ज्ञान' से हेतु में रहने वाली साध्य की व्याप्ति का ज्ञान अभिप्रेत है । 'लिंग-ज्ञान' से पक्षधर्मता ज्ञान गृहीत किया जाता है । इस दृष्टिकोण से अनु शब्द से अर्थात् व्याप्ति ज्ञान और पक्षधर्मता ज्ञान इन दोनों के पश्चात् जो मान अर्थात् ज्ञान उत्पन्न होता है उसे अनुमान कहते हैं । साधारणतः दो ज्ञात सत्यों के द्वारा किसी अज्ञात सत्य का ज्ञान करना ही 'अनुमान-प्रमाण' है ।

विशिष्टाद्वैत में भी अनुमान के लक्षण को इस प्रकार से व्यक्त किया गया है कि अनुमिति रूप ज्ञान में विद्यमान करण अनुमान कहलाता है । अर्थात् लिंग के परामर्श को अनुमान कहते हैं, क्योंकि लिंग का प्रत्यक्ष होने के बाद चूंकि अनुमिति की प्रवृत्ति होती है, अतः अनुमान कहलाता है ।[१]

शब्द-प्रमाण

महर्षि गौतम के अनुसार आप्त पुरुष के वचन को 'शब्द-प्रमाण' कहा जाता है[२] यथार्थवक्ता को आप्त पुरुष कहते हैं । लेकिन यह एक सामान्य बात है कि केवल वचन या वाक्य, पदार्थों के ज्ञान के लिए स्वयं में पर्याप्त नहीं होता और न वाक्य के शब्दों का प्रत्यक्ष ही पदार्थों का ज्ञान कराता है, तदुपरान्त उनके अर्थ को समझता है । इस प्रकार जब शाब्द ज्ञान की प्रामाणिकता आप्तवाक्य पर आधृत

---

१. अनुमितिरूपे ज्ञाने करणमनुमानमित्यर्थः ।
—वेदान्तकारिकावली, टीका, पृ० १७ ।

२. (अ) आप्तोपदेशः शब्दः ।—न्यायसूत्र, १.१.७
(ब) आप्तवाक्यं शब्दः ।—तर्कसंग्रह, पृ० १०१ ।

CC0. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

होती है, तो वह वाक्य के अर्थ को समझना ही 'शाब्दज्ञान' है । उस शाब्द ज्ञान का करण शब्द है । तस्मात् शब्द ही 'शब्द-प्रमाण' है ।[१]

यदि 'प्र' उपसर्ग पूर्वक 'मा' धातु से भाव अर्थ में 'ल्युट्' प्रत्यय करने से प्रमाण शब्द सिद्ध करें तो प्रमा रूप अथवा ज्ञान रूप ही प्रमाण होता है । इस प्रमाण शब्द के व्युत्पत्यर्थ के अनुसार शाब्दबोद-प्रमाण अर्थात्-फल रूप ज्ञान ही होता है । तथा इस फलरूप ज्ञान अर्थात् 'शाब्दबोध' का करण अर्थात् साधन परमाणु रूप शब्दों के अर्थ ज्ञान से सहमत प्रत्येक शब्द का ज्ञान, जो कि श्रोता में ज्ञान को उत्पन्न करता है—होगा ।[२]

इस प्रकार से यह स्पष्ट है कि शब्द प्रमाण में द्विपदी क्रम है । सर्वप्रथम शब्द प्रमाण में आप्त पुरुष के वाक्य में शब्दों का प्रत्यक्ष होता है । जब वे शब्द किसी के द्वारा बोले जाते हैं तो उनका 'श्रोत्रज-प्रत्यक्ष' होता है, और जब वे शब्द लिखे जाते हैं तो उनका 'चाक्षुषप्रत्यक्ष' होता है । तदुपरान्त उन प्रत्यक्षीभूत शब्दों के अर्थ का बोध होता है । इस शाब्दबोध से ही पदार्थों का ज्ञान होता है । यह शाब्द बोध ही 'शब्द-प्रमाण' का करण है । जोकि वाक्य-सम्बन्धी अर्थों के स्मरण रूप व्यापार से पदार्थों का ज्ञान कराता है ।[३]

अतः 'शाब्द-प्रमाण' प्रत्यक्ष से भिन्न है, क्योंकि प्रत्यक्ष इन्द्रियार्थ संसर्ग से होता है ।

इसी प्रकार शब्द 'अनुमान' से भी भिन्न है, क्योंकिं अनुमान में व्याप्ति-ज्ञान रखता है । जबकि 'शब्द-प्रमाण' वाक्यार्थ ज्ञान से सिद्ध होता है ।

अतः विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के अनुसार अनाप्त के द्वारा अनुक्त वाक्य 'शब्द-प्रमाण' कहलाता है ।[४] अतः यही कारण है कि आत्मख्याति-योगाचार, असत्ख्याति-माध्यमिक, अख्याति-मीमांसक, अन्यथाख्याति-नैयायिक, अनिर्वचनीयख्याति-अद्वैती, इन सबका मत निर्मूल तथा निस्सार है ।

---

१. (क) आप्तस्तु यथार्थवक्ता ।—तर्कसंग्रह, काशी संस्करण, पृ० १०१ ।
(ख) वाक्यार्थज्ञानं शाब्दज्ञानं तत्करणं शब्दः—वही, पृ० १०२ ।

२. शाब्दबोध, परिषद्-पत्रिका, पृ० १६ ।

३. पदज्ञानं तु करणं द्वारं तत्र पदार्थधीः ।—न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, पृ० २९१

४. अनाप्तानुक्तवाक्यं यत्तच्छाव्दकरण स्मृतम् ।—वेदान्तकारिकावली, पृ० २२

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

अनाप्त-अनुक्तशब्दजन्य अर्थ-विज्ञान को ही शब्द कहते हैं। वेद अपौरुषेय होने से अनाप्त-अनुक्त हैं, वेद सनातन हैं। प्रत्येक कल्प में समान पद-क्रम से उसकी आवृत्ति होती है। वेद को प्रमाणित करने के लिए किसी प्रमाणान्तर की आवश्यकता नहीं है। वे ब्रह्म, जीव धर्मादि को प्रमाणित करते हुये अपने को भी प्रमाणित करते हैं। वेदों के प्रत्येक अक्षर और शब्द प्रमाण हैं। उनका ही अन्तिम भाग वेदान्त कहलाता है। जिसे उपनिषद् कहते हैं। उन्हीं वेदों तथा उपनिषदों द्वारा ब्रह्म की सत्ता प्रमाणित होती है, दूसरे किसी प्रमाण से ब्रह्म की सत्ता प्रमाणित नहीं होती।

अतः ब्रह्मसूत्र के भाष्यकारों ने लिखा है कि ब्रह्म सत्ता में एक मात्र शास्त्र ही प्रमाण है।[१] इस प्रकार 'शब्द-प्रमाण' की सत्ता सर्वोपरि है।

प्रमेय

प्रमा अर्थात् ज्ञान के विषयों को प्रमेय कहते हैं, किन्तु दार्शनिक प्रकरण के अनुसार जिन प्रमा के विषयों के ज्ञान से निःश्रेयस या मोक्ष की प्राप्ति में सहायता प्राप्त होती है, उन प्रकृष्ट मेय-ज्ञेय को प्रमेय कहते हैं। सम्पूर्ण चिदचिद्रूपी विशेषणों से विशिष्ट ब्रह्म एक ही तत्व है। उसमें प्रकार-प्रकारी विशेषण-विशेष्य तथा प्रकारों विशेषणों में पारस्परिक अत्यन्त भेद रहने पर भी विशिष्ट एकत्व विवक्षित है। इसलिए विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में विशिष्टाद्वैत मात्र 'प्रमेय' है। प्रमेय् तत्व के भेद के सम्बन्ध में अनेक मत उपलब्ध होते हैं। किन्तु विशिष्टाद्वैत में प्रमेय तत्व को द्रव्य एवं अद्रव्य दो भेदों से स्वीकृत किया। इस सिद्धान्त में पदार्थों का तीसरा प्रकार असंभावित है। इसलिए सभी पदार्थ इन्हीं दो के अन्तर्गत आ जाते हैं। इस द्रव्य-अद्रव्य की सिद्धि प्रत्यक्ष प्रमाणों से भी स्वयमेव सिद्ध है। इसका किसी भी प्रकार से अपलाप नहीं किया जा सकता।

अतएव विशिष्टाद्वैत में 'प्रमेय' के दो भेद द्रव्य और अद्रव्य बताये गये हैं। जिसमें द्रव्य भी दो भागों में विभक्त है—जड़ और अजड़।

जो स्वयं प्रकाशमान् न हो, उसे जड़ कहते हैं। तथा जो स्वयं प्रकाशमान् पदार्थ हों उन्हें अजड़ कहते हैं। इस प्रकार जड़ पदार्थ के भी दो भेद हैं—प्रकृति और काल। मिश्रसत्वाश्रय को प्रकृति कहते हैं। क्षण, लय, भूत, भविष्य, वर्तमान

---

१. शास्त्रयोनित्वात्—ब्रह्मसूत्र, १.१.३

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

आदि व्यवहार के हेतु को काल कहते हैं। अजड़ पदार्थ के दो भेद हैं—पराक् और प्रत्यक्। दूसरे के लिए प्रकाशमान् को पराक् कहते हैं। पराक् के दो भेद हैं—नित्यविभूति और धर्मभूतज्ञान।

प्रकृति व्यतिरिक्त शुद्धसत्वाश्रय को नित्यविभूति कहते हैं। प्रकाशक को बुद्धि या ज्ञान कहते हैं।

प्रत्यक् के दो भेद हैं।

प्रत्यक् के दो भेद हैं—जीव और ईश्वर। परतन्त्र चेतन को जीव कहते हैं। ईश्वर सर्वतन्त्र स्वतंत्र है। जीव के तीन भेद हैं—बद्ध, मुक्त और नित्य। बद्ध जीव के दो भेद—बुभुक्षु और मुमुक्षु। बुभुक्षु जीव के दो भेद हैं—अर्थकामनिष्ठ और धर्मनिष्ठ। धर्मनिष्ठ भी दो प्रकार का है—देवतान्तरनिष्ठ और भगवन्निष्ठ।

मुमुक्षु के दो भेद हैं—कैवल्यपर, मोक्षपर। मोक्षनिष्ठ जीव के भी दो भेद हैं—भक्त और प्रपन्न। प्रपन्न भी दो प्रकार के होते हैं—एकान्ती, परमैकान्ती, परमैकान्ती के भी दो भेद हैं—दृप्त और आर्त।

ईश्वर स्वरूप के पांच भेदों को निरूपित किया गया है—पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चावतार। जिसमें पर स्वरूप एक ही है। व्यूह स्वरूप के चार भेद हैं—वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध।

वैभव स्वरूप में—मत्स्य, कूर्म, वामन आदि रूपों को वर्णित किया गया है। अन्तर्यामी स्वरूप प्रति शरीर में रहता है। अर्चावतार स्वरूपों में श्रीरङ्गम्, श्रीवेङ्कटाद्रि स्थलों में अर्चावतार स्वयं व्यक्त स्वरूप हैं।

प्रमेय के दूसरे भेद अद्रव्य के दस भेद हैं—सत्व, रज, तम, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, संयोग और शक्ति।

सैद्धान्तिकपक्ष—

आज वेदान्तों की अनेक शाखाएं प्रचलित हैं उन में "विशिष्टाद्वैतवेदान्त" अन्यतम है। सम्पूर्ण वेदों की तत्वापादकता इस वेदान्त के अनुयायियों को अभिप्रेत है। भगवान् नारायण द्वारा उपदिष्ट श्रीदेवी द्वारा प्रवर्तित दश दिव्यसूरियों द्वारा संरक्षित तथा नाथमुनि, यामुनमुनि प्रभृति आचार्यों द्वारा प्रवर्धित श्रीविशिष्टाद्वैत दर्शन के अनुकूल ब्रह्मसूत्रों का श्रीभाष्य नामक भाष्य का प्रणयन भगवत्पाद आचार्यरामानुज ने किया। श्रीभाष्य के दिव्यालोक द्वारा भगवत्पाद रामानुजाचार्य

CC0. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

ने श्रुतियों, स्मृतियों, तथा सूत्रों में व्याप्त विसंगतियों को पूर्ण रूप से अपनोदन कर श्रुति सरस्वती का पूर्ण सम्मान किया, जिससे प्रसन्न होकर विद्याधिष्ठात्री देवी सरस्वती ने श्रीभाष्य के सम्मान में उसे अपने सिर पर धारण किया।[1] यतिराज श्रीरामानुजाचार्य ने अपनी कृतियों के द्वारा जिस दर्शन का समर्थन किया उसे विशिष्टाद्वैत के नाम से अभिहित किया जाता है। वेदान्तवेद्य परमात्मतत्व एक तथा चेतनाचेतनात्मक सम्पूर्ण जगत् से विशिष्ट है। परमात्मा एवं जगत् में शरीर-शरीरी भाव सम्बन्ध है, वह जड़ चेतन विशिष्ट परमात्मा एक ही है, उससे भिन्न कोई पदार्थ नहीं हैं, इसी अर्थ को विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त बतलाता है। विशिष्टाद्वैत शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार से ही की जाती है।

विशिष्टाद्वैत मूलतः भक्ति पर आधारित दर्शन है। तीन प्रमुख तत्व इसके मूलाधार हैं—

१. चित् तत्व, २. अचित् तत्व, तथा ३. ईश्वर।

१. चित्तत्वः—भोक्ता जीव ही चित् है,चित् तत्व चिन्मय ब्रह्म है।[2] इसलिए उसका ही अवान्तर भेद है। चित् अर्थात् जीव, इन्द्रिय, मन, प्राण, बुद्धि से विलक्षण अजड़, आनन्दरूप, नित्य, अणु, अव्यक्त, अचिन्त्य और ज्ञान का आधार है। जीवात्मा का ज्ञान सर्वव्यापक है, इसीलिए इसके भोग में कोई भी प्रतिबन्धक नहीं होता तथा एक ही काल में एक आत्मा अनेक शरीर ग्रहण कर सकता है। विशिष्टाद्वैत दर्शन के अन्तर्गत जीवात्मा के तीन भेद माने गये हैं- (क)बद्ध जीव, (ख) मुक्त जीव, और (ग) नित्य जीव।

बद्धजीवः—बद्धजीव वे कहलाते हैं, जो सांसारिक जीवन में सर्वत्र लिप्त रहते हैं। चौदह भुवन इनके निवास स्थान हैं। ब्रह्मा से लेकर अतितुच्छ कीट पतंग तक सभी जीव बद्ध जीवों की श्रेणी में आते हैं।

मुक्तजीवः—मुक्तजीव ईश्वर की वन्दना को अपना प्रमुख कर्तव्य समझते हैं। ईश्वर तथा उसके भक्तों तक के प्रति भी यह श्रद्धावान् होते हैं। मुक्तजीव संख्या में अनेक हैं, तथा यह सब लोकों में अपनी इच्छानुसार विचरण करते हैं।

---

१. तच्छुत्वा शारदा हृष्टा श्रीभाष्यं तत्कृतं महत्।
शिरस्यारोप्य सम्भाव्य ततो बाहू प्रसार्य च॥

२. वामनशिवराम आप्टे—संस्कृत हिन्दी कोष पृ.-३८०

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

नित्यजीवः—नित्यजीव वे हैं, जो सांसारिक बन्धनों से सर्वथा मुक्त हैं। ये जीव ईश्वर प्रतिपादित कर्मों का सदा पालन करते हैं। यह भगवान् के विरुद्ध आचरण कभी नहीं करते। ईश्वर की नित्य इच्छा से ही इनके भिन्न-भिन्न अधिकार अनादि काल से नियत हैं। भगवान् के अवतार के समान इनके भी अवतार स्वेच्छा से ही होते हैं।[१]

२. अचित् तत्वः—अचित् शब्द का तात्पर्य है—जड़पदार्थ अर्थात् भोग्य-जगत्। अचित् तत्व जगत् के रूप में फैला हुआ है, और ब्रह्म का स्वगत भेद होने के कारण ब्रह्म का ही रूप है। वह सत्य है मायाकृत मिथ्या पदार्थ नहीं है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में ब्रह्म के तीनों रूपों चित् अचित् एवं ईश्वर का वर्णन उपलब्ध होता है।[२]

३. ईश्वरः—विशिष्टाद्वैत दर्शन में ईश्वर को सर्वज्ञ एवं सर्वसमर्थ माना गया है। ईश्वर (विष्णु) ही जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एवं विनाश के मूल कारण हैं।[३] अनन्त ज्ञानवान्, आनन्द का एक मात्र स्वरूप, ज्ञान शक्ति आदि अच्छे गुणों से विभूषित, समस्त जगत् की सृष्टि, स्थिति एवं संहार करने वाला तथा लक्ष्मी, भू एवं लीला का नायक "ईश्वर" है।[४] ईश्वर चित् अचित् दोनों तत्वों से युक्त है। यही एक मात्र सत्ता है, इसे छोड़ कर कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है। ईश्वर-भोक्ता जीव एवं भोग्य जड़ इन दोनों में अन्तर्यामी रूप में अवस्थित रहता है। विशिष्टाद्वैत दर्शन में जीव एवं जगत् दोनों ही पदार्थ ईश्वर की भांति ही नित्य हैं। अतः सृष्टि और प्रलय से तात्पर्य क्रमशः इनके स्थूल रूप एवं सूक्ष्म रूप धारण करने से है। "प्रलयकाल" में जीव जगत् के सूक्ष्मरूपापन्न होने पर चिदचिद् विशिष्ट ईश्वर "कारणावस्थब्रह्म" कहलाता है। "सृष्टिकाल" में स्थूल रूप धारण करने पर स्थूल चिद्चिद् विशिष्ट ईश्वर "कार्यावस्थब्रह्म" कहलाता है। ब्रह्म समस्त हेय गुणों से

---

१. डा.उमेश मिश्र-भारतीय दर्शन-पृ.४११

२. एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किंचित्।
भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वप्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्मेतत्॥
श्वेताश्वतरोपनिषद् : १-१२

३. सर्गस्थितिविनाशानां जगतोस्य जगन्मयः।
मूलभूतो नमस्तस्मै विष्णवे परमात्मने॥ विष्णुपुराणः १.२.४

४. डा.उमेश मिश्र-भारतीय दर्शन-पृ.:४१३

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

शून्य है। इसीलिए वह निर्गुण कहलाता है। सृष्टि दशा में ये दोनों चिद्चिद् स्थूलरूप धारण कर लेते हैं। अतः इस अवस्था में ब्रह्म स्थूल चिदचिद् से विशिष्ट रहता है। यहां केवल ब्रह्म का अद्वैत नहीं होता है—प्रत्युत चित् अचित् से विशिष्ट ब्रह्म का ही अद्वैत होता है। "विशिष्टाद्वैत" नाम का यही रहस्य है।

भारतीय दर्शन के क्षेत्र में श्रुति मूलक अद्वैत की प्रतिष्ठा करके शंकराचार्य ने जो चमत्कारी पराक्रम किया, उस पर सभी विद्वत् समाज मुग्ध है।[१] दर्शन के क्षेत्र में शंकराचार्य जैसा उदीयमान प्रतिभा एवं उदात्त व्यक्तित्व वाला अन्य आचार्य अथवा विद्वान् दृष्टिगचर नहीं होता।[२] किन्तु आचार्य शंकर का मत सर्वथा त्रुटि रहित हो ऐसा नहीं है। डॉ. सर्वापल्ली राधाकृष्णन् ने उसकी आलोचना करते हुए कहा—

"Śaṅkara's view seems to be a finished example of learned error. The speculation of philosopher which do not comfort us in our stress and suffering, are mere intellectual diversion and not serious thinking. The Absolute of Śaṇkara rigid motionless, and totally talking in initiative or influence, can not forth our worship."[३]

क्रिया के पश्चात् प्रतिक्रिया नैसर्गिक है। शंकराचार्य के शुष्क ज्ञान पर आधारित अद्वैत दर्शन के प्रति प्रतिक्रिया स्वरूप विशिष्टाद्वैत दर्शन का प्रादुर्भाव हुआ। आचार्य रामानुज ने मोक्ष प्राप्ति के साधन के रूप में ज्ञान की अपेक्षा भक्ति को प्राथमिकता दी। इन्होंने ईश्वर के साकार, सगुण और सविशेष भाव की स्थापना की। रामानुजाचार्य धार्मिक अन्तःप्रेरणा पर विश्वास रखते थे। इन्होंने ऐसे धार्मिक विचारों का प्रतिपादन किया, जो जन सामान्य के लिए सुगमता से ग्राह्य हो। आस्तिक होने के कारण रामानुका विश्वास है, कि मोक्ष ज्ञान और कर्म के द्वारा नहीं अपितु भक्ति और ईश्वर के प्रसाद "अनुकम्पा" के द्वारा ही सम्भव है। आचार्य रामानुज ने ब्रह्म को चित् अचित् से विशिष्ट माना है। रामानुज के अनुसार जीव

१. हरिदत्त शास्त्री-भारतीय दर्शन साहित्य का इतिहास-पृ:५
२. डॉ. राममूर्ति शर्मा—शंकराचार्य उनके मायावाद तथा अन्य सिद्धान्तों का आलोचनात्मक अध्ययन। पृ.५
३. Dr. S. Radhakrishnan: Indian Philosophy, Vol. 2. p.659

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

और जगत् ईश्वर की देह या शरीर है ।[१] आचार्य शंकर ने पारमार्थिक रूप से ईश्वर के सगुण रूप को मिथ्या माना है । परन्तु आचार्य रामानुज प्रकृति और जीव को ईश्वर के अंश के रूप में स्वीकार करते हैं ।[२] सृष्टि और प्रलय ब्रह्म के चिदचिदंश का परिणाम है । यह चिदचिदंश नित्य है, अत: सृष्टि भी नित्य है । यथार्थत: जीव और जगत् दोनों ही ब्रह्मांश होने से नित्य हैं । सृष्टि और प्रलय से तात्पर्य इनके स्थूल एवं सूक्ष्म रूप धारण करने से हैं ।

मायाः—आचार्य रामानुज माया को केवल सृष्टि रचना की अदभुत शक्ति के रूप में स्वीकार करते हैं । वस्तुत: वह मायावाद तथा जगत् के मिथ्यात्व का विरोध करते हैं ।[३]

मोक्षः—रामानुजाचार्य ने जीवन्मुक्ति को स्वीकार नहीं किया है, अपितु विदेह मुक्ति को ही मान्यता प्रदान की है । यावज्जीवन मोक्ष उनके विचार से असम्भव है । आचार्य रामानुज के मतानुसार वर्णाश्रमोचित कर्म करने से चित्त की शुद्धि होती है । चित्तशुद्धि से भक्ति और भक्ति से मोक्ष प्राप्त होता है ।[४] अत: इससे स्पष्ट है कि आचार्य रामानुज ने जिस दार्शनिक सिद्धान्त की स्थापना की वह सर्वग्राह्य एवं सर्वलोकोपयोगी था । डॉ. राधाकृष्णन् ने रामानुज के दर्शन अर्थात् विशिष्टाद्वैत दर्शन की प्रशंसा करते हुए कहा है—

"The philosophic spirit was strong in Rāmānuj, so too was his religious need. He tries his best reconcile the demands of religious feelings with the claims of logical thinking."[५]

न केवल भारतीय आलोचकों ने अपितु पाश्चात्य विचारकों ने भी विशिष्टाद्वैत दर्शन की मुक्त-कंठ से प्रशंसा की है—

---

१. डॉ. एस.एन.दास गुप्ता—भारतीय दर्शन का इतिहास-खण्ड-३ पृ. २७५

२. (अ) तत्वत्रय: पृ.५ (ब) श्रीभाष्य : २-३-४५

३. तत्वत्रय-पृ. :४१

४. डॉ.उमेश मिश्र-भारतीय दर्शन-पृ० :४१५

५. Dr. S.Radhakrishnan : Indian Philosophy, vol. 2, p.720.

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

"It assumed no doubt the greatest importance as a religious sect, as teaching people how to live rather than how to think,"[१]

सृष्टि एवं सृष्टा सम्बन्धित गुत्थियों को सुलझाना ही दर्शन का लक्ष्य है। इस दृष्टि से आचार्य रामानुज को अभूतपूर्व सफलता मिली है। उनका दार्शनिक सिद्धान्त दार्शनिकों के लिए जितना महत्वपूर्ण एवं उपयोगी है, उतना ही वह एक सामान्य सामाजिक एवं सरल हृदय भक्ति के लिए ही प्रेरणादायक है। अतः विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त की उपयोगिता एवं महत्व स्पष्ट है।

रामानुज दर्शन की सबसे बड़ी विशेषता ब्रह्म की पुरुषवादी धारणा को ब्रह्मवादी दर्शन से संयुक्त करना है। ईश्वरवाद और ब्रह्मवाद को एक में मिलाने का प्रयत्न बहुत पुराना है और स्वयं वैदिक साहित्य में भी दिखाई देता है। गीता में भी इस संश्लेषण का प्रयास किया गया है, परन्तु धार्मिक एवं दार्शनिक पक्षों का जैसा सुन्दर एवं व्यवस्थित समन्वय आचार्य रामानुज ने किया है, वह सर्वश्रेष्ठ है। आचार्य रामानुज का समस्त दर्शन आचार्य शंकर के ब्रह्मवाद के प्रत्यक्ष प्रतिवाद के रूप में उत्पन्न हुआ है। शंकर और रामानुज दोनों ही वेदान्त के प्रमुख आचार्य हैं, दोनों अद्वैत के समर्थक हैं, अर्थात दोनों के अनुसार केवल एक ही सर्वव्याप्त सत्ता है। परन्तु दोनों में भेद यह है कि शंकर का अद्वैत केवल अद्वैत है, और रामानुज का अद्वैत विशिष्टाद्वैत है। दोनों यह मानते हैं कि, जो कुछ है वह ब्रह्म है,ब्रह्म व्यतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। परन्तु रामानुज ब्रह्म की सत्ता में सब कुछ वैविध्य स्वीकार करते हैं, जबकि शंकर सबका निषेध करते हैं। शंकर ब्रह्म में वैविध्य को स्वीकार नहीं करते, पर रामानुज वैविध्य को ब्रह्म का सार मानतेहैं। शंकर के अनुसार वैविध्य मायाजनित होने के कारण मिथ्या है, परन्तु आचार्य रामानुज के अनुसार यह ब्रह्म की आत्माभिव्यक्ति हैं और उतना ही सत्य है जितना ब्रह्म।

इस प्रकार विशिष्टाद्वैत वेदान्त-सिद्धान्त का इतिहास प्रचुर मात्रा में तपस्वी संतों एवं तार्किक विद्वान् आचार्यों के द्वारा पुष्ट सिद्धान्त समाज के प्रत्येक वर्ग को सहज सरल ढंग से संसार, परिवार, समाज को समझते हुए निर्गुण-सगुण परमात्मा का तादात्म्य कर लेने की शिक्षा प्रदान करता है।

---

१. F. Maxmuller : Six system of Indian Philosophy,p. 187

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

उक्त विशिष्टाद्वैत-परम्परा में ही लब्धप्रतिष्ठ आचार्य बुच्चि वेंकटाचार्य हैं, इन्होंने रामानुजवेदान्त का अनुसरण करते हुए वेदान्तकारिकावली नामक एक प्रकरण ग्रन्थ की रचना की है। विशिष्टाद्वैत की प्रमाण-प्रमेय-मीमांसा के बोधहेतु यह कारिकावली अति सुगम ग्रन्थ है। आगे के पृष्ठों में वेदान्तकारिकावली-विमर्श प्रस्तुत है, जो कि उपसंहार सहित चार अध्यायों में विभक्त है।

CC0. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

प्रथम अध्याय

१.०० प्रमाण का लक्षण

१.०१ प्रमाण और अप्रमाण की व्यवस्था

'यह प्रमाण है'और 'यह अप्रमाण' है इस प्रकार की प्रमाण और अप्रमाण व्यवस्था सिद्ध होने पर ही प्रमाण की परीक्षा की जा सकती है। अत: प्रमाणसम्बन्धी विचार को प्रस्तुत करने से पूर्व प्रमाण और अप्रमाण की व्यवस्था को सिद्ध करना उपयुक्त है।

जैसा कि शून्यवादी बौद्धों या माध्यमिकों के मत में प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण तथा प्रमिति-यह तत्वचतुष्टय परकल्पित अवस्तु है।[१] फलत: उनके अनुसार प्रमाण और अप्रमाण व्यवस्था भी नहीं है। यह माध्यमिकों का विचार युक्ति-युक्त नहीं है, क्योंकि प्रमाण और अप्रमाण व्यवस्था लौकिक परीक्षक-व्यवहार से ही सिद्ध है, और फिर यदि प्रमाण और अप्रमाण व्यवस्था को स्वीकार नहीं किया जाता है तो साधक के अभाव में 'सब कुछ शून्य है'—इस प्रकार के माध्यमिकों के विचार की परीक्षा भी नहीं हो सकेगी। प्रमाण और अप्रमाण-व्यवस्था के अभाव में सभी का प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप समस्त व्यवहार स्वीकार्य होगा जिससे कोई भी सही निर्णय प्राप्त नहीं हो सकेगा। अत: प्रमाण और अप्रमाण-व्यवस्था को स्वीकार करना परमावश्यक है।

प्रश्न यह है कि यदि लौकिक व्यवहार से ही प्रमाण और अप्रमाण की सिद्धि होती है तो प्रमाण के परीक्षण की क्या आवश्यकता है? उत्तर यह है कि जब सामान्य रूप से प्रमाण और अप्रमाण की व्यवस्था सिद्ध होगी तो स्वत:प्रमाणत्व

---

१. भारतीय-दर्शन : बलदेव उपाध्याय, पृ.२०५

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

क्या है ? और अप्रमाणत्व क्या है ?-यह भी समझना बहुत आवश्यक होगा और सामान्य रूप से जब वस्तु को सत्ता के ज्ञान का अभाव रहेगा तो अपने-अपने मत के अनुसार विशेष जिज्ञासा के आधीन प्रमाण की परीक्षा संभव नहीं होगी । अतः सामान्यतः वस्तु की सत्ता के ज्ञान को भी स्वीकार करना चाहिए । वस्तु की सत्ता का ज्ञान होगा तो प्रमाण और अप्रमाण-व्यवस्था भीं सिद्ध होगी ।[१]

प्रमाण और अप्रमाण-व्यवस्था को स्वीकार न करने वालों के लिये चार विकल्प उपस्थित होते हैं । जैसे कि (१) सभी प्रतिज्ञाएं प्रमाण हैं, (२) सभी प्रतिज्ञाएं अप्रमाण हैं, (३) सभी प्रतिज्ञाएं आपस में विरोधी हैं या (४) सभी प्रतिज्ञाएं संदिग्ध हैं । यदि सभी प्रतिज्ञाएं प्रमाण हैं तो ऐसी प्रतिज्ञाओं का निषेध भी प्रमाण है, जो हो जाता है । यदि सभी प्रतिज्ञाएं अप्रमाण हैं तो यह प्रतिज्ञा भी अप्रमाण ठहराती है और इस प्रकार अप्रमाणता प्रतिपादित नहीं की जा सकती । तीसरे विकल्प के विषय में यह कहा जा सकता है कि अप्रमाण प्रतिज्ञा कभी भी प्रमाण प्रतिज्ञा का बाध नहीं कर सकती । यदि एक प्रमाण प्रतिज्ञा दूसरी प्रमाण प्रतिज्ञा को निरुद्ध करती है तो इसे विरोध नहीं माना जा सकता । एक प्रमाण प्रतिज्ञा को उसकी प्रमाणता प्रकट करने के लिए दूसरी प्रतिज्ञा पर आश्रित नहीं होना पड़ता । क्योंकि प्रमाण-प्रतिज्ञा स्वयं प्रमाणित है । अन्त में यदि आज सभी के बारे में शंका करते हैं तो कम से कम आप इसमें तो शंका नहीं करते कि आप शंका करते हैं । इस प्रकार आपका यह कहना असंगतिपूर्ण है कि आप सभी के बारे में शंका करते हैं । इस प्रकार यह स्वीकार करना पड़ता है कि दो प्रकार की प्रतिज्ञाएं होती हैं- प्रमाण और अप्रमाण ।[२]

१.०२ प्रमाण शब्द का व्युत्पत्यर्थ

'प्र' उपसर्ग पूर्वक 'मा' धातु से भाव और करण अर्थ में ल्युट् प्रत्यय करने से प्रमाण शब्द की व्युत्पत्ति होती है ।[३] किसी के अनुसार भाव अर्थ में ल्युट् प्रत्यय करने से प्रमाण की व्युत्पत्ति होती है—प्रमैव प्रमाणम् अर्थात् प्रमा ही प्रमाण है ।[४]

---

१. न्यायपरिशुद्धि, न्यायसारटीका, पृ. ३१-३२.

२. (क) न्याय परिशुद्धि, पृ. ३९-४१ (ख) न्यायसार टीका, पृ. ३१-४१

३. प्रमाणशब्दस्य भावे करणे च व्युत्पत्तिः। —न्यायपरिशुद्धि, पृ. ८

४. वही

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

अन्य के मत में करण अर्थ में ल्युट् प्रत्यय करने पर प्रमाण की व्युत्पत्ति होती है-'प्रमाकरणं प्रमाणम्' अर्थात् प्रमा के करण को प्रमाण कहते हैं ।[१] करण अर्थ में ल्युट् प्रत्यय को स्वीकार करके वेदान्तकारिकावलीकार 'बुच्चि वेंकटाचार्य' प्रमाण का लक्षण करते हैं—'प्रमायाः करणं प्रमाणम्' अर्थात् प्रमा के करण को प्रमाण कहते हैं ।[२]

इस प्रकार प्रमाण वह है जिसके द्वारा यथार्थ ज्ञान (प्रमा) प्राप्त हो, जैसे-प्रत्यक्ष के यथार्थ ज्ञान के लिए दोष रहित नेत्र, ध्यान-संगत मानसिक व्यापार और विषय की योग्य-विकटता इत्यादि के संयुक्त स्वरूप से प्रमाण की प्राप्ति होती है । किन्तु शब्द प्रमाण में ज्ञान की प्रमाणता बोलने वाले की दोष रहितता से होती है । शास्त्र प्रमाण है क्योंकि वे ईश्वर द्वारा कहे गये हैं, जिन्हें वस्तु का यथार्थ ज्ञान है । वेदों की प्रमाणता व्यक्ति के ज्ञान के साधनों की दोष रहितता पर आश्रित नहीं है । तात्पर्य यह हुआ कि करण प्रामाण्य के साथ आश्रय प्रमाण्य भी उपयुक्त है । दोनों में भेद स्पष्ट है । कहीं करण प्रामाण की अपेक्षा होती है । तो कहीं आश्रय प्रामाण्य की । जो भी हो प्रमाण का अन्तिम निश्चय तो यथार्थ ज्ञान द्वारा ही है ।

जिससे यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो सकता है, वही प्रमाण है । वेद प्रमाण हैं, क्योंकि वे ईश्वर द्वारा कहे गये हैं, जिसे यथार्थ ज्ञान है । इस प्रकार ज्ञान की यथार्थता ही अन्त में प्रमाण की सिद्धि निश्चित करती है ।[३]

वात्स्य श्रीनिवास, जो कि रामानुज सम्प्रदाय के वेंकटनाथ के उत्तराधिकारी हैं, प्रमाण की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि प्रमाण यथार्थ ज्ञान की तात्कालिक नित्य और ऐकान्तिक कारण की पूर्ववर्ती स्थिति होने के फलस्वरूप समग्र कारणों में सबसे विशिष्ट सिद्धिकर उपकरण है । अतः उदाहरण के लिए प्रत्यक्ष में चक्षु इन्द्रिय के प्रमाण द्वारा यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति संभव है । यद्यपि इस क्रिया में अवान्तर

१. प्रमाणशब्दस्य भावे करणे च व्युत्पत्तिः । —न्यायपरिशुद्धि, पृ.८
२. वेदान्तकारिकाली, का.१५
३. करणप्रामाण्यस्याश्रयप्रामाण्यस्य च ज्ञानप्रामाण्याधीनज्ञानत्वान्तदुभयप्रामाण्य सिद्ध्यर्थमपि ज्ञानप्रामाण्यमेव विचारणीयम् । —न्यायपरिशुद्धि-न्यायसार टीका. पृ. ३५

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

व्यापार के माध्यम से आँख का वस्तु से सम्पर्क होता है ।[१] न्यायदर्शन के अनुसार प्रमा की उत्पादक सामग्री में से किसी एक को भी दूसरे से अधिक महत्वपूर्ण या अतिशय नहीं कहा जा सकता । कारण साधन की अतिशयता का अर्थ उनकी कार्योत्पादक शक्ति है और वह शक्ति उत्पादक सामग्री के सभी तत्वों में संयुक्त होकर ही है । इसीलिए प्रमा उत्पन्न करने वाली सम्पूर्ण कारण उत्पादक सामग्री को ही प्रमाण स्वीकार करना होगा ।

१.०३ प्रमा के लक्षण

रामानुज वेदान्त में द्रव्य के दो भेद हैं—जड़ और अजड़ ।[२] ज्ञान (प्रमा) अजड़ है । यह जड़ इसलिए नहीं है, क्योंकि ज्ञान स्वयंप्रकाश है और दूसरे पदार्थों को भी प्रकाशित करता है । ज्ञान चेतना भी नहीं, है, क्योंकि वह स्वयं को नहीं जान सकता । ज्ञान स्वयं को तथा दूसरे पदार्थों को दिखा सकता है, लेकिन स्वयं को जान नहीं सकता । जबकि आत्मा स्वयं को जान सकती है और दिखा सकती है । लेकिन वह अन्य पदार्थों को दिखा नहीं सकती । ज्ञान सर्वदा आत्मा (ज्ञाता) से सम्बन्धित है और एक विशिष्ट धर्म वाला है । आत्मा ज्ञानका आधार है । जिस प्रकार प्रकाश दीपक का तत्त्वभूत है और दीपक में रहने वाला धर्म (गुण) भी है । उसी प्रकार ज्ञान द्रव्य (धर्मी) और गुण (धर्म) दोनों हैं । ज्ञान आत्मतत्व, भूतद्रव्य है, और आत्मा का धर्म भी है । जब ज्ञान आत्मा में रहता है, तो उसे 'धर्मभूतज्ञान' कहते हैं । ईश्वर और मुक्त आत्माओं के सम्बन्ध में धर्मभूतज्ञान शुद्ध होता है । लेकिन वह आत्माओं के सम्बन्ध में वह ज्ञान अविद्या से आवृत होता है । जब यह कहा जाता है कि ज्ञान उत्पन्न या नष्ट होता है, तो उसका अर्थ यह है कि अविद्या और कर्म के कारण धर्मभूतज्ञान का विस्तार और संकोच होता है ।[३]

---

१. प्रमा-करणं प्रमाणमिति उक्तमाचार्यैः सिद्धान्तसारं प्रमोत्पादकसामग्री-मध्ये यद् अतिशयेन प्रमागुणकम् तत् तस्याः कारणम् । अतिशयस्य व्यापारः यदि यद् जनयित्वैव यद् जनयेत् तत्तत्र तस्यावान्तरव्यापारः । साक्षात्कारिप्रभाव । इन्द्रियं कारणं इन्द्रियार्थं व्यापारः । —रामानुजसिद्धान्तसंग्रह, गवर्नमेंट ओरियण्टल, हस्तलिपि

२. (क) जडाजडत्वभिन्नेऽत्र द्रव्ये तद् द्विविधं जडम् । -वेदान्तकारिकावली, का. ३
(ख) न्यायपरिशुद्धि, पृ.५

३. (क) वेदान्तकारिकावली, टीका. पृ. ३

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

शाङ्कर वेदान्त के अनुसार ज्ञान मात्र चैतन्य है और वह ब्रह्म से अभिन्न है ।[१] लेकिन रामानुज वेदान्त की भिन्नता यह है कि ज्ञान धर्मी तो है, साथ ही वह आत्मा का धर्म भी है । रामानुज वेदान्त के अनुसार धर्मी ज्ञान सर्वदा स्वयंप्रकाश ज्ञान, ईश्वरीय चेतना के गुणों को ग्रहण करता हुआ स्वयंप्रकाश चेतना है । धर्मभूतज्ञान संसार के प्रभाव में असत्य का स्थान ग्रहण करता है और संसार उसी ज्ञान के लिए होता है । इस प्रकार अप्रमा से प्रमा, असत्य से सत्य, अयथार्थ से यथार्थ, अनुचित से उचित की भिन्नता की आवश्यकता है । इस अभिन्नता का अर्थ प्रमा से अप्रमा को और अप्रमा से प्रमा को उन्नत या अवनत करना नहीं है । प्रमा जीवन का एक तथ्य है । उसी प्रकार अप्रमा भी जीव का एक तथ्य है । समस्त ज्ञान सद्वस्तुसंसार में रहता हुआ सद्वस्तु का ही है । देशकाल से युक्त संसार ही सद्संसार है, जो कि उससे सम्बन्धित ज्ञान से ही हमको अभिव्यक्त होता है । यही विषय-विषयी का परस्पर सम्बन्ध है । रामानुज वेदान्त का सत्ख्यातिवाद प्रमा और अप्रमा के भेद को स्वीकार नहीं करता । सर्वत्र का ज्ञान, प्रमा है, जो शुद्ध और सरल है । यह प्रमा आत्मज्ञान है । यद्यपि यह मानसिक और भौतिक पक्षों से सीमित है और संसार के प्रभाव के कारण नैतिक आवश्यकताओं से सुनिश्चित है । इस प्रकार नियत ज्ञान जीवात्मा का ज्ञान है, जो प्रमा और अप्रमा भेद से दो भेदों में विभक्त है ।[२]

वेंकटनाथ न्यायपरिशुद्धि में अपने समकालीन अनेक विद्वानों के द्वारा दिये गये प्रमा के लक्षणों का उल्लेख करते हुए और खण्डन-मण्डन करते हुए अपने अनुसार प्रमा के लक्षण को बताते हैं—

१. किसी रामानुज वेदान्ती के मत में 'सम्यगनुभवः प्रमा'-अर्थात् सम्यगनुभव प्रमा है ।[३] इस लक्षण में अनुभव-पद से स्मृति का निराकरण किया गया है ।

(ख) ए क्रिटीकल स्टडी आफ द फिलासफी आफ रामानुज-अनिमासैन गुप्ता, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९५१, पृ. २५-२६

१. एन् इन्ट्रोडक्सन टू शंकरास् थ्योरी आफ नोलैज– एन.के. देवराज, वाराणसी, १९७२, पृ. ८८-९०

२. वेदान्त देशिक-ए स्टडी, पृ. १७५-१७६

३. न्यायपरिशद्धि, पृ. ३७

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

अर्थात् अनुभव पद इसीलिए रखा है कि स्मृति में प्रमा का लक्षण अतिव्याप्त न हो जाय। सम्यक् पद से अन्यथा- ख्याति का निराकरण किया गया है।

२. किसी के मत में 'यथार्थज्ञानं प्रमा' अर्थात् यथार्थ ज्ञान को 'प्रमा' कहते हैं।[१] यहां यथार्थ पद से अन्यथा- ख्याति का निराकरण किया गया है और ज्ञान पद से इच्छा और कृत्य का निराकरण किया गया है। अर्थात् ज्ञान पद इसलिए रखा गया है कि इच्छा और कृत्य में प्रमा का लक्षण अतिव्याप्त न हो जाय।

३. किसी के अनुसार 'अनुभूतिः प्रमा'-अर्थात् अनुभूति का नाम प्रमा है।[२] यहां अनुभूति से तात्पर्य स्मृति से भिन्न बुद्धि है अर्थात् 'अनुभूति' पद इसलिए प्रयुक्त हुआ है कि स्मृति में प्रमा का लक्षण अतिव्याप्त न हो जाय।

इन तीनों मतों में प्रमा के क्षेत्र से स्मृति को भिन्न स्वीकार किया है।

नैयायिकों के अनुसार 'यथार्थानुभवः प्रमा' अर्थात् यथार्थ अनुभव का नाम 'प्रमा' है।[३] 'यत्र यदस्ति, तत्र तस्यानुभवः प्रमा, तद्वति तत्प्रकारकानुभवो वा।'[४] अर्थात् जहां जो वस्तु है, वहां उसका अनुभव प्रमा कहलाता है या जो वस्तु वास्तव में जिस तरह की हो, उसको उसी तरह की समझना प्रमा कहलाता है। जैसे—चांदी को चांदी और सोने को सोना। नैयायिकों में प्रमा के लक्षण में यथार्थ पद से अयथार्थ ज्ञान रूप संशय, विपर्यय और तर्क ज्ञान का निराकरण किया गया है, और अनुभव पद से स्मृति का निराकरण किया गया है। कुमारिल भट्ट मीमांसक अज्ञात तत्वार्थ विषयक ज्ञान को प्रमा कहते हैं।[५] यहां अज्ञात पद के द्वारा स्मृति और अनुभव रूप अप्रमा ज्ञानों की व्यावृत्ति की गयी है। नैयायिक अनुभव को अप्रमा नहीं मानते, क्योंकि उनके मत में तद्वत विषयक ज्ञान होने के कारण अनुभव प्रमा का परिच्छेद कराता है। तदर्थ ही प्रमाता को उधर प्रवृत्त करता है और प्रमेयार्थ की प्राप्ति कराता

---

१. न्यायपरिशुद्धि, पृ. ३६

२. वही

३. तर्कभाषा;'सम्पादक-आचार्य विश्वेश्वर, वाराणसी, १९५३, पृ. १४

४. तत्वचिन्तामणि, गंगेश उपाध्याय, कलकत्ता, १८७२, पृ. ४००

५. (क) प्रमा चाज्ञातत्त्वार्थज्ञानमेवात्र भिद्यते। -मानमेयोदय, पृ. २
(ख) अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणम्। -तर्कभाषा, पृ. ३१

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

है। अनुभव यह कुछ भी नहीं करता, अर्थात् न तो वह अज्ञात वस्तु का परिच्छेद करता है, न पुरुष को प्रवृत्त करता है और न प्रमेय को प्राप्त कराता है। अतः अनुभव प्रमा के ध्येय से सर्वथा व्यावृत्त है। इस प्रकार नैयायिकों और मीमांसकों के मत में भी स्मृति-को प्रमाक्षेत्र से पृथक् ही स्वीकार किया गया है।

लेकिन बुच्चि वेंकटाचार्य स्मृति को प्रमा से पृथक् नहीं मानते। यदि स्मृति को प्रमा से पृथक् स्वीकार करते हैं तो प्रत्यभिज्ञा, जो कि प्रमा के रूप में स्वीकार की जाती है, भी अप्रमा होगी।[१] वास्तव में स्मृति जीवन के बहुत से क्षेत्रों में सत्य चेतना के रूप में कार्य करती है। जैसे-काव्य-सृष्टि, कला-सृष्टि और साहित्य-सृष्टि। स्मृति ही एक ऐसी है जो कि शब्दों के प्रयोग के लिए उचित अधिकारी समझी जाती है। बिना स्मृति के संसार में आत्मोद्देश्य के लिए की जाने वाली निःस्वार्थ भक्ति भी व्यर्थ होगी। यह नहीं कहा जा सकता कि पूर्व अनुभव और बाद में न होने वाली स्मृति आत्मोद्देश्य को पूरा कर सकती है। क्योंकि अनुभव के लिए दिव्य संकल्प ही अधिकृत है। इस प्रकार विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में प्रमा का वह लक्षण उपयुक्त नहीं हो सकता, जिसमें स्मृति को प्रमा के क्षेत्र से पृथक् स्वीकार किया जाय।

बुच्चि वेंकटाचार्य विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त के सत्ख्यातिवाद को मस्तिष्क में रखते हुए प्रमा का लक्षण करते हैं—

'यथावस्थितवस्त्वेकव्यवहारानुगा प्रमा'।[२]

अर्थात् जो ज्ञान वस्तु का अनुभव कराने योग्य व्यवहार को उत्पन्न करता है, वह 'प्रमा' है। यह लक्षण व्यवहार का अनिवार्य उपाधि के रूप में इस प्रकार समावेश करता है कि यदि किसी दृष्टान्त में व्यवहार वस्तुतः उत्पन्न न भी हो तो भी वह प्रमाण होगा।

वेंकटाचार्य ने अपने प्रमा के लक्षण में 'यथावस्थित' पद को सप्रयोजन प्रयुक्त किया है।

१. वेदान्तकारिकावली-टीका, पृष्ठ १३
२. वेदान्तकारिकावली-कारिका-१५

CC0. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

'यथावस्थित' पद जबकि विशिष्टाद्वैत की वस्तुवादी प्रवृत्तिको सबल करता है, फिर भी विषय के प्रति उतना ही महत्व बताता है, जितना विषयी के प्रति। यह पद मात्र वस्तुवाद में निवेश से विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त की सुरक्षा करता है। यह मन की स्वतन्त्रता, मन के साथ परस्पर सम्बन्ध और चेतना तत्व में पदार्थ को आश्रय नहीं देता है। 'यथावस्थान' का धर्म विषयगत संसार के प्रति उतना ही व्यवहार करता है जितना कि 'धर्मभूतज्ञान' के साथ करता है। 'यथावस्थान' पद ज्ञान के अनुरूप सिद्धान्तों को एक साथ जोड़ता है। वस्तु के प्रति ज्ञान की सुनिश्चितता और वस्तुसम्बन्धी निर्णयों में संगति-'यथावस्थित' पद के अर्थ में सम्मिलित है। यह कहना पर्याप्त नहीं है कि वह प्रमा सत्य है, जो यथार्थ वस्तु के बारे में बताती है। क्योंकि पदार्थ वस्तु ईश्वर ज्ञाता द्वारा इस प्रकार संकल्पित है कि वह हमारी पहुंच से परे है। प्रत्यक्ष, अनुमिति, शब्दबोध और स्मृति इन चारों प्रमाओं में वास्तविक वस्तु वह है, जो अनुभव आत्मा के द्वारा अनुभूत होती है। अनुभव आत्मा का होता है। प्रमा विषय और विषयी के अनुभव का साधन है।

वेंकटाचार्य के मत का वैशिष्ट्य

वेंकटाचार्य का प्रमा का लक्षण स्पष्टतः प्रमा के क्षेत्र को अप्रमा के क्षेत्र से भिन्न करता है। उदाहरण के लिए 'विपर्यय' यद्यपि नैयायिकों के विपर्यय से भिन्न नहीं है। फिर भी वह रामानुज वेदान्त में ज्ञान का एक भिन्न पक्ष है। और प्रमा से भिन्न है। हमारे सभी नैतिक संशय विपर्यय ही हैं और कुछ नहीं। एक वस्तु के स्थान पर दूसरी वस्तु को ग्रहण करना विपर्यय है, जैसे सीपी को चांदी और रस्सी को सांप समझना। विपर्यय में मनोवैज्ञानिक पक्ष सम्मिलित है। अतः प्रमा से भिन्नता स्पष्ट करता है। प्रमा के लक्षण में वेंकटाचार्य द्वारा प्रयुक्त 'यथावस्थित' पद से विपर्यय का निराकरण किया गया है। अर्थात् 'यथावस्थित' पद इसलिए रखा गया है कि विपर्यय में प्रमा का लक्षण अतिव्याप्त न हो जाय।[१]

वेंकटाचार्य का प्रमा का लक्षण प्रमा के क्षेत्र से 'संशय' को भी बहिष्कृत करता है। 'संशय' वह है, जो एक ही पदार्थ में अगृहीत दो विरोधी गुणों में रहता

१. (क) न्यायपरिशुद्धि-चौखम्बा संस्करण, पृ. ५३
(ख) न्यायपरिशुद्धि-मद्रास संस्करण, पृ. ५६-५७

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

है ।[1] स्पष्ट है विरुद्ध गुणों का एक ही पदार्थ में एक साथ रहना संशयात्मक ज्ञान ही है । जैसे-यह ठूंठ है, या आदमी ? यह संशय ही है क्योंकि द्रष्टा मनुष्य का मस्तिष्क एक ही पदार्थ में'स्थाणुत्व' और मनुष्यत्व-दो संभावनाओं के बीच में दोलायमान रहा है । प्रश्न है कि एक ही इन्द्रिय-पदार्थसंयोग एक ही पदार्थ में एक साथ विरुद्ध धर्मो को ग्रहण करने के लिए किस प्रकार सक्षम हो रहा है ? उत्तर है कि एक ही परामर्श, जो कि दोलायमान है, उन दोनों विरोधी धर्मों को एक पदार्थ में ग्रहण कर रहा है । इसलिए एक ही इन्द्रिय-पदार्थसंयोग एक पदार्थ में दो विरुद्ध धर्मों को ग्रहण कर लेता है । दोलायमान स्थिति में हमेशा संशय ही रहता है । इस प्रकार धर्मभूतज्ञान जहां कि सर्वथा विरुद्ध धर्म और दोलायमान स्थिति का अभाव रहता है, संशय से बिलकुल भिन्न है । संशय एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है ।

नैयायिक संशय की उत्पत्ति के लिए पांच कारणों को स्वीकार करते हैं ।[2] जबकि रामानुज वेदान्ती संशयात्मक ज्ञान के लिए दो कारणों को कारण मानते हैं—१. समान, धर्म, और २. विप्रतिपत्ति । जैसे-संध्या के अंधकार मे कोई पथिक मार्ग में खड़े एक ठूंठ को देखकर उसमें ठूंठत्व या मनुष्यत्व का निर्णय नहीं कर पाने पर 'यह ठूंठ है,' या 'मनुष्य'- ऐसा संशय करता है. यह एक ही पदार्थ में समान धर्म वाले विरोधी गुणों को देखकर संशय उत्पन्न होने से 'समान धर्म' संशय है । विप्रतिपत्ति से तात्पर्य है—एक ही आधार में विरुद्ध दो पदार्थों को कहने वाले दो वाक्यों का रहना । जैसे-पर्वत पर दृष्टि डाल कर एक कहता है कि-'पर्वत पर अग्नि है' और उसी पर्वत पर दृष्टि डालकर दूसरा कहता है कि 'पर्वत पर अग्नि नहीं है' । ऐसे विरुद्ध पदार्थों के प्रतिपादक दोनों वाक्यों के श्रवण से उन वाक्यों के ज्ञान से मध्यस्थ को संशय होता है कि 'पर्वत पर अग्नि है या नहीं है ।' यद्यपि इस उदाहरण में प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों प्रमाणों का प्रयोग किया जा सकता है, लेकिन निर्णय में संशय की स्थिति रहने के कारण सत् निर्णय नहीं लिया जा सकता । अतः

---

१. (क) न्यायपरिशुद्धि-मद्रास संस्करण, पृ.५८
(ख) एकस्मिन्धर्मिणि विरुद्धनानाकोटिकं ज्ञानम् । -न्यायकोष, भीमाचार्य झलकीकर, पूना १९२८, पृ.९२७

२. न्यायपरिचय-म.म. फणिभूषण तर्कवागीश, वाराणसी १९६८, पृ.२१७-२१९

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

समानधर्म और विप्रतिपत्ति से उत्पन्न होने वाले संशय से प्रमा का क्षेत्र सर्वथा भिन्न है ।[१]

वेंकटाचार्य प्रमा के लक्षण से अनध्यवसाय की भी व्यावृत्ति करते हैं । जैन दर्शन[२] और न्यायदर्शन[३] में अनध्यवसाय को अप्रमा का पृथक् भेद माना गया है । वेंकटाचार्य के अनुसार प्रमा 'अन्यथाज्ञान' भी नहीं है क्योंकि 'अन्यथा-ज्ञान' में धर्म-ज्ञान विपरीत रहता है ।

निष्कर्षतः विशिष्टद्वैत-प्रमाण-मीमांसा जीवन के यथावस्थित-व्यवहार के अनुकूल ज्ञान को समझती है । वास्तव में आत्मा ही यथार्थ ज्ञाता है और सभी विषयों में यह विद्यमान रहता है । अतः जो वस्तु जैसी होती है, उसको उसी रूप में जानता है । चूंकि सत्य शिव से भिन्न नहीं हो सकता और तत्वमूल से भिन्न नहीं हो सकता, उसी प्रकार प्रमा यथावस्थित व्यवहार[४] के अनुकूल ज्ञान होता है, अन्यथा नहीं ।

१.०४ अप्रमा निरूपण

'अप्रमा' और 'अयथार्थ ज्ञान' ये दोनों पर्याय हैं । जो वस्तु जहां नहीं हो, उसे वहां कल्पित रूप से आरोपित कर लेना 'अप्रमा' है ।[५] जैसे-रज्जु के स्थान में सर्प का भान होना, सीप की जगह चांदी का भान होना, अप्रमा या भ्रम के उदाहरण हैं । क्योंकि वहां जिस वस्तु का बोध होता है, उसका वस्तुतः अभाव है । इस प्रकार 'रज्जु' को 'यह सांप है','सीप' को 'यह चांदी है' ऐसा समझना अयथार्थ ज्ञान है । अयथार्थ ज्ञान ही 'अप्रमा' है ।[६] ज्ञान के कारण-कलाप में जब दोष का प्रवेश होता है, तब ज्ञान अयथार्थ होता है । दोष भले ही इन्द्रियगत हो या विषयगत । इन्द्रियगत

---

१. न्यायपरिशुद्धि-मद्रास संस्करण, पृ. ५८-६४
२. जैनदर्शनसार-जैनसुखदास, जयपुर, १९८२, पृ. ५३
३. प्रशस्तपादभाष्यम्-श्रीधरभट्ट प्रणीतया न्यायकन्दलीकार व्याख्या सम्बलित, वाराणसी, १९७७, पृ. ४३४-४३७
४. यथावस्थितवस्त्वेकव्यथवहारानुगा प्रमा । वेदान्त का. का. सं. १५
५. 'यत्र यन्नास्ति तत्र तस्य ज्ञानमप्रमा' । न्यायपरिशुद्धि, न्यायसारटीका सहित, पृ. ३६
६. न्यापरिशुद्धि-न्यायसार टीका सहित, पृ. ३९

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

दोष से अप्रमा होने का उदाहरण 'शंखपीला' है—यह ज्ञान होगा और सीप को 'यह चांदी है' इस प्रकार चांदी समझना विषयगत दोष से होने वाले भ्रम का उदाहरण है। क्योंकि वहां आंखों में कोई दोष नहीं है, किन्तु 'सीप' में 'चाकचक्य' (चकमकाहट) दोष है, इसी कारण से उक्त ज्ञान 'अप्रमा' ज्ञान होता है।[१]

यहां यह भी ध्यातव्य है कि जैसे जो जैसा नहीं है, उसे वैसा समझना अप्रमा-ज्ञान है, उसी प्रकार जो जैसा है उसे वैसा न समझते हुए उसका ज्ञान करना भी अप्रमा ज्ञान है। अत: 'यह क्या है? यह संशयात्मक ज्ञान भी 'अप्रमा-ज्ञान' कहलाता है।

अन्नंभट्ट के मत में अप्रमा का लक्षण है 'अयथार्थ अनुभव' (मिथ्या ज्ञान) जो वस्तु वास्तव में उस तरह की न हो, पर उसे वैसी ही समझना। जैसे-'सीप' को 'चांदी' और 'रस्सी' को 'सर्प' समझना। इसी अयथार्थानुभव का नाम 'अप्रमा' है।[२]

लोगाक्षिभास्कर के मत में जो अनुभव प्रमाणाभास से उत्पन्न हो और अयथार्थ हो, उसे 'अप्रमा' कहते हैं।[३]

अप्रमा के तीन भेद हैं—१. संशय, २. अन्यथाज्ञान, ३. विपरीतधी।

१.४.०१ संशय

संशय वह अवस्था है जिसमें मन दो पदार्थों के बीच दोलायमान रहता है और किसी एक का निश्चय नहीं कर पाता। जैसे-अन्धकार में कुछ दूरी पर पुरुषाकार कोई पदार्थ दिखायी देता है। 'वह वस्तु क्या है?'-इसका निश्चयात्मक ज्ञान नहीं हो रहा है। हो सकता है वह स्थाणु हो या पुरुष हो। पुरुषत्व और स्थाणुत्व ये दोनों परस्पर विरुद्ध धर्म हैं, जो एक साथ उस धर्म में नहीं रह सकते। या तो 'यह' होगा या 'वह'। किन्तु इन दोनों पदार्थों में कौन सत्य है? कौन असत्य?

---

१. तर्कसंग्रह (सं.)-वोडास एण्ड ऐघले, पृ. ३५४, पूना १९६३
२. 'तदभाववतितत्प्रकारकोऽनुभवोऽयथार्थः (यथा शुक्तौ इदं रजतमिति ज्ञानम्) सैवा प्रमेत्युच्यते।' -तर्कसंग्रह, पृ. ५६, काशी १९३९
३. 'प्रमाणाभासजन्योऽयथार्थानुभवोऽप्रमा।'-तर्ककौमुदी, सं.-सं. डा. आर.वी. जोशी, १९८६, पृ. ९

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

इसका ज्ञान उपलब्ध नहीं है। इस अवस्था में मन एक ही धर्मी में अनेक विरुद्ध धर्मों का आरोपण करता है।

इस कारण न्यायसूत्रकार गौतम संशय का लक्षण करते हैं—'समानानेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः।'[१] इस सूत्र में विमर्श शब्द से संशयके सामान्य लक्षण की ओर इंगित किया गया है। 'वि' शब्द का अर्थ है—'विरोध' और 'मृश्' धातु का अर्थ है-'ज्ञान'। अतएव विमर्श शब्द का अर्थ है-'विरुद्ध पदार्थ का ज्ञान'। फलितार्थ यह है कि किसी एक ही पदार्थ में नाना विरुद्ध पदार्थों का ज्ञान ही 'संशय' है। उपर्युक्त उदाहरण में मन, 'यह पुरुष है अथवा स्थाणु' इन दो विरुद्ध पदार्थों के बीच में दोलायमान हो रहा है, अतः वह संशय ज्ञान है।

भाष्यकार वात्स्यायन के मत में संशय 'अनवधारण ज्ञान' कहा गया है।[२] 'अवधारण' का अर्थ है 'निश्चय'। किन्तु निश्चय का अभाव ही संशय नहीं है। क्योंकि जिस पदार्थ के विषय में किसी प्रकार का ज्ञान नहीं हुआ, उस विषय में निश्चय का अभाव है। किन्तु इस स्थल में संशय नहीं होता।

अतः वात्स्यायन के अनुसार संशय विशेष लक्षित गुणों से भी उत्पन्न हो सकता है।

न्यायसूत्रवृत्तिकार विश्वनाथ के अनुसार किसी एक धर्मी (पदार्थ) में परस्पर विरुद्ध भाव और अभाव दोनों को विशेष ज्ञान किया जाय तो वह ज्ञान 'संशय' कहलाता है।[३] जैसे—'यह धनी है या नहीं।''पुष्प सुगन्धित है या नहीं।'-इत्यादि ज्ञान संशय कहे जा सकते हैं। क्योंकि इस व्यक्ति रूप आश्रय में धन और धन का अभाव दोनों विरुद्ध पदार्थों को विशेषण बना कर और पुष्प स्वरूप आश्रय में सुगन्ध और उसका इन अभाव विरुद्ध दो वस्तुओं को विशेषण बनाकर उक्त ज्ञान किया गया है।

---

१. न्यायसूत्र, १.१.२३

२. अनवधारणज्ञानं संशयः। —न्यायभाष्य १.१.२३, पृ.४६४

३. (क) एकधर्मणि विरोधेन भावाभावप्रकारकं ज्ञानं संशयः।-न्यायसूत्रवृत्ति, १.१.२३, पृ. ३० (ख) एकधर्मिकविरुद्धभावाभावप्रकारकं ज्ञानं संशयः। —न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, पृ.४२४-४२५

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

इसीलिए सम्भवतः तर्कसंग्रहकार अन्नंभट्ट ने संशय को धर्मद्वयप्रकारक न कहकर नाना धर्मप्रकारक कहा है। उनके अनुसार संशय का लक्षण है-'एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धनानाधर्मवैशिष्ट्यावगाहिज्ञानं संशयः। यथा स्थाणुर्वा पुरुषो वेति।'[१]

अर्थात् एक विशेष्य (पदार्थ,धर्मी) में परस्पर विरुद्ध नाना धर्म (विशेषण) का जो सम्बन्ध है, उसका जो ज्ञान है, वही संशय है। जैसे-किसी एक 'विशेष्य' स्थाणु को देखकर उसमें संदेह होता है कि 'यह स्थाणु है अथवा पुरुष हैं।' अन्नंभट्ट के अनुरूप तर्ककौमुदीकार लौगाक्षिभास्कर भी संशय को भाव कोटिक और नाना कोटिक स्वीकार करते हैं।[२]

न्यायपरिशुद्धिकार वेंकटनाथ, गौतम, अन्नंभट्ट और लौगाक्षिभास्कर के समान संशय का लक्षण करते हैं—'सामान्यधर्मिस्फुरणे सति अप्रतिपन्नतद्विरोध-प्रतिपन्नमिथो विरोधानेकविशेषस्फुरणं संशयः।'[३] अर्थात् सामान्य धर्मियों (पदार्थों) का स्फुरण होने पर अर्थात् कुछ सामान्य साधारण लक्षणों वाले धर्मियों (पदार्थों) का अनुभव होने पर, विशिष्ट विरोधी गुणों के अग्रहण से अनेक परस्पर विरुद्ध विकल्पों (कोटियों) का जो स्फुरण (अनुभव) होता है, उसे 'संशय' कहते हैं।

वेंकटनाथ का संशय लक्षण अतिव्याप्त दोष से सर्वथा मुक्त है।

बुच्चि वेंकटाचार्य संशय का लक्षण करते हैं—जहां एक धर्मी में नाना प्रकार की वस्तुओं का ज्ञान हो उसे संशय कहते हैं।[४] जैसे जब केवल ऊंची वस्तु ही दिखायी देती है, वह फिर चाहे पुरुष हो या स्थाणु हो, जो एक दूसरे से सर्वथा भिन्न होने से एक साथ दोनों नहीं हो सकते। इसलिए दोनों विकल्प एक दूसरे से सर्वथा भिन्न नहीं होने चाहियें और वस्तु को देखने से पता नहीं चलना चाहिए कि वहां एक है या दूसरी है, इसी से संशय उत्पन्न होता है।[५]

---

१. तर्कसंग्रह, पृ.१२४-१२५, काशी

२. एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धनानाकोटिकं ज्ञानं संशयः। यथा दूरवर्तिन्युच्चैस्तरेऽयं स्थाणुर्वा पुरुषो वेति॥ तर्ककौमुदी, पृ.९

३. न्यायपरिशुद्धि, न्यायतत्वप्रकाशिकासहित, पृ.५८

४. एकधर्मिनानार्थविषया धीस्तु संशयः। -वेदान्तकारिकावली, का.सं.१६, पृ.९

५. वही।

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

१.४.०२ अन्यथाज्ञान

जब किसी वस्तु के धर्म में विपरीत बुद्धि उत्पन्न हो, तो वहां 'अन्यथाज्ञान' कहा जाता है ।[१] जैसे-'शंख पीला है ।' यहां शंख में जो पीतत्व का ग्रहण किया गया है, वह वस्तु के धर्म में विपरीत बुद्धि का ज्ञान कराता है । क्योंकि शंख का धर्म श्वेतत्व है—अर्थात् शंख सफेद है, इसलिए इस दृष्टांत में अन्यथा ज्ञान रूप अप्रमा है ।[२]

अन्यथाज्ञान और भ्रम ज्ञान में भेद है । अन्यथाज्ञान में 'शंखत्व रूप से शंख ज्ञात रहता है, लेकिन पीतत्व में अन्यथाज्ञान रहता है । भ्रम ज्ञान में शुक्तित्व रूप से शुक्ति नहीं जानी जाती किन्तु वहां रजत की भ्रान्ति होती है । इस प्रकार स्पष्ट है कि अन्यथाज्ञान धर्मी रूपी से तो सही जाना जाता है, धर्म रूप से अन्यथा समझा जाता है । लेकिन भ्रम ज्ञान में धर्मी ही सही नहीं होता ।[३]

१.४.०३ विपरीत-धी

जहां जो वस्तु नहीं हो, वहां उसका निश्चयात्मक ज्ञान एवं जो जैसा नहीं है, उसका वैसा निश्चय करना ही 'विपरीतधी' है । जैसे—'सीप' को यह 'चांदी' है ऐसा निश्चय करना विपरीतधी है ।

योग दर्शन में विपर्यय का लक्षण किया गया है ।-'विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् ।'[४] अर्थात् विपर्यय मिथ्या ज्ञान है, जो उस पदार्थ के रूप में प्रतिष्ठित नहीं है । या अतद्रूप में प्रतिष्ठित मिथ्या ज्ञान को विपर्यय कहते हैं या अ-तद्-रूप प्रतिष्ठतम् जो उसके रूप में प्रतिष्ठित नहीं हैं । अर्थात् जो उस पदार्थ के वास्तविक रूप को प्रकाशित नहीं करता है उसे 'विपर्यय' कहते हैं । जैसे-शुक्ति को पड़ी देखकर कभी-कभी उसके 'चाक्यचिक्य' अर्थात चमक आदि के कारण उसको रजत समझ लिया जाता है । ऐसी दशा में शुक्ति में रजत का ज्ञान होता है, वह अतद्रूप अर्थात् अरजतरूप शुक्ति में प्रतिष्ठित होता है । अतएव अतद्रूप में

---

१. वेदान्तकारिकावली, का. सं. १७

२. वेदान्तकारिकावली-टीका, पृ. १०

३. वही ।

४. पातंजलयोग सूत्र-१८

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

प्रतिष्ठित होने के कारण उसको मिथ्या ज्ञान अथवा 'विपर्यय' कहते हैं। इस प्रकार योग दर्शन में विषय के समान आकार के परिणित चित्तवृत्ति को प्रमाण और विषय के विलक्षण आकार से परिणित चित्तवृत्ति को विपर्यय कहा गया है।

नैयायिकों ने इसी अतद्रूपप्रतिष्ठ अर्थ का बोध न करने के लिए 'तदभाववति तत्प्रकारकं ज्ञानमप्रमा'।[१] कहा है। 'तत्प्रकारकम्' में प्रकार शब्द का अर्थ विशेष होता है। 'तद्भाववति' अर्थात् रजताभाववति शुक्ति का जो रजत्व से रहित शुक्ति आदि में 'तत्प्रकारकम्' अर्थात् 'रजत्व प्रकारकम्' जिसमें रजत्व विशेषण रूप से प्रतीत हो अर्थात् 'इदं रजतम्' यह ज्ञान मिथ्या ज्ञान, विपर्यय अप्रमा या भ्रम कहा जाता है।

वेंकटाचार्य के अनुसार विपरीत बुद्धि तब उत्पन्न होती है, जब किसी वस्तु (धर्मी) में एक या अधिक विरोधी लक्षण निर्दिष्ट किये जाते हैं और उस विरोध को जाना नहीं जाता है। यह सामान्यतः दोषयुक्त प्रत्यक्ष वस्तु से सम्बन्धित मिथ्या-मानसिक-प्रवृत्ति के कारण उत्पन्न होता है। जैसे कि 'सीप को रजत देखना' एक ही वस्तु में-विरोधी गुणों का अनेकान्त प्रतिपादन करना या अद्वैत वेदान्तियों का जगत् को सत् और असत् दोनों कहना है।[२]

१.४.०४ सत्ख्यातिवाद

भारतीय दर्शन के क्षेत्र में भ्रान्तिविषयक सिद्धान्त 'ख्यातिवाद' के नाम से प्रचलित है। 'ख्याति' शब्द का अर्थ है 'ज्ञान'। जहां भ्रम होता है, वहां किस विषय का ज्ञान होता है, इसी सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न ख्यातियां निम्न प्रकार हैं—

१. आत्म ख्याति, २. असत् ख्याति, ३. अनिर्वचनीय ख्याति, ४. अख्यातिवाद, ५. अन्यथाख्याति, और ६. सत्ख्यातिवाद (यथार्थख्याति)।

सत्ख्यातिवाद के प्रवर्तक आचार्य रामानुज आदि विद्वान् हैं। सत्ख्यातिवाद के अनुसार संसार में कुछ भी असत् नहीं है। अतः भ्रम भी मिथ्या न होकर सत् ही होते हैं। इसलिए यह सिद्धान्त 'सत्ख्यातिवाद' कहलाता है।

---

१. तर्कसंग्रह, पृ. २३
२. वेदान्तकारिकावली एवं टीका, का. सं. १७, पृ. १०

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

वेंकटाचार्य का कहना है कि पञ्चीकरण के सिद्धान्त के अनुसार सभी द्रव्य एक-दूसरे में होते हैं। प्रत्येक वस्तु में प्रत्येक का तात्विक अंश वर्तमान होने के कारण ही रज्जु में सर्प और शुक्ति में रजत का ज्ञान सत् ही है। क्योंकि ज्ञान उसी पदार्थ का होता है, जो सत् है जिसका अस्तित्व है। इसलिए शुक्ति में रजत का जो भ्रम ज्ञान होता है, वह असत् नहीं है। भ्रम स्थल में रजत का बाध होने से संसार के सारे रजत का बाध नहीं हो जाता। भ्रम-निवृत्ति के बाद भी चांदी की वह चमक या सांप का वह आकार यह सब बने रहते हैं। भ्रम में सत्यांश होने के कारण वह सत्यांश भ्रम-निरसन के बाद भी टिकता है। किन्तु ज्ञान के व्यावहारिक (प्रायोगिक) पक्ष के लिए विषयगत तत्वों की प्रबलता का ज्ञान होना आवश्यक है। शुक्ति में रजत की आंशिक सत्यता होते हुए भी शुक्ति का रजत रूप से व्यवहार नहीं होता है। इस सिद्धान्त को वेंकटाचार्य 'यथार्थख्याति' कहते हैं।[1]

---

१. वेदान्तकारिकावली, २४

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

द्वितीय-अध्याय

२.०० प्रमाण के भेद : प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द

भारतीय दर्शन में प्रमाणों की संख्या के विषय में अनेक प्रकार के मत पाये जाते हैं । विभिन्न मतों में एक से लेकर आठ तक प्रमाण माने गये हैं । चार्वाक केवल प्रत्यक्ष प्रमाण ही स्वीकार करता है। बौद्ध और वैशेषिक प्रत्यक्ष तथा अनुमान-दो प्रमाण मानते हैं । सांख्य और योग प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द-इन तीन प्रमाणों को स्वीकार करते हैं ।

नैयायिक प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द इन चार प्रमाणों को मानते हैं । प्रभाकर मतानुयायी मीमांसक प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द और अर्थापत्ति-इन पांच प्रमाणों को स्वीकार करते हैं । कुमारिल भट्ट तथा वेदान्ती प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति तथा अभाव (अनुपलब्धि) इन छः प्रमाणों को स्वीकार करते हैं । पौराणिक सम्प्रदायों में आठ प्रमाण स्वीकार किये हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अभाव, ऐतिह्य तथा सम्भव ।[१]

वेंकटाचार्य रामानुज वेदान्त का अनुसरण करते हुए तीन प्रमाणों को ही स्वीकार करते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द ।[२] यद्यपि भारतीय दर्शन में एक से लेकर सात, आठ तक प्रमाण के भेद स्वीकार किये गये हैं । किन्तु रामानुज वेदान्त में प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द-त्रिविध प्रमाण के अन्तर्गत ही अन्य प्रमाणों के अन्तर्भाव को सिद्ध किया गया है । जैसे उपमान और अर्थापत्ति प्रमाणों को अनुमान में अन्तरर्भूत किया है और अनुपलब्धि अथवा अभाव प्रमाण को प्रत्यक्ष में अन्तर्भूत किया है ।[३]

---

१. न्यायपरिशुद्धि, पृ. २९४

२. मानं प्रत्यक्षानुमानशब्दभेदात् त्रिधा भवेत् । —वेदान्तकारकावली, का. सं. २

३. वेदान्तकारिकावलीटीका, पृ. सं. २

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

जैसे-'भूतले घटाभाव:' यहां घटाभाव भूतल रूप ही है । अत: अभाव प्रत्यक्ष के योग्य है । घट के पूर्व का अभाव अर्थात् प्राग्भाव मिट्टी रूप ही है, अत: वह भी प्रत्यक्ष के योग्य है । इसी प्रकार घट के प्रध्वंसाभाव में अभाव कुछ भी नहीं है, अपितु वह कपाल रूप है, जो प्रत्यक्ष के योग्य है ।

अन्योन्याभाव भी कुछ नहीं है, जैसे घट में पट का अभाव, पट में घट का अभाव यह अन्योन्य अभाव नहीं हैं । घट से पट का भेद घटत्व रूप है, क्योंकि घटत्व में पट की आकांक्षा ही नहीं रहती, इसी प्रकार यदि इसके विपरीत सोचें वहां भी अभाव की व्यवस्था न होकर प्रत्यक्ष ही सिद्ध होगा ।

अत: उपर्युक्त चतुर्विध अभाव प्रत्यक्ष में ही अन्तर्भूत हो जाता है ।[1]

२.०१ प्रत्यक्षः

२.१.०१ प्रत्यक्ष का लक्षण

भारतीय दर्शन में इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा गया है । 'प्रत्यक्ष' शब्द की तीन विभिन्न व्युत्पत्तियों के आधार पर 'प्रत्यक्ष' शब्द का प्रयोग-'इन्द्रियजन्य प्रमा', 'उस प्रमा के करण' और 'उस प्रमा के विषयभूत पदार्थ-' इन तीन विभिन्न पदार्थों के बोधन के लिए प्रसंगानुसार किया जाता है ।

जैसे—(१) 'प्रति विषयं प्रति गतम् अक्षम् इन्द्रियं यस्मै प्रयोजनाय तत् प्रत्यक्षम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'प्रत्यक्ष' शब्द इन्द्रियजन्य ज्ञान का बोधक होता है । क्योंकि ज्ञानात्मक प्रयोजन को प्राप्त करने के लिए 'इन्द्रिय' विषय के प्रति गमन करती है ।

(२) 'प्रतिगतं विषयं प्रति गतम् अर्थात् विषयसन्निकृष्टम् अक्षं प्रत्यक्षम्'- इस द्वितीय व्युत्पत्ति के अनुसार 'प्रत्यक्ष' शब्द 'प्रत्यक्ष प्रमा के करण' का बोध कराता है, क्योंकि विषयसन्निकृष्ट इन्द्रिय को ही मुख्यतया प्रत्यक्ष प्रमाण माना जाता है ।

---

१. वेदान्तकारकावली, का. सं. २५-२६

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

(३) 'प्रतिगत विषयं प्रति गतम् अक्षं स प्रत्यक्ष:' इस तृतीय व्युत्पत्ति के अनुसार 'प्रत्यक्ष' शब्द प्रत्यक्ष प्रमा के विषयभूत अर्थ का बोधक होता है, क्योंकि जिस विषय के प्रति इन्द्रिय का गमन होता है, अर्थात् जो 'अर्थ' इन्द्रियसन्निकृष्ट होता है। वही प्रत्यक्ष प्रमा का विषय होता है।[१]

प्रशस्तपादाचार्य ने कहा है कि चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे प्रत्यक्ष कहते हैं।[२]

गौतम का कथन है कि इन्द्रियजन्य ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान है। किन्तु सभी इन्द्रिय-जन्य ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं होते। जो संशय, विपर्यय या भ्रम ज्ञान से रहित हो (अव्यभिचारी), जिसे शब्दों द्वारा प्रकट न किया जा सके (अव्यपदेश्य) ऐसा निश्चयात्मक (व्यवसायात्मक) ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है।[३]

इस लक्षण में गौतम ने 'अव्यभिचारी' पद के प्रयोग से अप्रमा-संशय, विपर्यय और तर्क का निषेध किया है। 'अव्यपदेश्य' पद से निर्विकल्पक ज्ञान की ओर संकेत किया है तथा 'व्यवसायात्मक' पद से सविकल्पक ज्ञान को बताया है। तर्कसंग्रहकार अन्नंभट्ट के अनुसार प्रत्यक्ष ज्ञान का असाधारण कारण प्रत्यक्ष कहलाता है।[४] इस लक्षण में प्रत्यक्ष शब्द प्रमा और प्रमाण दोनों ही अर्थों में प्रयुक्त किया गया है। इस लक्षण से प्रत्यक्ष के अन्तर्गत प्रत्यभिज्ञा और मानस प्रत्यक्ष का समावेश हो जाता है। केशवमिश्र-प्रत्यक्ष का लक्षण करते हैं—'साक्षात्कारिप्रमा-करणं प्रत्यक्षम्'[५] अर्थात् साक्षात्कारिणी प्रमा के करण को 'प्रत्यक्ष' कहते हैं। यहां पर प्रमा के रूप में 'प्रत्यक्ष' शब्द के स्थान पर 'साक्षात्कारि' शब्द का प्रयोग किया गया है। लेकिन उपर्युक्त लक्षणों में प्रत्यक्ष के अन्तर्गत ईश्वर प्रत्यक्ष का समावेश नहीं होता है। क्योंकि इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य ज्ञान नित्य नहीं होता है। जबकि ईश्वर-प्रत्यक्ष-ज्ञान नित्य है। अत: उपर्युक्त लक्षणों में पूर्णता नहीं देखी जाती।

---

१. तर्कभाषा-व्याख्याकार, डा. गजानन शास्त्री 'मुंसलगांवकर', पृ. ६३-६४
२. अक्षमक्षं प्रतीत्योत्पद्यते इति प्रत्यक्षम्। -प्रशतपादभाष्य, पृ. १५३
३. इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्। -न्यायसूत्र १.१.४
४. प्रत्यक्षज्ञानकरणं प्रत्यक्षम्। -तर्कसंग्रह, पृ. ६४, काशी संस्करण
५. तर्कभाषा, संपादक-आचार्य विश्वेश्वर, पृ. ४६

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

इसलिए न्यायबोधनीकार गोवर्धनाचार्य प्रत्यक्ष का लक्षण करते हैं। 'ज्ञानकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्।'[१] अर्थात् प्रत्यक्ष वह ज्ञान है, जिसके लिए दूसरे ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती, और जिसका ज्ञान साक्षात् होता है। अतः यह अपरोक्ष कहलाता है। जबकि अनुमिति में व्याप्तिज्ञान, उपमिति में सादृश्यज्ञान, शाब्दबोध में पदज्ञान करता है। अतः वह तीनों ज्ञान करणक ज्ञान होने से परोक्ष ज्ञान कहलाते हैं। इस लक्षण में यद्यपि ईश्वर-प्रत्यक्ष जैसे ज्ञान का समावेश हो जाता है, लेकिन इस लक्षण में सविल्पक-प्रत्यक्ष का समावेश नहीं होता। अतः यह लक्षण भी अपूर्ण ही है। नव्य नैयायिक गंगेशोपाध्याय का प्रत्यक्ष का लक्षण इन सभी उपर्युक्त लक्षणों से अधिक समीचीन प्रतीत होता है। वे प्रत्यक्ष का लक्षण करते हुए कहते हैं कि वह ज्ञान जिसका ग्रहण साक्षात् रूप में होता है, उसे प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं।[२] अर्थात् प्रत्यक्ष वह ज्ञान है, जिसके लिए दूसरे साधनों की आवश्यता नहीं है। जिसका ज्ञान साक्षात् होता है, उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। प्रत्यक्ष में पूर्व ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती। इस प्रकार तत्वचिंतामणिकार गंगेशोपाध्याय के अनुसार साक्षात्कारि ज्ञान और ज्ञानान्तर को करण न रखने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं।[३] इस लक्षण में नित्य और अनित्य सभी प्रत्यक्षों का समावेश हो जाता है।

रामानुज दर्शन में, न्याय-वैशेषिक के प्रत्यक्ष लक्षण से प्रभावित होकर अनेक लक्षण प्रस्तुत किये गये हैं। सर्वप्रथम विष्णुचित्त अपने 'प्रमेयसंग्रह' नामक ग्रन्थ में प्रत्यक्ष का लक्षण करते हैं—'साक्षादनुभवः प्रत्यक्षम्, साक्षात्त्वं जातिः'[४] अर्थात् साक्षात् अनुभव को प्रत्यक्ष कहते हैं। यहां साक्षात् से तात्पर्य है-ज्ञान में रहने वाला-साक्षात्व अर्थात् जाति। रामानुज वेदान्त में 'चैतन्य' गुण नहीं है, अपितु एक द्रव्य या द्रव्य का गुण है। जब चेतना 'साक्षात्व' से लक्षित होती है, तो वह 'ज्ञान' हो जाती है। इस साक्षात् ज्ञान के करण को प्रत्यक्ष कहते हैं।

---

१. न्यायबोधनी, पृ. ३०, सम्पादक-वोडास और ऐथले।

२. प्रत्यक्षस्य साक्षात्कारित्वम् लक्षणम्। -तत्वचिन्तामणि, पृ. ५५२

३. ज्ञानाकरणं ज्ञानं प्रत्यक्षम्। -तत्वचिन्तामणि, पृ. १

४. अपरोक्षप्रमाध्यक्षमापरोक्ष्यं च संविदः।
व्यवहार्यार्थसंबन्धिज्ञानजत्वविवर्जनम् इति॥ -न्यायपरिशुद्धि, पृ. ७१

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

पराशर भट्टारक गुरु अपने ग्रन्थ 'तत्वरत्नाकर'[१] में प्रत्यक्ष का लक्षण देते हुए कहते हैं कि साक्षात् अनुभव प्रत्यक्ष है । साक्षात् अनुभव से तात्पर्य है 'अपरोक्ष ज्ञान-जिसमें किसी दूसरे ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती । जबकि अनुमान, उपमान, शाब्दबोध-इन तीनों प्रमाणों में क्रमशः व्याप्ति-ज्ञान, सादृश्य-ज्ञान और पद-ज्ञान की आवश्यकता होती है । तात्पर्य यह हुआ कि अपरोक्ष ज्ञान वह है जिसके लिए किसी ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती और परोक्ष ज्ञान वह है जोकि किसी दूसरे ज्ञान पर आश्रित होता है । वरदविष्णु मिश्र अपने ग्रन्थ 'मानयाथात्म्यनिर्णय' में कहते हैं—'अपरोक्षप्रमा प्रत्यक्षं, प्रमाया आपरोक्ष्यं नाम विशदावभासत्वमिति ब्रूमः किमिदं वैशद्यं नाम असाधारणाकारेण वस्त्ववभासकत्वमित्यादि ।[२] अर्थात् अपरोक्षानुभूति या अपरोक्ष-प्रमा 'प्रत्यक्ष' है । अपरोक्ष प्रमा से तात्पर्य है—जिसमें विशदता और सजीवता हो । विशदता और सजीवता से अर्थ है—पदार्थ के विशिष्ट और विलक्षण गुणों का प्रकाशन- जो कि शब्द और अनुमान में दीखने वाले जाति लक्षणों से भिन्न है ।

रामानुज वेदान्तियों के उपर्युक्त तीनों मतों में और स्पष्टता देते हुए बुच्चि वेंकटाचार्य 'प्रत्यक्ष' का लक्षण करते हैं, कि साक्षात्कार करने वाली प्रमा के हेतु को प्रत्यक्ष कहते हैं ।[३] साक्षात्कार करने वाली प्रमा वह है, जो इन्द्रियजन्य होती है । इस साक्षात्कार प्रमा के दो भेद होते हैं- (१) सविकल्पक और (२) निर्विकल्पक ।[४]

२.१.०२ साक्षात्कार के दो भेदः

२.१.२.१ **निर्विकल्पकः**—निर्विकल्पक ज्ञान वह है जो केवल वस्तु मात्र को ग्रहण करता है और वह परामर्शरहित होता है ।[५] जैसे-वस्तु को प्रथम क्षण में ग्रहण करने पर उसमें पूर्व दृष्ट सजातीयता के कारण परामर्श नहीं होता-अर्थात् प्रथम क्षण में मात्र वस्तु का ही ग्रहण होता है । जब प्रथम क्षण में परामर्श रहित

---

१. न्यायपरिशुद्धि, पृ.७२
२. न्यायपरिशुद्धि, पृ.७२
३. साक्षात्कारप्रमाहेतुः प्रत्यक्षं मानमीरितम् । -वेदान्तकारिकावली, का. सं. १८
४. सविकल्पो निर्विकल्पः साक्षात्कारो द्विधा भवेत् । -वेदान्तकारिकावली-का. सं. १८
५. प्रत्यवमर्शरहितं ज्ञानं निर्विकल्पकम् । -वेदान्तकारिकावली टीका, का. सं. १९, पृ. ११

CC0. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

'गौ' का दर्शन होता है, तो गाय का ज्ञान नहीं होता ! मात्र गाय के पिंड का दर्शन होता है । इस प्रकार रामानुज वेदान्त में-निर्विकल्पक ज्ञान वह है, जो विशेष रहित वस्तु मात्र का ग्रहण करता है । रामानुजमतानुयायियों को नैयायिकों द्वारा दिया गया निर्विकल्पक लक्षण-'जो जाति आदि से रहित है, उसे निर्विकल्पक ज्ञान कहते हैं,' अभिमत नहीं है ।[१]

२.१.२.२ **सविकल्पक:-** सविकल्पक ज्ञान वह है जो परामर्श सहित होता है ।[२] अर्थात् सविकल्पक ज्ञान में विशेषण विशेष्य भाव रहता है । अर्थात् जब प्रथम क्षण में परामर्श रहित वस्तु का ज्ञान होता है, तभी द्वितीय क्षण में वस्तु की पूर्व दृष्ट सजातीयता के कारण वस्तु के परामर्श का ग्रहण होता है । अर्थात् वस्तु मात्र ही नहीं अपितु किसी एक विशेष वस्तु का ही ज्ञान होना सविकल्पक ज्ञान है । जैसे-प्रथम क्षण में देखे गये 'गो' पिंड को हम गाय नहीं समझते, अपितु द्वितीय क्षण में ही उसे 'गौ' (गाय) समझते हैं ।

यह सविकल्पक और निर्विकल्पक साक्षात्कार (१) इन्द्रियसापेक्ष और (२) इन्द्रियानपेक्ष भेद से दो प्रकार का होता है ।[३]

(अ) इन्द्रियसापेक्ष साक्षात्कार साधारण पुरुषों में प्रसिद्ध है । यह इन्द्रिय-सापेक्ष प्रत्यक्ष पांच प्रकार का होता है—

(१) चाक्षुष, (२) श्रावण, (३) त्वाच, (४) घ्राणज, और (५) रासन ।

(ब) इन्द्रियानपेक्ष-इन्द्रियानपेक्ष दो प्रकार का होता है-(क) स्वत: सिद्ध और (ख) दिव्य ।[४]

(क) स्वत: सिद्ध

स्वत: सिद्ध उसे कहते हैं जो स्वप्रयत्न अर्थात् योगादि से सिद्ध होता है ।

---

१. जात्यादीनां पृथक्पृथक् ग्रहणमिति च मतं न सिद्धान्तिनामभिमतमत्युक्तं भवति । -वेदान्तकारिकावली, टीका, पृ. ११

२. प्रत्यवमर्शसहितं ज्ञानं सविकल्पकम् । -वेदान्तकारिकावली, टीका, पृ. ११

३. वेदान्तकारकावली, का.सं. २०

४. वेदान्तकारिकावली, का. सं. २०

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

दिव्य प्रत्यक्ष उसे कहते हैं जो स्वप्रयत्न की अपेक्षा नहीं रखता, अपितु देवकृपा से प्राप्त होता है।

योगज प्रत्यक्ष वह होता है, जो प्रकृष्ट अदृष्ट विशेष से उत्पन्न हो, और युक्तावस्था में मनोमात्रजन्य हो। यही योगि प्रत्यक्ष अयुक्तावस्था में बाह्य इन्द्रिय जन्य होता है।

(ख) दिव्य प्रत्यक्ष

दिव्य प्रत्यक्ष ईश्वर कृपा से प्राप्त दिव्य इन्द्रियों से उत्पन्न होता है।[१]

जैसा कि कहा जाता है-मैं तुझे योग और ईश्वरीय दिव्य चक्षुओं को प्रदान करता हूं, जिससे कि तुम धर्म और पराक्रम से सब कुछ देख सकोगे।[२]

यह योगज, स्वतःसिद्ध प्रत्यक्ष और दिव्य स्वामिप्रसादज, प्रत्यक्ष सभी अर्वाचीन विद्वानों को मान्य है।[३]

लेकिन इन्हीं प्रत्यक्ष के अन्तर्गत नित्य प्रत्यक्ष, मुक्त पुरुष प्रत्यक्ष और ईश्वर प्रत्यक्ष प्राचीन कहे जाते हैं।[४]

रामानुज वेदान्त में दिव्य प्रत्यक्ष के अन्तर्गत नित्य, मुक्त, ईश्वर, प्रत्यक्ष को स्मृति के आधार पर प्रमाण रूप से स्वीकार किया गया है।

रामानुज वेदान्त में स्मृति प्रमा ही है, क्योंकि वह प्राचीन अनुभव से उत्पन्न होती है, जबकि नैयायिक स्मृति को 'अप्रामाण्य स्वीकार करते हैं।

रामानुज वेदान्त में प्राचीन अनुभवजन्य होने के कारण स्मृति प्रमा ही है, और यह प्रत्यक्ष प्रमाण में ही स्वीकार की जाती है।[५] सादृश्य, अदृष्ट, चिन्ता आदि से संस्कार का उद्बोधन होने पर स्मृति मानी जाती है।

---

१. वेदान्तकारिकावली टीका, पृ. सं. ११-१२

२. 'दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्।
तत्सर्वं धर्मवीर्येण यथावत्संप्रपश्यसि ॥' -गीता श्लोक सं. ११-८

३. वेदान्तकारिकावली, का. सं. २१

४. वही, का. सं. २२

५. वही

CC0. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

स्मृति के समान प्रत्यभिज्ञा भी प्रत्यक्ष में ही अन्तर्निहित है ।[१] अन्तर मात्र इतना है कि स्मृति में वस्तु विशेष सम्मुख नहीं होती, जबकि प्रत्यभिज्ञा में वस्तु विशेष सम्मुख रहती है ।

प्रतिभा भी प्रत्यक्ष प्रमाण के अन्तर्गत आती है ।[२] प्रतिभा पुण्यात्मा पुरुष के निष्ठा से होती है-अर्थात् किन्हीं पुण्यात्माओं में बुद्धि विशेष को ही प्रतिभा कहते हैं । वह बुद्धि विशेष 'नवनवोन्मेषशालिनी' होती है ।

१. वेदान्तकारिकावली, का. सं. २३
२. वेदान्तकारिकावली, का. सं. २४

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

तृतीय अध्याय

३.०० अनुमान

३.०१ अनुमान का लक्षण

'अनु' और 'मान' दो शब्दों के योग से अनुमान शब्द निष्पन्न होता है। प्रथम का अर्थ है- पश्चात् तथा द्वितीय का अर्थ ज्ञान। अनुमान शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से की जा सकती है-'अनुमिति-अनुमानम्' तथा 'अनुमीयते अनेन इति अनुमानम्'। प्रथम में 'अनु' पूर्वक 'मा' धातु के आगे 'ल्युट्' प्रत्यय भाव अर्थ में किया गया है और द्वितीय में करण अर्थ में। इस प्रकार भाव अर्थ में अनुमान शब्द अनुमिति प्रमा तथा करण अर्थ में अनुमान प्रमाण का वाचक होता है। अनुमिति में प्रयुक्त अनु पर प्रतियोगी-साकाङ्क्ष है। जो मिति अर्थात् ज्ञान के पूर्व किसी अन्य ज्ञान की अपेक्षा रखता है। पूर्व ज्ञान से यहां व्याप्तियुक्त पक्षधर्मता रूप एक विशिष्ट ज्ञान अभिप्रेत है। अतः इस विशिष्ट ज्ञान के पश्चात् होने वाला ज्ञान अनुमान कहलाता है।[१]

अनुमान शब्द 'अनु' उपसर्ग पूर्वक 'मा' धातु से निष्पन्न होता है। तात्पर्य यह है कि 'अनु' और 'मान' दो शब्दों के योग से अनुमान शब्द बना है। 'अनु' शब्द पश्चात् अर्थ का बोधक है और पश्चात् शब्द नियमतः प्रतियोगी साकांक्ष है, इस पश्चात् अर्थ में, लिंग और लिंगी का सम्बन्ध और लिंग ज्ञान ये दोनों ही प्रतियोगी के रूप में अनुमित होते हैं। 'मान' शब्द ज्ञान का परिचायक है। लिंग और लिंगी का यह सम्बन्ध ही व्याप्ति या अविनाभाव आदि शब्दों से व्यक्त किया जाता है। अतः 'लिंग-लिंगी-सम्बन्ध-ज्ञान' से हेतु में रहने वाली साध्य की व्याप्ति का ज्ञान अभिप्रेत है। 'लिंग ज्ञान' से पक्षधर्मताज्ञान गृहीत किया जाता है। इस दृष्टिकोण से 'अनु' शब्द से अर्थात् 'व्याप्ति ज्ञान' और 'पक्षधर्मता ज्ञान' इन

---

१. भारतीय दर्शन में अनुमान-ब्रजनारायण शर्मा, भूमिका

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

दोनों के पश्चात् जो 'मान' अर्थात् ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे अनुमान कहते हैं। साधारणत: दो ज्ञात सत्यों के द्वारा किसी अज्ञात सत्य का ज्ञान करना ही 'अनुमान' है।

यह अनुमान शब्द 'अनु' उपसर्ग पूर्वक 'मा' धातु से भाव अर्थ में अथवा करण अर्थ में 'ल्युट्'-प्रत्यय लगाकर दो प्रकार से सिद्ध होता है। प्रथम अर्थ में 'अनुमीयत इति अनुमानम्' या 'अनुमितिः अनुमानम्' इस व्युत्पत्ति के आधार पर यह अर्थ अनुमिति प्रमा का बोधक है।

द्वितीय अर्थ में 'अनुमीयते अनेन इति अनुमानम्' इस रूप से व्युत्पत्ति करने पर 'अनुमान' पद, अनुमिति प्रमा के कारण का वाचक है। अर्थात् अनुमिति प्रमा का साधन है। सामान्यत: सभी दार्शनिकों ने 'अनुमितिकरणमनुमानम्' यह अनुमान लक्षण माना है।[१]

नैयायिकों के समान बुच्चि वेंकटाचार्य अनुमान का लक्षण करते हैं—'अनुमित्यात्मविज्ञाने करणं अनुमानम्'।[२] अर्थात् अनुमिति रूप ज्ञान में विद्यमान करण अनुमान कहलाता है। अर्थात् लिंग के परामर्श को अनुमान कहते हैं, क्योंकि लिंग का प्रत्यक्ष होने के बाद चूंकि अनुमिति की प्रवृत्ति होती है, अत: अनुमान कहलाता है।

यद्यपि अनुमान प्रत्यक्ष का अनुसरण करता है, लेकिन स्मृति और प्रत्यभिज्ञा के प्रत्यक्ष होने पर अनुमान नहीं होता है।[३]

अनुमान के लक्षण में प्रयुंक्त लिंग,परामर्श, व्याप्ति, करण आदि पद व्याख्यासापेक्ष है जिसमें 'लिंग' उसे कहते हैं जो लीन अर्थ को बताता है।[४]

जहां अग्नि की जो व्याप्ति है, उससे विशिष्ट जो धूम है, उसका पर्वत में रहने वाला जो वैशिष्ट्य ज्ञान है-अर्थात् 'व्याप्ति विशिष्ट हेतु पर्वत में है। ऐसा ही ज्ञान परामर्श है।[५] प्राचीन नैयायिकों ने व्यापार के समान असाधारण कारण को

---

१. (अ) तर्कसंग्रह, पृ.७० (ब) वेदान्तपरिभाषा, पृ.१४८

२. वेदान्तकारिकावली २.१

३. 'स्मृतिप्रत्यभिज्ञयोः प्रत्यक्षानुगामित्वेऽपि नानुमानत्वम्।'
-वेदान्तकारिकावली टीका, पृ.१७

४. 'लीनमर्थं गमयति इति लिंगम्'।-तर्कभाषा

५. 'व्याप्यस्य पक्षवृत्तिधीः परामर्शनामभाक्।' -वेदान्तकारिकावली २.२

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

करण कहा है। अर्थात् अनुमिति के प्रति व्याप्तिज्ञान करण है और परामर्श व्यापार है, लेकिन नव्य नैयायिकों के अनुसार परामर्श ही करण है। व्यापारवान् होना करण का लक्षण नहीं है, अपितु जो सबसे अधिक साधक होता है, वह करण होता है। बुच्चि वेंकटाचार्य ने नव्य नैयायिकों के मत का सहारा लेकर लिंगपरामर्श को ही अनुमिति का करण स्वीकार किया है।

३.०२ व्याप्ति

अनुमान का मूल आधार 'व्याप्ति' है। बिना व्याप्ति के अनुमान हो ही नहीं सकता। अत: अनुमान के लिए व्याप्तिज्ञान अत्यावश्यक है। 'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निरिति भूयिष्ठसाहचर्यैकज्ञानेन व्याप्तिधीर्भवेत्।'[१]

अर्थात् 'जहां जहां धुआं रहता है, वहां वहां आग रहती है'-इस भूयिष्ठ साहचर्य-नियम को 'व्याप्ति' कहते हैं। यहां धुएं के साथ अग्नि का नियत साहचर्य है, क्योंकि धुआं अग्नि के साथ ही पाया जाता है। अग्नि से भिन्न स्थल पर वह कभी भी नहीं पाया जाता। धूम और अग्नि के इस सम्बन्ध को 'अविनाभाव' सम्बन्ध कहते हैं, और इसी 'अविनाभाव' सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं। किन्तु व्याप्ति ज्ञान में केवल नियत-साहचर्य का होना ही पर्याप्त नहीं है, अपितु उसके लिए व्यभिचार का अभाव होना भी आवश्यक है। जैसे-जहां अग्नि का अभाव होता है, वहां धुआं नहीं रहता। इस प्रकार धूम का अग्नि के साथ सर्वदा रहना अव्यभिचार है।

अत: व्याप्ति में साहचर्य-अविनाभाव सम्बन्ध के साथ व्यभिचाराभाव का होना भी आवश्यक है।

वेंकटचार्य का मत

वेंकटाचार्य अपनी कुछ नवीनता केसाथ नैयायिक मत को स्वीकार करते हुए व्याप्ति का लक्षण करते हैं कि-'व्याप्ति' वह है जिसमें हेतु का साध्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध हो, जिसमें हेतु का क्षेत्र, देश और काल की दृष्टि से, साध्य से कभी भी अधिक नहीं हो।[२] और साध्य का क्षेत्र देश और काल की दृष्टि से हेतु से कम नहीं हो तथा जिसमें निरुपाधिक रूप से नियत सम्बन्ध हो। जैसे देश और काल के योगपथ के उदाहरण के लिए शक्कर और उसकी मिठास में नियत साहचर्य

---

१. वेदान्तकारिकावली, २.३

२. 'पक्षे साध्यमतिरनुमित्यात्मिका मता।'-वेदान्तकारिकाली, का. सं. ३

CC0. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

पाया जाता है। कालिक योगपथ के लिए छाया का मान और सूर्य की स्थिति का उदाहरण देते हैं। केवल देशिक योगपथ के लिए ताप और उसके प्रभाव का उदाहरण देते हैं। कभी-कभी देश और काल में पृथक् वस्तुओं में भी साहचर्य पाया जाता है-इसके लिए ज्वार भांटा और सूर्य चन्द्र का सम्बन्ध उदाहरण है।

३.०३ व्याप्तिग्रहोपाय

व्याप्ति का ग्रहण भूयः सहचार दर्शन से होता है। किन्तु जहां एक भी स्थल में व्याप्य-व्यापक के सहचार का अभाव अथवा व्यभिचार का ग्रहण हो जाता है, वहां व्याप्ति के लिए भूयः सहचार दर्शन भी व्यर्थ हो जाता है और वह व्याप्य-व्यापक के अविनाभाव सम्बन्ध अथवा स्वाभाविक सम्बन्ध का बोध नहीं करा सकता है। इसलिए केवल भूयः सहचार दर्शन ही व्याप्ति का ग्राहक नहीं है, अपितु उसके साथ व्यभिचार का अदर्शन होना भी आवश्यक है अर्थात् 'व्यभिचारदर्शन सहकृत भूयः सहचार दर्शन' व्याप्ति का ग्राहक होता है।

वेंकटाचार्य के अनुसार हेतु और साध्य के बीच रहने वाली व्याप्ति अनेक उदाहरणों के निरीक्षण के द्वारा ही ग्रहण की जा सकती है, एक उदाहरण द्वारा नहीं, जैसा कि 'धर्मराजाध्वरीन्द्र' द्वारा स्वीकार की गयी है। वेंकटाचार्य वरदविष्णु मिश्र के मत का भी समर्थन करते हैं।[१] पराशर भट्टारक गुरु अपने ग्रन्थ 'तत्वरत्नाकर' में कहते हैं कि व्याप्ति का प्रथम परामर्श, जो विश्वास उत्पन्न करने में समर्थ है, वह सामान्य वाक्य के प्रतिपादन करने के लिए पर्याप्त है।[२] जब जाति प्रत्यय (धूम-धूमत्व) किसी भी एक उदाहरण से सम्बन्धित है (जैसे-धूम), तो धूम और अग्नि की व्याप्ति के अनुभव का अर्थ यह होगा कि धूमत्त्व का अग्नित्व से व्याप्ति ज्ञान हो गया है। इसलिए एक विशेष पदार्थ और उसके जाति प्रत्यय के अनुभव से हम इस जाति प्रत्यय से सम्बन्धित अन्य विशेष पदार्थों को भी जानते हैं।[३] पुनः वे व्याप्ति ग्रहण करने के व्यापार को समझते हुए कहते हैं कि जब हेतु और साध्य की व्याप्ति प्रचुर उदाहरणों से देखी जाती है, तब ऐसे निरीक्षणों का परिणाम, साध्य और हेतु के समस्त उदाहरणों की सार्वभौम व्याप्ति के पक्ष में, संस्कार रूप से संग्रह

---

१. न्यायपरशुद्धि, पृ. १०४
२. वही
३. वही, पृ. १०५

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

होता है और तब व्याप्ति के निरीक्षण का अन्तिम उदाहरण चित्त में सभी साध्य और सभी हेतुओं में व्याप्ति का विचार, पहले अंकित हुए संस्कारों की जागृति की मदद से उत्पन्न करता है ।

३.०४ व्याप्ति के भेद

व्याप्ति दो प्रकार की होती है-अन्वय व्याप्ति और व्यतिरेक व्याप्ति ।[१] जहां व्याप्ति की विधिमुखेन प्रतिपत्ति होती है, उसे अन्वय व्याप्ति कहते हैं ।[२] जैसे-'यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः'-यथा महानसः'-अर्थात् जहां जहां धूआं है, वहां-वहां आग है, जैसे रसोई घर । जहां व्याप्ति की निषेधमुखेन प्रतिपत्ति होती है । उसे 'व्यतिरेक व्याप्ति' कहते हैं ।[३] जैसे-'यत्र यत्र वह्न्यभावः, तत्र तत्र धूमाभावतः'-यथा महाहृदः-अर्थात् जहां जहां अग्नि का अभाव रहता है, वहां वहां धूम नहीं रहता जैसे सरोवर । उभयविध व्याप्ति-प्रदर्शन में 'व्याप्य' तथा 'व्यापक' को रखने का भी एक क्रम होता है । व्याप्ति को बोलते समय व्याप्य को पहले और व्यापक को उसके बाद बोला जाता है । अन्वय व्याप्ति भाव पदार्थों में होती है, जिसमें साधन (हेतु) व्याप्त और साध्य व्यापक होता है । उससे भिन्न व्यतिरेक व्याप्ति, अन्वय व्याप्ति की उलटी होती है जिसमें साध्याभाव व्याप्य और साधनाभाव व्यापक होता है ।

३.०५ हेतु के रूप

अनुमान के लिए सद्-हेतु अपेक्षित है । अतः तार्किकों ने हेतु के रूपों का निश्चय किया है । किन्तु भारतीय तर्कशास्त्र में सर्वप्रथम इस प्रकार का विवेचन किसने किया, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता । इस विषय में संभवतः प्राचीनतम विवेचन 'प्रशस्तपादभाष्य' में उपलब्ध होता है । प्रशस्तपादाचार्य ने हेतु के तीन रूप कहे हैं—

(१) जो अनुमेय (साध्य) से सम्बद्ध हो ।

(२) साध्य से युक्त (दृष्टान्त) में प्रसिद्ध हो ।

---

१. अन्वयी व्यतिरेकी च किंच हेतुर्विलक्षणः । -वेदान्तकारिकावली, का. सं. ५

२. 'अन्वयो नाम यत्सत्वे यत्सतत्त्वमित्यभिलप्यः साहचर्य नियमः। यथा धूमसत्वे वह्निसत्वम् ।'-वेदान्तकारिकावली, टीका, पृ. ५९

३. व्यतिरेको नाम यदभावे यदभाव इत्यभिलप्यः साहचर्यनियमः, यथा वह्न्यभावे धूमाभावः ।'

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

(३) साध्य के अभाव (विपक्ष) में न हो, वह लिंग (हेतु) अनुमापक होता है।[१]

अर्थात् सद् हेतु त्रिरूपों-पक्षसत्व, सपक्षसत्व और विपक्षासत्व से युक्त होता है।[२] प्रशस्तपादाचार्य ने इस मन्तव्य को काश्यप के नाम से उद्धृत किया है।[३] इससे यह भी प्रतीत होता है कि सम्भवत: वैशेषिक दर्शन में पहले से ही यह मन्तव्य प्रचलित था। बौद्ध-दार्शनिक धर्मकीर्ति ने अपने ग्रन्थ 'न्यायबिन्दु' में हेतु की त्रिरूपता इस प्रकार बतलायी है-'त्रैरूप्यम् पुन:'-लिङ्गस्यानुमेये सत्वमेव। सपक्ष एव सत्वम्। असपक्षे चासत्वमेव निश्चितम्।'[४] अर्थात् (पक्ष) में लिंग को सत्व, सपक्ष सत्व औरअपक्ष (विपक्ष)-असत्व। इनके अतिरिक्त सांख्य कारिका की 'माठरवृत्ति' में भी लिंग के त्रैरूप्य का प्रतिपादन किया गया है।[५]

इस प्रकार वैशेषिक, बौद्ध तथा सांख्य-दर्शन में हेतु के तीन रूप स्वीकार किए गए हैं।

न्यायदर्शन में हेतु की पंचरूपता स्वीकार की गयी है-१. पक्ष-सत्व, २. सपक्ष-सत्व, ३. विपक्ष व्यावृत्ति, ४. अबाधित-विषयत्व, और ५. असत् प्रतिपक्षत्व।

न्यायदर्शन में संभवत: सर्व प्रथम न्यायवार्तिककार उद्योतकर ने हेतु की पंचरूपता का निरूपण किया है।[६] 'न्यायतात्पर्यटीकाकार' वाचस्पति मिश्र ने इसका विशद विवेचन किया है।[७] 'तर्कभाषाकार' केशवमिश्र आदि ने इसी परम्परा का अनुकरण किया है।

बुच्चि वेंकटाचार्य ने भी प्रशस्तपादाचार्य, बौद्ध एवं वैशेषिक आदि विद्वानों का अनुसरण करते हुए हेतु के तीन रूप स्वीकार किये हैं—

---

१. यदनुमेयेन सम्बद्धं प्रसिद्धं च तदन्विते।
तदभावे च नास्त्यैव तल्लिङ्गमनुमापकम्॥ -प्रशस्तपादभाष्य, पृ. १६२

२. किरणावली, पृ. १९४

३. प्रशस्तपादभाष्य, पृ. १६२

४. न्यायबिन्दु, पृ. ३०-३२

५. सांख्यकारिका, माठरवृत्ति, कारिका ५

६. न्यायवार्तिक १.१.५, पृ. २९४

७. न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका, १.१.५, पृ. ३१५

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

१.पक्ष, २. सपक्ष, और ३. विपक्ष ।[1]

(अ) पक्ष

प्राचीन नैयायिकों के अनुसार पक्ष वह है, जिसमें साध्य का सन्देह हो ।[2] जैसे-'पर्वतो वह्निमान्, धूमात्'-यहां पर्वत में साध्य का सन्देह हुआ अतः 'पर्वत' पक्ष है । किन्तु इस लक्षण में 'अतिव्याप्ति'दोष दिखयी देता है, क्योंकि घर के अन्दर बैठे व्यक्ति को साध्य सन्देह के बिना भी घनगर्जन मात्र से मेघानुमिति होती है कि 'गगनं मेघवत्, घनगर्जनात्' (गगन मेघयुक्त है, घन-गर्जन होने से) अतः साध्य सन्देह को पक्षता नहीं कहा जा सकता है ।[3]

कुछ प्राचीन नैयायिकों ने सन्देहयोग्यता को 'पक्षता' कहा है ।[4] उनके मत में हां घन गर्जन आदि स्थल में साध्य-सन्देह नहीं है, वहां सन्देह-योग्यता को लेकर लक्षण का समन्वय किया जा सकता है, क्योंकि 'गगनं मेघवत्'-इस प्रकार का साध्य निश्चय और 'गगनं मेघाभाववत्' इत्यादिकारक बाध निश्चय नहीं रहने से और योग्यता रहने के कारण अनुमिति उत्पन्न हो जाती है। किन्तु यह मत भी युक्ति-संगत प्रतीत नहीं होता। गंगेश कहते हैं कि साध्य निश्चय और बाध्य निश्चय का अभाव को पक्षता कहा जाय तो एक के रहने पर भी दोनों का अभाव हो सकता है । अतः सिद्ध अथवा बाधक्षण में अनुमिति की आपत्ति की जा सकती है । यदि अभावद्वय-साध्य निश्चय का अभाव और बाध निश्चय का अभाव को पक्षता कहा जाय, तो उक्त दोष का निवारण किया जा सकता है, किन्तु ऐसी स्थिति में बाध-निश्चय के अभाव का निवेश करना व्यर्थ होगा, क्योंकि जलाशय आदि पक्ष स्थल में बाध और हेतु की असिद्धि भाव आवश्यक रूप से रहने के कारण उसी से अनुमिति की अनुत्पत्ति सिद्ध की जा सकती है । यदि साध्य-निश्चय के अभाव को सन्देह-योग्यता कहा जाय, तो भी युक्ति-संगत प्रतीत नहीं होता। क्योंकि एक हेतु के द्वारा किसी साध्य की अनुमिति हो जाने पर भी, अन्य हेतु द्वारा

---

१. सपक्षे सपक्षस्तु पूर्वं निश्चित साध्यकः।
संदिग्ध साध्यकः पक्षो विपक्षस्तदभावनाम् ॥ -वेदान्त कारिकावली,क़ा. सं.४

२. तर्क संग्रह, पृ.९०

३. सिद्धान्तमुक्तावली, पृ.२४८

४. तत्वचिन्तामणि, पृ.१०८८

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

उसी ज्ञात साध्य की पुनः अनुमिति की जा सकती है, जैसे-'पर्वतो वह्निमान्'-यह अनुमिति धूम-हेतु से निश्चय होने पर भी अन्य आलोक हेतु से भी हो सकती है। अतः साध्य-निश्चय और बाध निश्चय के अभाव को सन्देह योग्यता नहीं कहा जा सकता। फलतः सन्देह-योग्यता को पक्षता नहीं कहा जा सकता।[१]

कुछ प्राचीन नैयायिकों ने सिसाधयिषा को 'पक्षता' माना है,[२] क्योंकि सिद्धि रहने पर भी सिसाधयिषा जाग्रत होने पर अनुमिति होती है। जैसे-मुमुच्छु को 'आत्मा वारे श्रोतव्यो मन्तव्यः।'[३] इस श्रुति के आधार पर शाब्दबोध द्वारा आत्मा की सिद्धि हो जाने पर भी, मनन द्वारा सिसाधयिषा होने पर आत्मा की अनुमिति होती है। किन्तु यह मत भी साध्य-सन्देह की भांति असंगत होने के कारण, निरसनीय है, क्योंकि सिसाधयिषा विशेषण अथवा लक्षण होने के योग्य वस्तु नहीं है। परामर्शज्ञान के पूर्व हेतु-दर्शन, व्याप्ति-स्मरण आदि से सिसाधयिषा का नाश हो जाता है, अतः इसे अनुमिति में विशेषण नहीं कहा जा सकता। इसको उपलक्षण भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि परम्परीय कारण होने से, सिद्धि रहने पर तथा सिसाधयिषा रहने पर भी अनुमिति की आपत्ति हो सकती है। यदि सिसाधयिषा की योग्यता को ही पक्षता माना जाय तो भी न्यायसंगत, नहीं, क्योंकि कथित युक्तियों के आधार पर योग्यता का निरूपण ही नहीं किया जा सकता। यदि यह कहा जाय कि हेतु दर्शन, व्यक्ति स्मरण तथा परामर्श ज्ञान होने पर सिसाधयिषा का नाश हो जाने से उसको विशेषण न भी माना जाय तो भी पुनः दूसरी सिषाधयिषा और दूसरे परामर्श ज्ञान की उत्पत्ति मानकर सिषाधयिषा को विशेषण बनाया जा सकता है। अतः सिषाधयिषा को पक्षता मानने में कोई बाधा नहीं है। किन्तु ऐसा होने पर भी घन-गर्जन स्थल में व्यभिचार दोष अवश्य रहेगा, क्योंकि घर में बैठे हुए व्यक्ति की-'गगने मेघानुमितिर्मे जायताम्' इस सिषाधयिषा के बिना भी घनगर्जन मात्र से मेघानुमिति होती है कि 'गगनं मेघवत्, घनगर्जनात्।'[४] अतः

---

१. तत्वचिन्तामणि, पृ. १०८८

२. वही

३. वृहदारण्यकोपनिषद्, ४.५.६

४. (अ) तत्वचिन्तामणि, पृ. १०८९
(व) सिद्धान्तमुक्तावली, पृ. २४७-२४८

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

सिषाधयिषा को भी पक्षता नहीं कहा जा सकता।

नव्य-नैयायिक 'सिषाधयिषा के अभाव से युक्त सिद्धि के अभाव' को 'पक्षता' तथा यह विशिष्ट अभाव रूप धर्म जिस अधिकरण में रहता है, उसे 'पक्ष' कहते हैं।[१] नव्य नैयायिकों का पक्ष-लक्षण सर्वथा निर्दोष तथा युक्तिसंगत प्रतीत होता है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि प्राचीन नैयायिकों के पक्ष-लक्षण सर्वथा व्यर्थ हैं। क्योंकि 'संशय-पक्षता' में संशय से तात्पर्य एकान्तत: सन्देह नहीं है, बल्कि निश्चित सन्देह है जिसमें अनुमान साध्य को सिद्ध करता है। जैसे-आत्मा श्रुति से जानी जा सकती है, लेकिन मात्र शाब्द बोध सभी सन्देहों का निराकरण करने के लिए पर्याप्त नहीं है, क्योंकि सन्देह बुद्धि की स्वतन्त्र क्रिया में बाधक होते हैं, अत: सभी सन्देहों के निराकरण के लिए साधक और बाधक दोनों प्रमाणों की अपेक्षा होती है। तभी ज्ञान निश्चित होता है। इसी प्रकार यद्यपि अग्नि का प्रत्यक्ष हुआ रहता है, लेकिन इन्द्रियां व्यक्ति को भ्रांत कर देती हैं, अनेक तर्कों से भी इन्द्रियों का वह सन्देह दूर नहीं होता। ऐसी स्थिति में साध्य 'संशयात्मक' ही रहता है, जबकि उसका पूर्व में प्रत्यक्ष किया रहता है। अत: संशय-पक्षता निर्मूल नहीं है। वह भी उतनी ही साधार है, जितनी इच्छा-पक्षता। अन्तर यही है कि सन्देह पक्षता की अपेक्षा इच्छा-पक्षता का क्षेत्र अधिक व्यापक है, अत: इच्छा पक्षता ग्राह्य है,तदुपरान्त सन्देह-पक्षता।[२]

बुच्चि वेंकटाचार्य ने प्राचीन नैयायिकों के समान पक्ष का लक्षण करते हुए कहा है कि पक्ष वह है, जहां साध्य का अस्तित्व संदिग्ध रहे। जैसे अग्नि का पर्वत पर सन्देह रहने के कारण पर्वत पक्ष है।[३]

(ब) सपक्ष

'सपक्ष' वह कहलाता है जिसमें साध्य का निश्चय हो।[४] जैसे-रसोई घर। क्योंकि यहां अग्नि की सत्ता निश्चित है।

---

१. वही

२. तर्कसंग्रह, संस्करण ऐथले एण्ड बोडास, पृ. २९१

३. संदिग्धसाधकः पक्षः। -वेदान्तकारिकावली, का.८

४. निश्चितसाध्यवान् सपक्षः, यथा धूमेन वह्नौ साध्ये महानसादिः। —वेदान्तकारकावली, टीका, पृ. १९

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

बुच्चि वेंकटाचार्य के अनुसार सपक्ष वह है, जहां साध्य पूर्व से ही निश्चित रहे। जैसे अग्नि का निश्चय रसोई घर में पूर्व से ही रहता है, अत: रसोई घर सपक्ष है।[१]

(स) विपक्ष

विपक्ष वह कहलाता है जिसमें साध्य के अभाव का निश्चय हो।[२] बुच्चि वेंकटाचार्य के अनुसार विपक्ष वह है जहां साध्य का अभाव रहता है-जैसे तालाब आदि।[३]

३.०६ हेतु के भेद

(१) नैयायिक अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तिद्वय के आधार पर हेतु के तीन भेद स्वीकार करते हैं—(१) केलान्वयी,(२) केवल व्यतिरेकि, और (३)अन्वय-व्यतिरेकि।[४]

(२) भाट्टमीमांसक हेतु के दो भेद ही स्वीकार करते हैं—(१) केवलान्वयी, और (२) अन्वयव्यतिरेकि। वे केवल व्यतिरेकि हेतु को नहीं स्वीकार करते, उसके स्थान पर अर्थापत्ति नामक प्रमाण को स्वीकार करते हैं।[५]

वल्लभ वेदान्त में भी हेतु के दो भेद स्वीकार किये गये हैं—(१) केवल व्यतिरेकि और (२) अव्यय-व्यतिरेकि।[६]

रामानुज वेदान्त में वेंकटाचार्य ने दो भेद स्वीकार किये हैं— (१) अन्वय-व्यतिरेकि और २. केवलान्वयी।[७] इन्होंने केवल व्यतिरेकि हेतु का खण्डन किया है।[८] अद्वैत वेदान्त में अन्वयी रूप एक ही हेतु स्वीकार किया गया है।[९] अद्वैत

---

१. सपक्षस्तु पूर्वं निश्चितसाध्यक:। -वेदान्तकारिका का.४

२. 'निश्चित साध्याभाववान् विपक्ष:, यथा-तत्रैव हृदादि:।' -वेदान्तकारिकावली, टीका, पृ. १९

३. विपक्षस्तदभाववान्। -वेदान्तकारिकावली, का.४

४. न्यायवार्तिक, पृष्ठ २९४

५. मानमेयोदय, पृ.६१

६. वल्लभ सम्प्रदाय के सिद्धान्त, पृ.६१

७. न्यायपरिशुद्धि, पृ.१०७

८. वही, पृ.१११

९. वेदान्तपरिभाषा, पृ.१६३

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

वेदान्तियों को केवलान्वयी हेतु मान्य नहीं है। इन्होंने केवल व्यतिरेकि हेतु भी स्वीकार नहीं किया है।

बुच्चि वेंकटाचार्य ने हेतु के दो भेद स्वीकार किये हैं—१. अन्वयी और २. व्यतिरेकी।[1] बुच्चि वेंकटाचार्य हेतु के भेद के संदर्भ में अंशतः अद्वैतवेदान्त से प्रभावित दिखायी देते हैं और अंशतः नैयायिक और वल्लभ वेदान्त से।

१-अन्वयी

'अन्वय' का अर्थ है 'यत्सत्वे यत्सत्वम्'-अर्थात् 'एक के होने पर दूसरे का होना।' जहां हेतु तथा साध्य साहचर्य नियम से साथ रहें, उसे 'अन्वय' कहते हैं। जैसे-'यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः।' और इस प्रकार के अन्वय वाला हेतु 'अन्वयी' कहलाता है।[2]

२-व्यतिरेकी

'व्यतिरेक' से तात्पर्य है 'यदाभावे यदभाव' अर्थात् 'एक के न रहने पर दूसरे का न रहना।' जहां हेतु का अभाव तथा साध्य का अभाव साहचर्य नियम से रहे, उसे व्यतिरेक कहते हैं। जैसे 'यत्र यत्र वह्न्याभावः तत्र तत्र धूमाभावः।' और इस प्रकार के व्यतिरेक वाला हेतु व्यतिरेकी कहलाता है।[3]

३.०७ हेत्वाभास का लक्षण

न्यायदर्शन में प्रामाणादि षोडश पदार्थों में 'हेत्वाभास' को भी एक पदार्थ स्वीकार किया गया है। असद् हेतु को हेत्वाभास कहते हैं। वह वस्तुतः हेतु नहीं होता, किन्तु हेतु के समान प्रतीत होता है।[4]

गौतम ने न्यायसूत्र-'सव्यभिचार-विरुद्ध-प्रकरणसमसाध्यसमकालातीता:-हेत्वाभासा:'-में 'हेत्वाभास' शब्द से हेत्वाभास के सामान्य लक्षण की सूचना दी है, क्योंकि 'हेतोराभासः' अर्थात् हेतु के आभास का नाम हेत्वाभास है। ऐसी व्युत्पत्ति करने पर 'हेत्वाभास' शब्द सव्यभिचार (अनेकान्तिक) साध्यसम (असिद्ध) आदि

---

१. अन्वयी व्यतिरेकि च किंच हेतुर्द्विलक्षणः। -वेदान्तकारिकावली, का.५
२. वेदान्तकारिकावली, टीका, पृ १९
३. वही
४. हेतुवदापाततो भासन्त इति हेत्वाभासाः। -वही, पृ.१९

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

दोषों का भाव होता है। और 'हेतुवद् आभासन्ते इति हेत्वाभास:' अर्थात् जो आपाततः हेतु की तरह प्रतीत होता है, किन्तु वस्तुतः हेतु-लक्षण से शून्य होते हैं, उनको हेत्वाभास कहा जाता है।[१] इस व्युत्पत्ति में दुष्ट हेतु का बोध होता है। ऐसी व्युत्पत्ति करने पर भी सव्यभिचार आदि.दोषों का भान होता है।[२]

न्यायभाष्यकार वात्स्यायन ने उक्त द्वितीय-व्युत्पत्ति-लभ्य लक्षण के रूप में 'हेत्वाभास' का सामान्य लक्षण व्यक्त किया है-'हेतुलक्षणाभावहेतवो हेतुसामान्याद्धेतुवदाभासमाना:'[३]-अर्थात् हेतु के सभी लक्षणों के नहीं घटने पर भी जो पदार्थ हेतु नहीं है और सादृश्य के हेतु की तरह प्रतीत होता है,वही 'हेत्वाभास' है। वात्स्यायन के लक्षण को ही 'उद्योतकर',[४] 'वाचस्पति मिश्र',[५] भावसर्वज्ञ[६] आदि ने अक्षरस: स्वीकार किया है।

निष्कर्ष यह हुआ कि 'हेत्वाभांस' वह है, जो कि हेतुत्वलक्षण से शून्य होता है। सद् हेतु पंचरूपोपपन्न होता है। वे पांच रूप इस प्रकार हैं—

(१) पक्षव्यापकत्व (पक्ष सत्)-पक्ष में हेतु की स्थिति रहना।

(२) सपक्षसत्व-सपक्ष में हेतु का रहना।

(३) विपक्षवृत्तिरहितत्व (विपक्ष व्यावृतत्व)-विपक्ष में हेतु का न रहना।

(४) अबाधित विषयत्व, और

(५) असत्प्रतिपक्षत्व।[७]

इन पांचों रूपों में से एक से भी हीन जो हेतु होता है, किंच कतिपय हेतु धर्मों के योग से हेतु सा भासित होता है, वह 'हेत्वाभास' कहा जाता है।[८]

---

१. न्यायभाष्य,पृ.५०
२. हेतवो दुष्टा भवन्तीति ते हेत्वाभासा:। -वेदान्त कारिकावली टीका,पृ.१९
३. न्यायभाष्य१.२.४,पृ.५०,कलकत्ता संस्करण
४. न्यायवार्तिक,१.२.४,पृ.६३१
५. न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका,१.२.४,पृ.६३७
६. न्यायसार,त्रिवेन्द्रम्,सन् १९३१,पृ.३४
७. न्यायपरिशुद्धि,पृ.१०४,मद्रास संस्करण
८. (अ) तर्कभाषा,पृ.२४६ (ब) तर्कदीपिका,काशी,१९३६,पृ.९२

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

गौतम ने उक्त पांच रूपों में से एक रूप के अभाव में ही पांच प्रकार के हेत्वाभासों को गिनाया है, क्योंकि विपक्ष में हेतु की असत्ता नहीं रहने पर हेतु में विपक्षासत्व नहीं रहने पर—

(१) 'सव्यभिचार' नामक हेत्वाभास होता है।

(२) सपक्ष में हेतु के नहीं रहने पर 'विरुद्ध' नामक हेत्वाभास होता है।

(३) असत्प्रतिपक्षत्व नहीं होने से 'प्रकरणसम' हेत्वाभास होता है।

(४) पक्ष में हेतु के नहीं रहने से 'साध्यसम' हेत्वाभास होता है।

(५) अबाधितत्व नहीं रहने से 'कालातीत' नामक हेत्वाभास होता है।

किन्तु इन सभी पदार्थों में हेतु के किसी रूप के रहने से वह हेतु का सदृश है। इसी से हेतु की तरह प्रतीयमान होता है। अत: उपर्युक्त हेत्वाभास का लक्षण सही घटित होता है।

'हेत्वाभास' का सामान्य लक्षण करते हुए वेदान्तकारिकावलीटीकाकार ने कहा है कि सद्‌हेतु के दो प्रधान अंग होते हैं—व्याप्ति और पक्षधर्मता। इन दोनों अंगों में किसी एक के न रहने से 'हेत्वाभास' कहा जाता है। हेत्वाभास वह है, जो कि हेतु के समान भासित होता है।[१] यद्यपि यह हेत्वाभास का लक्षण उपर्युक्त लक्षणों से भिन्न सा लगता है, वास्तव में है नहीं। क्योंकि उपर्युक्त हेत्वाभास लक्षण में सद्‌हेतु के पक्षसत्वादि पंचरूपों में से एक के न रहने और अन्य के रहने पर-'हेत्वाभास' कहा गया है और वेदान्त कारकावलीटीकाकार के हेत्वाभास लक्षण में व्याप्ति और पक्षधर्मता में से किसी एक के न रहने पर 'हेत्वाभास' है।

यहां वेदान्तकारिकावलीटीकाकार के हेत्वाभास लक्षण में उपर्युक्त लक्षण का अन्तर्भाव हो जाता है, दोनों में कोई विरोध नहीं है। सद्‌हेतु के पक्षसत्वादि पांच रूप व्याप्ति और पक्षधर्मता से भिन्न नहीं हैं। पक्षसत्वादि पांच रूपों में भी व्याप्ति और पक्षधर्मता प्रधान है।

३.०८ हेत्वाभास के भेद

वेदान्तकारिकावली में नैयायिकों के समान ही हेत्वाभास के पांच भेद स्वीकार किये गये हैं—

---

१. वेदान्तकारिकावली, टीका, पृ. १९

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

(१) व्यभिचारी, (२) विरुद्ध, (३) असिद्ध, (४) सत्प्रतिपक्षक, और (५) बाधित।[१]

(१) व्यभिचारी

व्यभिचारी का अर्थ है, अव्यवस्था-औचित्य का अतिक्रमण, नियमपूर्वक न रहना।[२] जो हेतु साध्य के साथ व्यवस्थित रूप नहीं रखता, वह व्यभिचार कहलाता है। इस व्यभिचार हेतु वाला हेत्वाभास 'व्यभिचारी' कहलाता है। इसी का नाम 'अनेकान्तिक' है।[३] जैसे-पर्वत धूमवान् है (प्रतिज्ञा), क्योंकि वहां अग्नि है (हेतु)। यहां (अग्नि का होना) हेतु दिया गया है। वह सपक्ष और विपक्ष दोनों में नहीं होता, क्योंकि 'यत्र यत्र अग्निः तत्र तत्र धूमः'- यह व्याप्ति नहीं बन सकती, क्योंकि लोहे के गोले में अग्नि विद्यमान रहती है, लेकिन वहां धुआं नहीं होता, अतः यहां (अग्नि) व्यभिचारी हेतु है।[४]

(२) विरुद्ध

साध्य के अभाव या विपर्यय से व्याप्त हेतु 'विरुद्ध' हेत्वाभास कहलाता है। जैसे-'शब्द नित्य है (प्रतिज्ञा), क्योंकि वह कार्य है (हेतु)। यहां 'कार्यत्व' रूप हेतु साध्य भूत नित्यत्व के अभाव रूप अनित्यत्व से व्याप्त है, जो कार्य होता है, वह अनित्य होता है नित्य नहीं। इसलिये यहां कार्यत्व 'विरुद्ध' हेत्वाभास है।[५]

(३) असिद्ध

'असिद्ध' वह हेतु है जो अनुमापक (लिंग) के रूप में निश्चित न किया गया हो। यह 'असिद्ध' हेत्वाभास तीन प्रकार का होता है-(अ) स्वरूपासिद्ध, (ब) आश्रयासिद्ध, और (स) व्याप्यत्वासिद्ध।

---

१. व्यभिचारी विरुद्धश्चासिद्धः सत्प्रतिपक्षकः।
वाधितश्चेति पञ्चैते हेत्वाभासा_॥ -वेदान्तकारिकावली, का.५-६

२. व्यभिचारोऽनियमः_। -वेदान्तकारिकावली-टीका,पृ.१९

३. वही, पृ.१९

४. वही

५. 'साध्याभावव्याप्तो हेतुर्विरुद्धः'। -वही, पृ.१९-२०

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

(अ) स्वरूपासिद्ध यह है, जैसे 'जीव अनित्य है (प्रतिज्ञा), क्योंकि यह चाक्षुष है (हेतु), घर के समान (उदाहरण), यहां चाक्षुष हेतु है और वह जीव में नहीं है, क्योंकि जीव तो चाक्षुष नहीं हो सकता, वह अनुभवगम्य है ।

(ब) आश्रयसिद्ध यह है, जैसे आकाशकमल सुगन्धित होता है (प्रतिज्ञा), क्योंकि वह कमल है (हेतु) । यहां आकाशकमल आश्रय है और वह होता ही नहीं अप्रसिद्ध है ।

(स) व्याप्यत्वासिद्ध सोपाधिक होता है, जैसे-यज्ञ में होने वाली हिंसा अधर्म का साधन है (प्रतिज्ञा), क्योंकि वह हिंसा है (हेतु) । यहां अधर्मसाधनत्व में हिंसात्व निमित्त नहीं है, किन्तु शास्त्र द्वारा निषिद्धत्व ही प्रयोजक है अर्थात् वह उपाधि है । साध्य का व्यापक होने पर भी साधन-का व्यापक न होने वाला धर्म उपाधि कहलाता है, वह निषिद्धत्व में विद्यमान है । निषिद्धत्व साध्यभूत अधर्मसाधनत्व का व्यापक है, क्योंकि जहां जहां अधर्म-साधनत्व है, वहां वहां अवश्य निषिद्धत्व भी होता है । इसी प्रकार निषिद्धत्व साधनभूत हिंसात्व का व्यापक नहीं है, क्योंकि जहां जहां हिंसात्व है, वहां अवश्य ही निषिद्धत्व नहीं है-जैसे यज्ञ की पशु हिंसा में निषिद्धत्व नहीं है, इस प्रकार निषिद्धत्व रूप उपाधि होने के कारण अन्य अर्थात् निषिद्धत्व से प्रयुक्त व्याप्ति पर आश्रित उपजीवी जो हिंसात्व हेतु है, वह 'व्याप्यत्वासिद्ध' ही है ।[१]

(४) सत्प्रतिपक्षक

प्रतिपक्ष का अर्थ है, साध्य के अभाव या विपरीत अर्थ का साधक दूसरा हेतु । जिस हेतु का प्रतिपक्ष विद्यमान होता है, वह सत्प्रतिपक्षक कहलाता है । फलतः जहां दो हेतु एक दूसरे के विपरीत अर्थ को सिद्ध करते हैं, वे दोनों सत्प्रतिपक्षक हेत्वाभास कहे जाते हैं । यही हेत्वाभास 'प्रकरणसम' नाम से भी जाना जाता है । यह हेत्वाभास इस प्रकार है—जैसे शब्द नित्य है (प्रतिज्ञा), क्योंकि वह श्रवण के योग्य होता है (हेतु) । इसके विपरीत अर्थ का साधक दूसरा हेतु है) शब्द अनित्य है (प्रतिज्ञा), क्योंकि वह कार्य रूप होने से अनित्यत्व रूप होता है (हेतु) । यही 'सत्प्रतिपक्षक' कहलाता है ।[२]

---

१. वेदान्तकारिकावली, टीका, पृ. २०

२. 'साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वमुपाधिः। सत्प्रतिपक्षकः।' —वेदान्तकारिकावली, टीका, पृ. २०

CC0. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

(५) बाधित

यह बाधित हेत्वाभास 'कालात्ययापदिष्टं' नाम से भी जाना जाता है। पक्ष में जिसके साध्य का अभाव अन्य प्रमाण से निश्चित कर दिया जाता है, वह हेतु बाधित हेत्वाभास कहलाता है। जैसे-अग्नि अनुष्ण है (प्रतिज्ञा), क्योंकि वह पदार्थ है (हेतु) जैसे जल (उदाहरण)। यहां 'पदार्थत्व' हेतु का साध्य 'अनुष्णत्व' है (प्रतिज्ञा), क्योंकि वह पदार्थ है (हेतु), जैसे जल (उदाहरण)। यहां 'पदार्थत्व' हेतु का साध्य 'अनुष्णत्व' उसका अभाव प्रत्यक्ष से ही पक्ष में निश्चित कर लिया गया है, क्योंकि इस स्पर्शन प्रत्यक्ष से अग्नि में उष्णता की उपलब्धिं होती है। अतः यहां अग्नि में 'अनुष्णता' की सिद्धि के लिए जो 'पदार्थत्व' हेतु दिया गया है, उसका साध्य बाधित हो जाता है और वह बाधित हेत्वाभास है।[१]

३.०९ अनुमान के भेद

सर्वप्रथम प्रशस्तपादाचार्य ने-स्वार्थानुमान और परार्थानुमान के रूप में अनुमान के भेदों का विवेचन किया है।[२] प्रो. कीथ तथा कतिपय अन्य विद्वानों का विचार है कि सर्वप्रथम दिङ्नाग (५ शती) ने अनुमान के स्वार्थ और परार्थ दो भेद किय थे।[३] प्रो. कुप्पुस्वामी तथा कतिपय अन्य विद्वान् प्रो. कीथ के मत से सहमत नहीं हैं। उनका तो यह भी विचार है कि यदि न्यायसूत्र-न्यायभाष्य का सूक्ष्म अनुशीलन किया जाय तो ऐसा प्रतीत होता है कि न्यायसूत्रकार गौतम और न्यायभाष्यकार वात्स्यायन को भी स्वार्थ-परार्थ रूप दोनों अनुमान के भेद विदित ही रहे होंगे। क्योंकि यद्यपि न्यायसूत्रकार ने स्वार्थ-परार्थ शब्दों का प्रयोग नहीं किया है, तथापि पंचावयव रूप न्यायवाक्य का अनुमान पद्धति में उपयोग तो किया ही है,[४] जिससे स्वार्थ-परार्थ रूप अनुमान के भेदों का अनुमान किया जा सकता है, इसी प्रकार न्यायभाष्यकार जब यह कहते हैं कि—'न्याय प्रयोग से अनुमान किया है'[५]-तब भी स्पष्ट होता है कि वे स्वार्थ और परार्थ की भिन्नता को कहना चाहते

१. वेदान्तकारिकावली, टीका, पृ. २०
२. प्रशस्तपादभाष्य, पृ. १७३-१८४
३. इण्डियन लाजिक एटमिज्म-प्रो. कीथ, पृ. १०६-१०८, दिल्ली १९७७
४. न्यायसूत्र १.१.३२
५. न्यायभाष्य पृ. ३

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

हैं ।[१] अतः यह सिद्ध होता है कि स्वार्थ परार्थ अनुमान लक्षणों का स्पष्ट विवरण दिङ्नाग रचित 'प्रमाणसमुच्चय' से पूर्व 'प्रशस्तपादभाष्य' में ही उपलब्ध हुआ है ।

रामानुज वेदान्त की परम्परा के अनुसार बुच्चि वेंकटाचार्य ने भी अनुमान के स्वार्थ और परार्थ दो भेद ही स्वीकार किये हैं ।[२]

(i)स्वार्थानुमान

अनुमान करने वाले को स्वयं जिस अनुमान से अनुमिति हो, वह 'स्वार्थानुमान' कहलाता है ।[३] जैसे कोई मनुष्य बार बार रसोई घर आदि में धुआं और अग्नि को एक साथ रहते देखकर, 'जहां जहां धुआं रहता है, वहां वहां अग्नि रहती है'-इस तरह से व्याप्ति का निश्चय करने के बाद पर्वत के समीप जाकर-'इस पर्वत पर अग्नि है या नहीं'-इस प्रकार का सन्देह करता है । फिर लक्षण ही उस पर्वत पर धुएं को देखकर,'जहां धुआं रहता है, वहां आग निश्चित ही रहती है'-इस व्याप्ति का निश्चय करता है । इसके बाद उसे 'अग्नि व्याप्य धूमवाला यह पर्वत है'-ऐसा ज्ञान उपलब्ध होता है । इस ज्ञान से उसे, 'पर्वत पर अग्नि है'-यह ज्ञान होता है । यही स्वार्थानुमिति कहलाती है । अपनी अनुमिति का साधक होने से यह 'स्वार्थानुमान' हुआ ।[४]

(ii) परार्थानुमान

स्वयं धूमरूप हेतु से अग्नि का अनुमान करके दूसरे व्यक्ति को बोध कराने के लिए, 'पर्वतोऽग्निमान् धूमात्' इत्यादि पञ्चावयव वाक्य का जो प्रयोग किया जाता है, वह 'परार्थानुमान' है ।[५] जैसे—

प्रतिज्ञा — पर्वत पर अग्नि है ।

हेतु — धूम के रहने से ।

---

१. ए प्राइमरी आफ इण्डियन लाजिक-प्रो. कुप्पुस्वामी, पृ. २१७, मैलापुर (मद्रास) १९६१

२. वेदान्तकारिकावली, का. सं. ६-७, पृ. १९-२०

३. 'तत्र स्वार्थं स्वानुमितिहेतु' । -तर्कसंग्रह, पृ. ७५, काशी संस्करण

४. 'एवं स्वार्थानुमानस्य प्रपञ्चस्तु निरूपतः ।' -वेदान्तकारिकावली, का. ६

५. न्यायजन्यः परामर्शः परार्थानुमितेः कृते । -वेदान्तकारिकाली, २७

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

दृष्टान्त — जहां-जहां धूम रहता है, वहां-वहां अग्नि निश्चित रहती है, जैसे रसोई घर में।

उपनय — वैसे ही इस पर्वत पर भी वह्निव्याप्य धूम दिखलायी पड़ता है।

निगमन — इसलिए इस पर्वत पर अग्नि निश्चित रहती है।

इस प्रकार पंचावयव से कहे गए हेतु द्वारा दूसरे मनुष्य भी पर्वत पर अग्नि का अनुमान कर लेते हैं। अत: इसे 'परार्थानुमान' कहा जाता है।[१] 'वेदान्त-परिभाषा' में स्वार्थ परार्थ भेद से अनुमान दो प्रकार का बतलाया गया है।[२]

वस्तुत: अनुमान पद्धतियों की ओर ही संकेत करता है। क्योंकि कोई भी अनुमान जब स्वयं की शंकानिवृत्ति के लिए किया जाय तो वह 'स्वार्थ' तथा दूसरों की शंकाओं का परिहार करने के लिए किया जाय तो वह 'परार्थ' कहला सकता है। स्वार्थ में मानसिक तथा ज्ञानात्मक पद्धति द्वारा और परार्थ में शाब्दिक तथा उपदेशात्मक पद्धति द्वारा अनुमान प्रक्रिया सम्पन्न होती है। अत: अनुमान प्रकार की अपेक्षा इन्हें अनुमान प्रणाली कहना युक्ति-युक्त जान पड़ता है। दोनों पद्धतियों में व्याप्ति और पक्षधर्मता आदि ज्ञानों का होना अत्यावश्यक है। दोनों में अन्तर केवल इतना ही है कि प्रथम का स्वयं तक ही सीमित होने के कारण तत्काल ज्ञान हो जाता है, जबकि द्वितीय में परबोधनार्थ कुछ काल पश्चात् ज्ञान होता है।

३.१० पंचावयव

न्यायभाष्यकार वात्स्यायन के अनुसार साधनीय अर्थ का निश्चय करने के लिए, शब्दसमूहरूप कुछ वाक्यों का प्रयोग करना आवश्यक है और जिन प्रतिज्ञा आदि वाक्यों से साध्य की सिद्धि की जाती है, उनको समूह कीअपेक्षा से 'अवयव' कहते हैं।[३] अन्यत्र और भी स्पष्टता के साथ अवयव का लक्षण करते हुए उन्होंने कहा है कि तत्वार्थ साधक प्रतिज्ञा, साधक वाक्यों के भाग रूप एक देश को

---

१. 'वक्ष्यमाणं प्रतिज्ञादिपञ्चकं न्यायः। तज्जन्यः परामर्शः पर्थानुमितिं जनयति। न्यायावयवानाह-प्रतिज्ञा,हेतुः,उदाहरणम्,उपनयः,निगमनमिति पञ्चावयवाः।' -वेदान्त-कारिकावली,टीका,पृ.२१

२. वेदान्तपरिभाषा,पृ.१६६

३. न्यायभाष्य,पृ.४

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

'अवयव' कहते हैं ।[१] केशव मिश्र ने अनुमान वाक्य के एक देश को ही 'अवयव' कहा है ।[२]

न्याय-परम्परा में पांचों अवयवों-प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमन का प्रयोग आवश्यक माना गया है ।[३]

बुच्चि वेंकटाचार्य ने भी न्याय परम्परा को स्वीकार करते हुए पांचों अवयवों को उद्धृत किया है ।[४] जो कि निम्न प्रकार से हैं—

(१) प्रतिज्ञा

सिद्ध किये जाने वाले वस्तु का निर्देश करना प्रतिज्ञा है ।[५] जैसे—'पर्वतो-वह्निमान्'- यह वाक्य प्रतिज्ञा है ।

(२) हेतु

प्रतिज्ञा को सिद्ध करने के लिए जिस साधन का प्रयोग किया जाता है, उसे 'हेतु' कहते है । जैसे-प्रतिज्ञा के समर्थन में कहा जाता है कि पर्वतो वह्निमान् धूमवत्वात्-यहां अग्नि के समर्थन में 'धूमवत्वात्' हेतु है ।

(३) उदाहरण

साध्य और साधन के अविनाभाव सम्बन्ध अर्थात् व्याप्ति के साथ-साथ तत्समान उदाहरण प्रस्तुत करना 'उदाहरण' कहलाता है ।[६] जैसे-यो-यो धूमवान् स-स अग्निमान् यथा महानसः' । यहां 'महानस' उदाहरण है । उदाहरण साधर्म्य और वैधर्म्य भेद से दो प्रकार का होता है । 'यो-यो धूमवान् स स अग्निमान् यथा महानसः'-यह साधर्म्य उदाहरण है और 'यत्र यत्र अग्न्याभावः तत्र तत्र धूमाभावः-यथा-महाहृदः'-यह वैधर्म्य उदाहरण है ।

---

१. न्यायभाष्य-पृ.५१०

२. तर्कभाषा, पृ.२६९

३. न्यायसूत्र, सू.१.१.३२

४. 'प्रतिज्ञा, हेतुः,उदाहरणम्, उपनयः, निगमनमिति पंचावयवाः' । -वेदान्तकारिकावली, टीका, पृ.२१

५. वेदान्तकारिकावली,२८

६. वेदान्तकारकावली,२८

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

(४) उपनय

व्याप्तिविशिष्ट हेतु का प्रतिपादन करने वाले वाक्यांश को 'उपनय' कहते हैं—जैसे 'तथाचायम्-अग्निव्याप्यधूमवांश्चायं पर्वतः'। 'यह पर्वत वर्तमान में अग्नि के व्याप्य धूम से युक्त हैं-यह 'उपनय' है। उपनय भी साधर्म्य-वैधर्म्य भेद से दो प्रकार का होता है।

(५) निगमन

अनुमान के द्वारा प्रतिज्ञा-वाक्य की जो सिद्धि होती है, उसे 'निगमन' कहते हैं।[१] प्रथम अवयव 'प्रतिज्ञा' में जो बात स्थायी रूप से कही गयी थी, उसी को सिद्धान्त रूप से प्रतिष्ठापित करना 'निगमन' है। निगमन में प्रतिज्ञा वाक्य को दुहरा देते हैं। जैसे-'तस्मादग्निमान्' अर्थात् 'पर्वत पर अग्नि है—यह वचन 'निगमन' है।

१. वेदान्तकारकावली, २८

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

चतुर्थ-अध्याय

४.०० शब्द

४.०१ शब्द का लक्षण

गौतम के अनुसार आप्त पुरुष के वचन को 'शब्द प्रमाण' कहा जाता है ।[१] यथार्थ वक्ता को 'आप्त' पुरुष कहते हैं ।[२] लेकिन यह एक सामान्य बात है कि केवल वचन या वाक्य, पदार्थों के ज्ञान के लिए स्वयं में पर्याप्त नहीं होता और न वाक्य के शब्दों का प्रत्यक्ष ही पदार्थों का ज्ञान कराता है । यह तभी सम्भव होता है जबकि कोई सर्वप्रथम शब्दों का प्रत्यक्ष करता है, तदुपरान्त उनके अर्थ को समझता है, इस प्रकार जब शाब्दज्ञान की प्रामाणिकता आप्त-वाक्य पर आधृत होती है, तो वह वाक्य के अर्थ को समझना ही 'शाब्द ज्ञान' है । उस शाब्द-ज्ञान (शाब्द-बोध) का करण 'शब्द' है । तस्मात् शब्द ही 'शब्द-प्रमाण' है ।[३]

यदि 'प्र' उपसर्ग पूर्वक 'मा' धातु से भाव अर्थ में 'ल्युट्' प्रत्यय करने से 'प्रमीयते इति प्रमाणम्' व्युत्पत्ति से 'प्रमाण' शब्द सिद्ध करें तो प्रमा रूप अथवा ज्ञान रूप ही 'प्रमाण' होता है और इस 'प्रमाण' शब्द के व्युत्पत्यर्थ के अनुसार 'शाब्द बोध' प्रमाण अर्थात्-फलरूप ज्ञान ही होता है तथा इस फल रूप ज्ञान अर्थात् 'शाब्द बोध' का करण अर्थात् साधन परमाणु रूप शब्दों के अर्थ ज्ञान से सहमत प्रत्येक शब्द का ज्ञान, जो कि श्रोता में शब्द का वाक्यार्थ ज्ञान (शाब्दबोध) को उत्पन्न करता है-होगा ।[४]

---

१. (अ) आप्तोपदेशः शब्दः । न्यायसूत्र १.१.७)
   (ब) आप्तवाक्यं शब्दः ।-तर्कसंग्रह, पृ. १०१, काशी संस्करण

२. आप्तस्तु यथार्थवक्ता । -तर्कसंग्रह, पृ.१०१, काशी संस्करण

३. वाक्यार्थज्ञानं शाब्दज्ञानम् तत्करणं शब्दः । -तर्कसंग्रह, पृ. १०२, काशी संस्करण

४. शाब्दबोध, डा.मदनमोहन अग्रवाल पृ. १६, परिषद् पत्रिका, वर्ष २१, अंक १,

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

इस प्रकार से यह स्पष्ट है कि शब्द प्रमाण में द्विपदी क्रम है। सर्वप्रथम शब्द प्रमाण में आप्त पुरुष के वाक्य में शब्दों का प्रत्यक्ष होता है। जब वे शब्द किसी के द्वारा बोले जाते हैं तो उनका 'श्रोत्रज-प्रत्यक्ष' होता है और जब वे शब्द लिखे जाते हैं तो उनका 'चाक्षुष-प्रत्यक्ष' होता है। तदुपरान्त उन प्रत्यक्षीभूत शब्दों के अर्थ का बोध होता है। इस शाब्दबोध से ही पदार्थों का ज्ञान होता है। यह शाब्दबोध ही 'शब्द प्रमाण' का 'करण' है, जो कि वाक्य-सम्बन्धी अर्थों के स्मरण रूप व्यापार से पदार्थों का ज्ञान कराता है।[१]

अतः 'शब्द-प्रमाण' प्रत्यक्ष से भिन्न है, क्योंकि प्रत्यक्ष इन्द्रियार्थ-संसर्ग से होता है। इसी प्रकार शब्द 'अनुमान' से भी भिन्न है, क्योंकि अनुमान में व्याप्ति-ज्ञान रहता है। जबकि 'शब्द प्रमाण' वाक्यार्थ ज्ञान से सिद्ध होता है।

बुच्चि वेंकटाचार्य के अनुसार अनाप्त के द्वारा अनुक्त वाक्य 'शब्द प्रमाण' कहलाता है।[२] इस लक्षण में वाक्य के दो विशेषण प्रस्तुत किये गये हैं—'अनाप्त' और 'अनुक्त'।

'अनाप्त' पद का प्रयोग 'आप्त' के निराकरण के लिये किया गया है। क्योंकि आप्त वाक्य कहने से वेद का ग्रहण नहीं होता, इसलिए कि वेद 'अपौरुषेय' होते हैं। वेद ईश्वर द्वारा भी रचित नहीं है, ईश्वर भी वेद के प्रवर्तयिता है, अतः लक्षण में प्रयुक्त अनाप्त वाक्य से तात्पर्य मात्र वेद ही है। 'अनुक्त' पद से लौकिक वाक्यों को दूर रखा गया है। क्योंकि वेद वाक्य अलौकिक होने से अनुक्त ही है।

अतः वेंकटाचार्य के मत में वेद वाक्य ही 'शब्द प्रमाण' है।[३] शब्दों की नित्यता वेदों की नित्यता नहीं है। शब्द नित्य नहीं होते हैं। वैदिक-साहित्य के शब्द ही नित्य होते हैं। वेदवाक्य स्वतः आप्त और प्रामाण्य हैं। वेद वाक्यों की प्रामाणिकता किसी दिव्य पुरुष के लिखे जाने से सिद्ध नहीं होती, जैसा कि न्याय स्वीकार करता है।[४] वास्तव में दिव्य सत्ता के ज्ञान से अधिक वेदों की प्रामाणिकता

पटना-१९८१

१. पदज्ञानं तु करणं द्वारं तत्र पदार्थधीः। -न्याय सिद्धान्त मुक्तावली, ८१, पृ. २९१

२. 'अनाप्तानुक्तवाक्यं यत्तच्छाब्दकरणं स्मृतम्।'-वेदान्तकारिकावली, का.सं. १, पृ. २२

३. वेदान्तकारिकावली, टीका, पृ. २२

४. तर्कभाषा, पृ. १११

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

सिद्ध है । वेंकटाचार्य के मत में स्मृतियां भी शब्द प्रमाण के अन्तर्गत आती हैं । क्योंकि वे वैदिक साहित्य के सत्य का ही प्रतिपादन करती हैं ।

यदि मीमांसक यह शंका करें कि शब्द की कार्यपरता होने के कारण ही उसकी प्रामाणिकता स्वीकार की जा सकती है तो सिद्ध ब्रह्म का ज्ञान कराने वाले वेदान्त के वाक्यों की प्रामाणिकता कैसे सिद्ध होगी ? इसका उत्तर यह है कि शब्द प्रमाण के लिए कार्य-परता स्वीकार करना उचित नहीं है, क्योंकि माँ या पिता इस प्रकार से संकेतपूर्वक बच्चे को व्युत्पत्ति संभव होने से कार्यपरता का नियम निर्वाहित नहीं होता है । बाल व्युत्पत्ति में कार्यपरता नहीं रहती है, इसी प्रकार सिद्ध ब्रह्म में व्युत्पत्ति रहने के कारण कार्यपरता की हानि हो जाती है । अतः वेदान्त वाक्यों में प्रामाणिकता की शंका नहीं करनी चाहिए । जहां पर व्युत्पत्ति संभव होगी, वहां कार्यपरता का नियम नहीं रहेगा ।[१]

४.०२ वाक्यार्थ-ज्ञान के करण

आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि-ये वाक्यार्थ ज्ञान के करण कहे गये हैं ।

(१) आकांक्षा

वाक्य में एक पद को दूसरे पद की अपेक्षा रहती है । अर्थात् जहां दूसरे पद के बिना एक पद का अर्थ ज्ञान न हो, ऐसे पदों के सम्बन्ध को 'आकांक्षा' कहते हैं ।[२] जैसे-कोई व्यक्ति कहता है कि 'आनय'-(लाओ) इस पद के सुनने के बाद तुरन्त जिज्ञासा होती है कि क्या ? इस आकंक्षा की पूर्ति केवल 'आनय' क्रियापद से नहीं होती, बल्कि 'घटम्' (घड़ा) पद के सम्बन्ध से हो जाती है, क्योंकि ये दोनों पद परस्पर सापेक्ष हैं । इसी प्रकार के कारक पदों से कोई अर्थ ज्ञान नहीं होता, उसके लिए क्रियापद अपेक्षित है । केवल पदों का समूह, जैसे 'गौः, अश्वः, पुरुषः, हस्ती' वाक्यार्थ ज्ञान (शाब्दबोध) नहीं करा सकता, क्योंकि ये परस्पर आकांक्षा नहीं रखते ।

---

१. तर्कसंग्रह, पृ. ११०, काशी संस्करण

२. 'येन पदेन विना यत्पदस्यान्वयाननुभावकत्वं तेन पदेन सह तस्याकाङ्क्षेत्यर्थः।' -न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, श्री बालमनोरमा सीरिज,नं. ६, मैलापुर (मद्रास), सन् १९२३ ई. पृ. ६३८

CC0. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

(२) योग्यता

एक पद का दूसरे पद के साथ संगति (सामंजस्य) रखना 'योग्यता है ।[१]जैसे-'अग्निना सिंचेत्' (अग्नि से सींचना चाहिए) इस वाक्यमें 'अग्नि' और 'सिंचन' पदों में परस्पर सामंजस्य नहीं है । क्योंकि अग्नि से सींचने का कार्य असम्भव है, सींचने का कार्य तो जल से होता है । अतः इन पदों में योग्यता न होने से युक्त वाक्य से 'शाब्दबोध' नहीं हो सकता ।

(३) सन्निधि

सन्निधि को आसत्ति भी कहते हैं । पदों का बिना विलम्ब के उच्चारण करना 'सन्निधि' है ।[२] जैसे-कोई व्यक्ति 'देवदत्त' उच्चारण करने के दो घण्टे बाद 'घटम्' पद का उच्चारण करता है और उसके दो घण्टे बाद 'आनय' पद का उच्चारण करता है, तब यह वाक्य सम्बद्ध अर्थ का ज्ञान (शाब्दबोध) नहीं करा सकता । यदि ये पद बिना विलम्ब के एक साथ उच्चारण किये जायें-'देवदत्त घटमानय' (देवदत्त ! घड़ा लाओ), तो सम्बद्ध अर्थ का बोध (शाब्दबोध) करा सकते हैं ।

४.०३ शब्दशक्ति

नैयायिकों[३] और प्रभाकर मीमांसकों[४] के समान वेंकटाचार्य शब्दशक्ति दो प्रकार की करते हैं—(१) अभिधा और (२) उपचार ।

(१) अभिधा

व्युत्पत्ति से सिद्ध अर्थ के बोध कराने में शब्द का जो व्यापार होता है, वह 'अभिधा' कहलाता है ।[५] जैसे-घटशब्दः कलशबोधकः' अर्थात् घट का अर्थ घड़ा है, न कि 'घटत इति घटः' होगा । अभिधा शक्ति जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा (द्रव्य) के विषय-भेद से चार प्रकार की होती है ।[६]

---

१. 'एकपदार्थे परपदार्थसम्बन्धो योग्यतेत्यर्थः ।' न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, पृ. ६३२

२. 'पदानामविलम्बेनोच्चारणं सन्निधिः ।' -तर्कसंग्रह, पृ. १११

३. तर्कसंग्रह, पृष्ठ १०१-१०५ ।

४. मानमेयोदय, पृष्ठ ९६-१०५ ।

५. वेदान्तकारिकावली, कारिका १३ ।

६. न्यायपरिशुद्धि, पृष्ठ २३८ ।

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

'गौ' इस शब्द की प्रवृत्ति 'जातिगत' कहलाती है। 'शुक्ल' इस शब्द की प्रवृत्ति 'गुणगत' होती है। 'गच्छति' इस शब्द की प्रवृत्ति 'क्रियागत' होती है। और 'डित्थ' आदि संज्ञा रूप शब्द की प्रवृत्ति 'द्रव्यगत' कहलाती है।

अभिधा के तीन अन्य भेद भी हैं—योग, रूढ़ि तथा योगरूढ़ि।[१] 'योग' अवयव शक्ति है। यौगिक शब्द वह होता है, जो केवल अपने अवयवों के अर्थ को ही बताता है। जैसे-'अध्येतृ' में तीन अवयव हैं—'अधि' (उपसर्ग) + ई (धातु) + तृ (कर्तरि प्रत्यय)। इसका अर्थ है-जो अध्ययन करता है, 'रूढ़ि' समुदाय शक्ति है, जहां अर्थ समुदाय (रूढ़ि) से प्रकट होता है, न कि अवयवों से। जैसे-'घट' का अर्थ 'घड़ा' है, न कि 'घटत इति घट:' होगा। 'योगरूढ़' शब्द वे होते हैं, जो यौगिक अर्थ को बताते हैं। लेकिन एक विशिष्ट वस्तु के लिये (समुदाय (रूढ़ि) से नियमित कर दिये जाते हैं। जैसे-'पंकज'-वह वस्तु जो कीचड़ में पैदा होती है, पंकज है। यह पंक में उत्पन्न होने वाली कुछ भी वस्तु हो सकती है, लेकिन रूढ़ि में 'पंकज' कमल ही कहलाता है, क्योंकि योग से रूढ़ि बलवती होती है, कतिपय वैयाकरणों ने चौथा भेद 'यौगिरूढ़ि'[२] स्वीकार किया है। 'यौगिक रूढ़ि' शब्द वे हैं, जो अवयव शक्ति या समुदाय शक्ति से स्वतन्त्र रूपेण दोनों अर्थ ग्रहण कर सकते हैं। जैसे-'स्वयम्भू'-'स्वयं भवति इति' (अवयव-शक्ति से) जो स्वयं जन्म लेता है, वह (समुदाय शक्ति से) ब्रह्मा होगा। यहां दोनों ही अर्थ ग्राह्य हैं। कोई भी एक अर्थ किसी एक विशिष्ट वस्तु के लिये नियमित नहीं है।

(२) उपचार

मुख़्यार्थ का बाध होने पर उस मुख्यार्थ की आसत्ति (समीपता) में जो वृत्ति होती है, उसे 'उपचार' कहते हैं। आसत्ति (समीपता) दो प्रकार की होती है—मुख्यार्थ सम्बन्ध आसत्ति और मुख्यार्थ गुण-सम्बन्ध आसत्ति। यहां वेंकटाचार्य 'उपचार' (लक्षणा) के लक्षण के विषय में आचार्य मुकुल भट्ट से प्रभावित दिखायी पड़ते हैं। क्योंकि वेंकटाचार्य ने मकुल भट्ट के 'मुख्यार्थ संभव' पद को 'मुख्यार्थ बाध' के रूप में स्वीकार कर लिया है तथा 'मुख्यार्थासत्ति' शब्द को ज्यों का त्यों ग्रहण कर

---

१. न्यायपरिशुद्धि- पृ० २३८।
२. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, पृ. ३१८-३१९

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

लिया है।[१] 'लक्षणा' के लिए 'उपचार' शब्द का प्रयोग वेंकटाचार्य की अपनी नवीनता है। मुकुट भट्ट ने 'लक्षणा' के सम्बन्ध में उपचार शब्द का प्रयोग किया है, वे लक्षणा के दो भेद करते हैं—शुद्धा एवं उपचारमिश्रा। पुनः वे शुद्धा के दो भेद-उपादाना तथा लक्षणलक्षणा एवं उपाचरमिश्रा के शुद्धोपचार तथा गौणोपचार दो वर्ग वनाते हुए सारोपा तथा साध्यवसाना रूप में चार भेद, इस प्रकार लक्षणा के कुल छः भेद करते हैं। इस प्रकार उन्होंने 'उपचार' शब्द का प्रयोग लक्षणा के शब्दा और गौणी भेद के साथ किया है।[२]

आचार्य मम्मट ने भी मुकुल भट्ट से प्रभावित होकर 'लक्षणा' के सन्दर्भ में 'उपचार' शब्द का प्रयोग किया है। लेकिन उन्होंने उपचार को शुद्धा' तथा 'गौणी' लक्षणा का भेदक धर्म माना है। उपचार से अमिश्रित लक्षणा को 'शुद्धा' तथा उपचार से युक्त लक्षणा को 'गौणी' कहा है।[३] उनके मत में 'अत्यन्त भिन्न' दो पदार्थों में अतिशय सादृश्य के कारण उनके भेद की प्रतीति न होना उपचार है।[४] जबकि मुकुलभट्ट अन्य के लिये शब्द के प्रयोग को 'उपचार' कहते हैं। जहां अन्य के लिये अन्य वाचक शब्द का प्रयोग सादृश्य के कारण होता है, वहां 'गौणोपचार' होता है और जहां सादृश्येतर समन्वय कार्यकारण भाव आदि के कारण अन्य के लिये अन्य शब्द का प्रयोग होता है, यहां शुद्धोपचार होता है।[५] इस प्रकार मुकुल भट्ट ने मम्मट से सर्वथा भिन्न 'उपचार' के भी शुद्ध और गौण रूप होने से उपचार को शुद्धा तथा गौणी लक्षणा का भेदक धर्म स्वीकार नहीं किया है।[६] लगता है कि वेंकटाचार्य ने 'उपचार' शब्द को मुकुल भट्ट से ही ग्रहण किया है, क्योंकि वे भी मुकुल भट्ट की तरह शुद्धा गौणी लक्षणा के लिए 'उपचार' शब्द का प्रयोग तो करते हैं, लेकिन मुकुल भट्ट से एक कदम और आगे वे उपादान लक्षणा और लक्षित

---

१. 'मुख्यार्थसम्भवात्सेयं मुख्यार्थासन्ति हेतुका'। -अभिधावृन्तमातृका, मुकुलभट्ट, पृ. ५०,क्रा.९ (सं.डा.रेवाप्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा संस्करण, १९७३

२. अभिधावृत्तमातृका, पृ.२०

३. काव्यप्रकाश-मम्मट, पृ.५१-५७ (सं. आचार्य विश्वेश्वर, वाराणसी, सं.२०२८

४. काव्यप्रकाश-वालवोधनी, पृ.४०, पूना १९६५

५. अभिधावृत्तमातृका, पृ.२०

६. भावप्रकाशन, (सं.) डा.मदनमोहन अग्रवाल, टिप्पणी, पृ.५१०-५११, चौखम्बा संस्करण, वाराणसी, १९८३

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

लक्षणा को भी उपचार कहते हैं, अर्थात् वेंकटाचार्य समस्त भेदों से युक्त 'लक्षणा' को भी 'उपचार' कहते हैं ।

मुख्यार्थ के सम्बन्ध से आसत्ति (समीपता) रखने वाली वृत्ति प्रथम प्रकार की 'उपचार' शब्द शक्ति है जिसे अन्य साहित्यशास्त्रियों ने 'उपादान-लक्षणा' कहा है । जैसे 'गंगायां घोषः प्रतिवसति' अर्थात् 'गंगा में घोष रहते हैं ।'

यहां गंगा शब्द के प्रवाह-विशेष मुख्यार्थ से सम्बन्धित 'तीर' में वृति लक्षित होती है । इसी प्रकार लक्षित-लक्षणा होती है । जैसे 'द्विरेक' अर्थात् दो रेफ (रकार) रूप अर्थ में शक्त पद की 'भ्रमर' पद से घटित परम्परा सम्बन्ध से 'मधुकर' रूप अर्थ में वृत्ति है ।

मुख्यार्थ के गुण के सम्बन्ध से आसत्ति (समीपता) रखने वाली वृत्ति द्वितीय प्रकार की 'उपचार' शब्द-शक्ति है जिसे वेंकटाचार्य 'गौणी' कहते हैं ।

यहां वेंकटाचार्य अन्य सभी साहित्यशास्त्रियों से समानता रखते हैं । 'गौणी' उपचार वृत्ति का उदाहरण है—'सिंहो देवदत्तः' अर्थात् 'देवदत्त सिंह है'-इस वाक्य में सिंह शब्द का वाक्यार्थ (मुख्यार्थ) सिंह पशु है, उसके साथ सम्बद्ध रहने वाले शौर्य-कार्य आदि गुण रूप सम्बन्ध से देवदत्त की प्रतीति होती है ।

४.०४ वेद के दो भाग

चूंकि रामानुज वेदान्त में वेद ही शब्द प्रमाण है, अतः उनके सन्दर्भ में भी यहां कुछ कहना समीचीन होगा ।

वेद के दो भाग हैं—पूर्व भाग जिसे कर्मकाण्ड कहते हैं, उत्तर भाग जिसे ब्रह्मकाण्ड कहते है । वेद के पूर्व भाग में कर्म विवेचन है और उत्तर भाग में ब्रह्म विवेचन है । वेद के दो भेद होने पर भी ये दो नहीं है, क्योंकि वेद की एकता ही स्वीकार्य है, कहने मात्र के लिये ही दो भाग कहलाते हैं । व्याख्या की दृष्टि से भी कर्ममीमांसा और ब्रह्ममीमांसा पृथक् पृथक् नहीं है, वहां भी एकशास्त्रता है, इसी प्रकार पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा, वेद की एकता के कारण एक ही है, जैसे ब्रह्म सूत्र के समन्वय, अविरोध, साधन और फल-ये चार विषय भेद हैं, लेकिन ये चारों चूंकि ब्रह्ममीमांसा को ही स्पष्ट करते हैं, अतः एक ही हैं ।[१]

---

१. कर्म ब्रह्माभिधायित्वात्स च भागद्वयात्मकः । पूर्वभागः कर्मपर उत्तरो ब्रह्मगोचरः । -वेदान्तकारिकावली, का. ३

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

रामानुज वेदान्त के अनुसार ब्रह्मसूत्र के प्रथम सूत्र-'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' के भाष्य में अथ शब्द की जब व्याख्या की गयी है तो वहां भी कर्ममीमांसा के पश्चात् ब्रह्म-जिज्ञासा स्वीकार्य की गयी है। क्योंकि अध्ययनविधि में वेद के अध्ययन के साथ वेद के षडङ्गों का भी अध्ययन किया जाता है और कोई भी अध्येता अध्ययन में रागतः या विधितः समस्त वेदार्थ विचारमें प्रवृत्त होता है, तब सबसे पहले कर्म मीमांसा में ही प्रवृत होता है। उसके बाद जब वह अध्येता कर्ममीमांसा का सूक्ष्म अध्ययन कर लेता है और यह समझ लेता है कि कर्म का फल अल्प और अस्थिर है तो अनल्प स्थिर फल की जिज्ञासा से मीमांसा में प्रवृत्त होता है, अतः स्पष्ट है कि रामानुज वेदान्त में वेदाध्ययनविधि में पूर्व में कर्ममीमांसा होती है, तदुपरान्त ब्रह्म मीमांसा होती है। आचार्य रामानुज इस प्रकार ज्ञानकर्म-समुच्चय को स्वीकार करते हैं। यदि कोई यह शंका करे कि कर्म और ज्ञान में विरोध है क्योंकि कर्म अविद्या के कारण पुरुष के द्वारा किये जाते हैं, लेकिन तत्वज्ञान अविद्या के नष्ट होने पर प्राप्त होता है।

कर्म और ज्ञान के बीच प्रकाश और अन्धकार की तरह परस्पर विरोध है, उन दोनों में किसी भी प्रकार समुच्चय भाव नहीं हो सकता। अतः कर्ममीमांसा, ज्ञान मीमांसा एक नहीं हो सकते। रामानुज वेदान्त के अनुसार यह शंका ही निराधार हैं। उनके मत में कर्म और ज्ञान के बीच समान समुच्चय असंभव होने पर भी अंगांगिभाव से समुच्चय संभव है। अनन्त स्थिर फल की विशेषता के कारण किये गये कर्मों में ज्ञानोत्पत्ति विरोधी पाप समूह के नष्ट हो जाने के कारण कर्म ज्ञान की अतिकर्तव्यता को प्राप्त होते हैं। अतः भगवदाराधन रूप कर्म का प्रतिपादन करने वाला पूर्वकाण्ड है, उत्तर काण्ड तो समस्त कर्मों से समाराध्य भगवान् के प्रतिपादन करने वाला है। ऐसे स्थल पर कर्म और ज्ञान में विरोध कहां है। रामानुज वेदान्त में कर्ममीमांसा और ज्ञान मीमांसा की एक शास्त्रता ही है।[१]

४.०५ द्विविध-वेद-भाग के तीन प्रकार

पूर्वलिखित द्विविध वेद—कर्ममीमांसा और ज्ञान मीमांसा को प्रकारान्तर से तीन प्रकार से और विभाजित किया जा सकता है—(१) मंत्र, (२) अर्थवाद, और (३) विधि।[२]

१. वेदान्तकारिकावली, टीका, पृ. २३-२५
२. विध्यर्थवादमन्त्रात्मा त्रिविधः स प्रतीयते। -वेदान्तकारिकावली-का. सं. ५.

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

(i) मंत्र

मंत्र अनुष्ठान में समवेत द्रव्य, देवता, क्रिया आदि पदार्थों के प्रकाशक होते हैं।[१] इस प्रकार से पदार्थों को प्रकाशक करने में ही मन्त्रों की सार्थकता है, मंत्रों के पाठ से अनुष्ठान में समवेत पदार्थों का स्मरण किया जाता है।

(ii) अर्थवाद

किसी भी पुरुष को प्रवृत्ति और निवृत्ति में लगाने और हटाने वाले कथन को अर्थवाद कहते हैं।[२] जैसे-'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता'-यह अर्थवाद वाक्य वायु में पुरुष को प्रवृत्ति उत्पन्न करता है। 'सोऽरोदीत' यह अर्थवाद वाक्य पुरुष को रजत दान आदि में पुरुष की निवृत्ति बताता है।

प्रशंसा तथा निन्दापरक वाक्य को अर्थवाद कहा जाता है। विधेय पदार्थ की प्रशंसा और निषेध्य पदार्थ की निन्दा करता हुआ वाक्य अर्थवाद प्रवृत्ति-निवृत्ति में सहायक होता है। लेकिन यह कार्य अभिधा द्वारा सम्पन्न न होकर लक्षणा द्वारा सम्पन्न होता है।

भाव यह है कि विधेय प्रशंसा और निषेध्य-निंदा 'अर्थवाद' वाक्य का वाच्यार्थ नहीं होता, वह लक्षणाबोधित अर्थ होता है। वस्तुतः अर्थवाद वाक्यका अपने वाक्यार्थ में कोई प्रयोजन नहीं होता। उदाहरण के लिए वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' इस अर्थवाद वाक्य का प्रयोजन 'वायु सबसे अधिक शीघ्रगामी देवता है' इस वाच्यार्थ में नहीं है। प्रश्न होता है-क्यों ? उत्तर है-कि 'अर्थवाद वाक्य भी वेद का एक भाग है। सम्पूर्ण वेद का तात्पर्य धर्म में निहित है। वे सभी यागादि क्रिया के प्रतिपादक हैं।' अतः उपर्युक्त अर्थवाद वाक्य का भी प्रयोजन यागादिपरक ही होना चाहिये। हां यह प्रयोजन लक्षणाबोधित हैं, क्योंकि अर्थवाद वाक्य लक्षणा द्वारा विधेय की प्रशंसा और निषेध्य की निन्दा से परम्परया प्रवृत्ति-निवृत्ति-क्रियापरक ही होते हैं।

---

१. 'अनुष्ठेयार्थगमको मंत्रः स्यात्।' -वेदान्तकारिकावली, का.सं.५

२. (अ) 'अर्थवादगीः प्रवृत्युत्तम्भिकाया स्यात्।' -वेदान्तकारिकावली, का.६
(ब) अर्थवादो नाम पुरुषप्रवृत्तिनिवृत्युत्तम्भकं वचनम्। -टीका, पृ.२५

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

यहां प्रश्न होता है कि यदि अर्थवाद वाक्य मात्र प्रशंसा अथवा निंदापरक होते हैं तब तो उनका प्रयोजन नहीं है अर्थात् वे निरर्थक हैं ? उत्तर है नहीं, क्योंकि स स्वाध्यायोऽध्येतव्यः 'यह विधि सम्पूर्ण वेद का अध्ययन करने का विधान करती है। अर्थवाद वाक्य भी विधि, मंत्र, नामधेय, निषेध-अर्थवाद रूप वेद का ही एक भेद होते हैं। और सम्पूर्ण वेद का अभिप्राय प्रयोजनवद् अर्थ (धर्म) में ही रहता है, वह क्रियापरक ही है। अतः अर्थवाद वाक्य निरर्थक नहीं माने जा सकते। वे विधेय की प्रशंसा तथा निषेध्य की निंदा कर श्रोता को विधेय में प्रवृत्त करते हैं और निषेध्य से निवृत्त करते हैं ताकि उसे इष्ट की प्राप्ति हो सके और अनिष्ट से वह बच सके।

निषेधवाक्य द्वारा निषेध्य पदार्थ की निन्दा करने वाला अर्थवाद 'निषेध शेष' कहा जाता है। यह निषेधवाक्य का पूरक वाक्य ही होता है। उदाहरण के लिए 'बर्हिषि रजतं न देयम्' एक निषेधवाक्य है। यह निषेधवाक्य यज्ञ में चांदी की दक्षिणा का निषेध करता है। यहां 'रजतदान' निषिद्ध है। इसकी निन्दा करने वाला 'सोऽरोदीत् यदरोदीत् ततरुदस्य रुद्रत्वम्' यह अर्थवाद वाक्य है। इस अर्थवादवाक्य का अपने वाच्यार्थ में कोई प्रयोग नहीं है, किन्तु लक्षणा से यह बताता है कि रोने से जो आंसू गिरे, वही रजत है। अतः यदि यज्ञ में उस रजत का दान किया जाएगा तो घर में रोने का प्रसंग उठ खड़ा होगा। इस प्रकार यह अर्थवाद वाक्य उक्त निषेधवाक्य का पूरा वाक्य बनता हुआ निषेध्य की निंदा कर अनुष्ठाता को उससे विमुख करता है।

यहां प्रश्न होता है कि विधेय के प्राशस्त्यज्ञान और निषेध्य के निन्दित्वज्ञान का क्या प्रयोजन है ? उत्तर बहुत ही सीधा है। विधेय की प्रशंसा सुनकर आलसी व्यक्ति भी विधेयानुष्ठान में प्रवृत्त हो जाता है, जिससे उसे इष्ट की प्राप्ति हो जाती है। इसी प्रकार निषेध्य की निन्दा सुनकर अत्युत्साही व्यक्ति भी उससे निवृत्त हो जाता है, और ऐसा करके वह अनिष्ट से बच जाता है। इस प्रकार विधेय की प्रशंसा का ज्ञान-ज्ञापन तथा निषेध्य की निन्दा का ज्ञान-ज्ञापन व्यर्थ नहीं होता।[१]

---

१. अर्थसंग्रह (हिन्दी व्याख्याकार) डा.सत्यप्रकाश शर्मा, साहित्य भंडार, मेरठ, पृ. १९५-१९७

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

(iii) विधि

विधि में पुरुष को याग आदि अनुष्ठानों, कर्मों के प्रति प्रवृत्ति होती है। अतएव, विधि वेद का प्रमुख अंश है।[१] विधि के तीन भेद माने गये हैं—(१) अपूर्व विधि, (२) नियम विधि, और (३) परिसंख्या विधि।[२]

(१) अपूर्व-विधि

अत्यन्त अप्राप्त पदार्थ का विधान करने वाली विधि को 'अपूर्व-विधि' कहते हैं।[३] अर्थात् अन्य प्रमाणों से जिस पदार्थ का विधान नहीं हुआ, रहता उस पदार्थ का विधान करने वाली विधि को 'अपूर्व-विधि' कहते हैं।[४] जैसे-'यजेत स्वर्गकाम:' यह अपूर्व विधि है। कारण, जिस याग का विधान अन्य किसी प्रमाण से नहीं होता है, ऐसे स्वर्गफलक याग का विधान यह विधि करती है। विधि के पूर्व विभाजन में इसी विधि को 'उत्पत्तिविधि' या प्रधानविधि कहा गया है।

(ब) नियम-विधि

पदार्थ की पाक्षिक अप्राप्ति होने पर तद्विधायक वाक्य को 'नियम-विधि' कहते हैं।[५] अर्थात् अनेक साधनों से सिद्ध होने के योग्य क्रिया की सिद्धि जब अनभिप्रेत साधन द्वारा होने लगती है, तब जिस अभिप्रेत साधन की प्राप्ति नहीं हो रही थी, उसकी प्राप्ति कराने वाली विधि को 'नियम विधि' कहते हैं।[६] जैसे-'ब्रीहीन-वहन्ति' वाक्य को नियम-विधि माना जाता है। 'ब्रीहीनवहन्ति' का अर्थ है—'धान कूटना चाहिये।' धान से भूसी हटाने के अनेक साधन हो सकते हैं। जैसे-'पत्थर से रगड़ कर भूसी हटाना।' नाखूनों से धानों को छील कर भूसी हटाना' आदि। इसी प्रकार अन्य साधनों से भी तुषविमोक हो सकता है। जब 'अवहनन' (कूटने)

---

१. (अ) 'विधिर्वाक्यं प्रवर्तकम्।-वेदान्तकारिकावली, का. ६
(ब) 'पुरुषस्य कर्मणि प्रवर्तकं वाक्यं विधिः'। -वेदान्तकारिकावली टीका, पृ. २५'

२. 'स त्रिधापूर्वनियमपरिसंख्याविभेदतः।' -वेदान्तकारिकावली, का. सं. ६

३. 'विधिरत्यन्तमप्राप्तो'। तन्त्रवार्तिक, १-२-३४

४. 'प्रमाणान्तरेणाप्राप्तस्य प्रापको विधिरपूर्वविधिः।' -अर्थसंग्रह, पृ. ९३

५. 'नियमः पाक्षिके सति'-तन्त्रवार्तिक, १-२-३४

६. 'नानासाधनसाध्यक्रियायामेव साधनप्राप्तावप्राप्तस्यापरसाधनस्य-प्रापको विधिर्नियमविधिः।' -अर्थसंग्रह, पृ. ९२-९३

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

के अतिरिक्त अन्य किसी साधन की प्राप्ति होने लगती है, तब अप्राप्त अवहनन का विधान 'व्रीहिनवहन्ति' विधि वाक्य द्वारा किया जाता है ।

अभिप्राय यह है कि अवहनन का विधान केवल तुषविमोचन के लिए नहीं है । उक्त उदाहरण में अन्य साधनों के प्राप्त होने पर जब विकल्प में अवहनन की अप्राप्ति होने लगती है, तब अप्राप्त अवहनन के विधान से अप्राप्त अंश की पूर्ति की गयी है । अप्राप्त अंश की यही पूर्ति 'नियम' भी कही जाती है । इस अंश की पूर्ति मुख्य क्रिया की सर्वांगीणता के लिए परमावश्यक थी, क्योंकि इसके अभाव में सांगक्रिया अनुष्ठित न होने के कारण फलदायिनी नहीं हो सकेगी । अत: नियम विधि का लक्षण 'नियम: पाक्षिके सति' दिया है । इसमें 'नियम:' नियम विधि का वाचक है और 'पाक्षिके सति' उसका संक्षिप्त लक्षण है । लौगाक्षिभास्कर ने इसकी व्याख्या-'पक्षे प्राप्तस्य प्रापको विधिर्नियम विधि:' की है । इसका अर्थ है-वैकल्पिक पक्ष में अप्राप्त पदार्थ का विधान करने वाली विधि 'नियम विधि' है । लौगाक्षि भास्कर ने 'अनेक साधनों से साध्य क्रिया में किसी एक साधन के प्राप्त रहने से अप्राप्त दूसरे साधन का विधान करने वाली विधि' को नियम-विधि कहा है ।[१]

(स) परिसंख्या-विधि

यदि दोनों वैकल्पिक पदार्थों की युगपत् प्राप्ति हो रही हो, तो दोनों में एक विशेष पदार्थ की निवृत्ति की बोधक विधि को 'परिसंख्या-विधि' कहा जाता है ।

'परि' उपसर्ग का अर्थ 'वर्जन' और 'संख्या' शब्द का अर्थ 'बुद्धि' होता है, अतएव 'परिसंख्या' शव्द का अर्थ-'वर्जनबुद्धि' हुआ । 'वर्जनबुद्धि' को उत्पन्न करने वाली विधि को 'परिसंख्या-विधि' कहा जाता है । परिसंख्या विधि का सर्वाधिक प्रचलित उदाहरण 'पंच पंचनखा भक्ष्या:' है । इस वाक्य का सरल अर्थ यह है कि 'पंजेवाले पांच जीव-(१) खरगोश, (२) साही,) (३) गोह, (४) गैंडा, और (५) कठुआ-ब्राह्मण और क्षत्रिय के लिए भक्ष्य हैं, अर्थात् ब्राह्मण और क्षत्रिय को चाहिये कि वे इन पांच जीवों को खाएं । किन्तु 'पंच पंचनखा भक्ष्या:' का परिसंख्या-विधिबोध्य अर्थ है-'पंच पंचनख के अतिरिक्त जीवों का भक्षण नहीं करना चाहिए ।' इस प्रकार, यहां विधिश्रुति 'पंच पंचनख-भक्षण' की निवृत्ति ही

१. अर्थसंग्रह-(हिन्दी व्याख्याकार) डा.सत्यप्रकाश शर्मा, साहित्य भंडार, मेरठ, पृ. १४६-१४७ ;

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

अर्थ है। बुभुक्षित व्यक्ति में किसी भी जीव का भक्षण करके अपनी बुभुक्षा को शान्त करने की प्रवृत्ति स्वभावत: पायी जाती है। चाहे वे जीव उक्त 'पंच पंचनख' के अन्तर्गत हों या तदतिरिक्त 'अपंच पंचनख' के अन्तर्गत।

यहां प्रश्न होता है कि पांच पंचनख प्राणियों के भक्षण का विधान करने के कारण उक्त विधि को अपूर्व अथवा उत्पत्ति विधि क्यों न मान लिया जाये? उत्तर है-नहीं। क्योंकि उक्त वाक्य वस्तुत: पंचनखभक्षण का विधान नहीं करता। पंचनखभक्षण तो मनुष्य को क्षुधा-राग आदि से स्वत: ही प्राप्त है। उसके लिए किसी विधायक वाक्य की आवश्यकता नहीं है। फिर, अपूर्व विधि किसी अत्यन्त अप्राप्त पदार्थ का विधान करती है। किन्तु यहां तो वैसी भी स्थिति ही नहीं है, क्योंकि शशकादि पंचनख जीव भी पंचनखों के अन्तर्गत है। अत: 'पंचनखभक्षण' की प्राप्ति हो जाने के कारण वह (पंचनखभक्षण) अप्राप्त नहीं रह जाता।

भाव यह है कि यहां शशकादि पंचपंचनखों का भक्षण और शशकादि पंचभिन्न पंचनखों का भक्षण एक ही साथ प्राप्त है, अत: पक्ष में 'पंचपंचनखभक्षण'-अप्राप्त नहीं होने से 'नियम विधि' भी नहीं मानी जा सकती—क्योंकि नियम विधि तो पक्ष में अप्राप्त पदार्थ का विधान करती है।

परिसंख्या विधि श्रोती और लाक्षणिकी भेद से दो प्रकार की होती है। परिसंख्या विधि का मूल तात्पर्य 'निवृत्ति' में पर्यवसित होता है। यह निवृत्ति दो प्रकार की होती है।

प्रथम, विधिवाक्य में श्रुत किसी पद के माध्यम से। जैसे-अत्र ह्येवावपन्ति विधिवाक्य में श्रुत 'एव' पद पवमान के अतिरिक्त अन्य स्तोत्रों की निवृत्ति का बोध कराता है। पवमान क्रिया के प्रसंग में एक वाक्य प्राप्त होता है- 'त्रीणि ह वै यज्ञस्योदराणि गायत्री, बृहत्यनुष्टुप् अत्र ह्येवावपन्ति, अत एवोद्वपन्ति' अर्थात् 'यज्ञ के तीन ही उदर हैं—गायत्री, बृहती और अनुष्टुप्। इन्हीं में अवाप (साममन्त्रों का प्रयोग) करते हैं। इन्हीं के उद्वाप (निष्कासन) करते है। 'स्पष्ट है कि अवाप एवं उद्वाप केवल गायत्री, बृहती और अनुष्टुप छन्दों में ही होता है। इस प्रकार यह विधिवाक्य पवमान स्तोत्र से सम्बन्धित उक्त तीनों छन्दों में ही अवाप एवं उद्वाप का विधान करता है। यहां 'एव' पद से स्पष्ट है कि यह विधि उक्त तीनों छंदों के अतिरिक्त अन्य स्थलों पर अवाप एवं उद्वाप करने का निषेध करती है। निवृत्ति

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

परक पद 'एव' के विधि में साक्षात् श्रुत होने के कारण यह 'श्रोती परिसंख्या' कही जाती है ।

द्वितीय, जब निवृत्ति परक पद विधिवाक्य में श्रुत नहीं होता, अपितु लक्षणा द्वारा उसकी कल्पना करनी पड़ती है, तो उस परिसंख्या को 'लाक्षणिकी परिसंख्या' कहा जाता है । जैसे-'पंच पंचनखा भक्ष्याः' इस विधि वाक्य में अपंचपंचनखभक्षण अथवा अपञ्चनखभक्षण के निषेधार्थ 'एव' जैसे किसी व्यावर्तक पद का प्रयोग नहीं हुआ । अपितु 'पंचनखा एव भक्ष्याः' और 'पंच एव पंचनखा भक्ष्याः' के रूप में 'एव' पद कल्पित कर लेते हैं । अतः यह 'लाक्षणिकी परिसंख्या' कही जाती है ।

लाक्षणिकी परिसंख्या में दूसरे पदार्थ की निवृत्ति का बोध करानेवाले पद का अभाव रहता है, अतः विधि के मूल तात्पर्य तक पहुंचाने के लिए हमें सबसे पहले श्रुतार्थ का परित्याग करना पड़ता है, फिर अश्रुत अर्थ की कल्पना करनी पड़ती है और अन्त में प्राप्त अर्थ का बाध करना होता है । ये तीनों ही दोष हैं । फिर भी अविधेय के करने से उत्पन्न अनिष्ट से बचने के लिये कहीं-कहीं ऐसे दूषित (वस्तुतः क्लिष्ट) मार्ग का आश्रय लेना पड़ता है ।

लाक्षणिकी परिसंख्या विधि का उदाहरण 'पंचपंचनखा भक्ष्याः' दिया गया है । इस उदाहरण में उपर्युक्त तीनों दोषों को इस प्रकार समझा जा सकता है—

(१) श्रुतार्थ का परित्याग

'पंचपंचनखा भक्ष्याः' का तात्पर्य है—'अपंचपंचनखभक्षणनिवृत्ति', किन्तु वाक्य में 'पंचपंचनखभक्षण' साक्षात् श्रुत है, जबकि 'अपंचपंचनखभक्षणनिवृत्ति' वाक्य का तात्पर्य है । श्रुत अर्थ 'पंचपंचनखभक्षण' का परित्याग करने के बाद ही उक्त तात्पर्य प्रकट हो पाता है । यह 'श्रुतार्थपरित्याग' दोष है ।

(२) अश्रुतार्थ प्रकल्पना

उक्त विधि-वाक्यमें 'अपंचपंचनखभक्षणनिवृति' यह पद श्रुत नहीं है, किन्तु उसकी कल्पना करने के बाद ही विधि-वाक्य का तात्पर्य स्पष्ट हो पाता है । अतः यह भी एक दोष ही है ।

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

(३) प्राप्तबाध

पंचनखभक्षण और अपंचनखभक्षण-दोनों ही मनुष्य को रागतः प्राप्त हैं। वस्तुतः मनुष्य को सभी जीवों का भक्षण रागतः प्राप्त है, किन्तु उक्त विधिवाक्य कुछ के अतिरिक्त अन्य सभी पंचापंचनखजीवों के भक्षण का निषेध करता है। इस प्रकार प्राप्त के एक देश का बाध (निवृत्ति) करने के कारण 'प्राप्तबाध नामक दोष माना जाता है।

उपर्युक्त तीनों दोषों में से प्रथम दो दोष-श्रुतार्थ-परित्याग और अश्रुतार्थ-कल्पना शब्दनिष्ठ दोष हैं, क्योंकि उनका सम्बन्ध शब्दात्मक वाक्य से हैं। प्राप्त बाध नामक तीसरा दोष अर्थ से सम्बन्धित होने के कारण अर्थनिष्ठ दोष है।

विधि-विषयक ज्ञान के सम्बन्ध में दिग्दर्शन मात्र है।

४.०६ नित्य, नैमित्तिक और काम्य कर्म

(i) नित्य

नित्य कर्म उन कर्मों को कहा जाता है, जिनके न करने से पाप होता है, संध्या वन्दन आदि कर्म इसी श्रेणी के कर्म हैं, 'अहरहः सन्ध्यामुपासीत'[१] इस वचन से सन्ध्योपासन को प्रत्येक का कर्तव्य बताया गया है। अतः उसका त्याग करने पर उक्त कर्म का अधिकारी व्यक्ति पाप का भागी होता है और अन्य द्विजोचित कर्मों के अधिकार से वंचित हो जाता है, जैसा कि मनु ने कहा है—

नानुतिष्ठति यः पूर्वां नोऽ पास्ते यश्च पश्चिमाम्।
स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः ॥[२]

अतः पाप से बचने के लिए 'नित्य कर्मों' का अनुष्ठान अनिवार्य है। जो कार्य न करने से प्रत्यवाय आगामी दुःख के ज्ञापक होते हैं, वे नित्य कहे जाते हैं। 'नित्य कर्म' के कारण से आगामी दुःख होने के ज्ञान को अनुमानजन्य कहा गया है।

नित्य कर्मों के सम्बन्ध में यह मानना ही उचित है कि नित्य कर्मों के कारण से जो पाप सम्भावित है, उस पाप की उत्पत्ति के परिहारार्थ ही नित्य कर्मों का

---

१. वेदान्तकारिकावली-टीका पृ. सं. २६

२. मनुस्मृति, अड़यार, श्लोक सं. १०३

CC0. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

अनुष्ठान होता है, अतएव नित्यकर्म की यह परिभाषा ही ठीक है कि जो कर्म किसी निमित्त विशेष से विहित नहीं होते और जिनके न करने से पाप होता है, वे कर्म ही नित्यकर्म होते हैं।

नित्य कर्मों को करने से कोई पुण्य नहीं होता है, परन्तु न करने से पाप बढ़ता है। इसलिए 'नित्य कर्म' अवश्य करणीय हैं।

(ii) नैमित्तिक

नैमित्तिक का अर्थ है निमित्तमूलक, निमित्तविशेष के उपस्थित होने पर जिन कर्मों को शास्त्र ने अवश्य करणीय बताया है, वे कर्म नैमित्तिक कर्म कहे जाते हैं।

जातेष्टि एक लघु याग है, पुत्र जन्म होने पर शास्त्र द्वारा उसका विधान किया गया है। जातेष्टि का विधायक वाक्य है-'वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्रे जाते' पुत्र उत्पन्न होने पर बारह कपालों में पुरोडाश रखकर वैश्वानर देवता को प्रदान करें। कपाल का अर्थ है किंचित गहरे तांवा जैसा मृत्पात्र और पुरोडास का अर्थ है यव के आटे की बनी रोटी, इस इष्टि को जात पुत्र निमित्तक होने से जातेष्टि कहा जाता है।

ग्रन्थकार ने जातेष्टि आदि को नैमित्तिक कर्म कहा है, आदि शब्द से क्षामवद् भाग आदिश्रौत कर्मों तथा राहूपरागमूलक स्नान आदि स्मार्त कर्मों का संकेत किया गया है। क्षाभवद् याग का विधायक वाक्य है 'यस्याहिताग्नेर्गृहान् दहत्यग्निरग्नये क्षामवते पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेत्'-अग्नि जिस अहिताग्नि पुरुष के गृह का दाह कर दे, वह आठ कपालों में पुरोडाश रखकर अतृप्त अग्नि को प्रदान करे। 'राहूपराग मूलक स्नान का विधायक वचन है-'राहूपरागे स्नायात्'-सूर्य अथवा चन्द्र के साथ राहु का सम्बन्ध होने पर स्नान करे।

उक्त सभी कर्म से पुत्रजन्म, गृहदाह, ग्रहण आदि निमित्त विशेष उपस्थित होने पर विदित होने से 'नैमित्तिक' हैं।

'निमित्तमात्रमासाधावश्यकर्तव्यतया विहितानि नैमित्तिकानि'[१]

---

१. वेदान्तसार-बदरीनाथ शुक्ल।

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

अर्थात् किसी निमित्त को प्राप्त करके अवश्य करणीय रूप से जो कर्म वेदों द्वारा विहित किये गये हैं, उन्हें निमित्त जन्य होने के कारण 'नैमित्तिक' कहते हैं।

(iii)काम्य

'फलोद्देशेन विधीयमानानि कर्माणि काम्यानि'[१]

अर्थात् फल प्राप्ति की कामना से किये जाने वाले कर्म 'काम्य कर्म' कहलाते हैं। यही 'काम्य कर्म' का लक्षण है, स्वर्गादि प्राप्ति तो उनका फल है।

'कामाय हितानि काम्यानि' इस व्युत्पत्ति के अनुसार उन कर्मों को काम्य कहा जाता है, शास्त्रों में जिनका विधान किसी फलकी कामना की प्राप्ति या पूर्ति के लिये किया गया है।

कामना की पूर्ति के विषय भूतफल के उत्पादन से होती है, फलत: जो कर्म शास्त्रानुसार काम्य फल के उत्पादक होते हैं, वे ही 'काम्य कर्म' कहे जाते हैं।

जैसे-परलोक में स्वर्ग और इस लोक में पुत्र, कलत्र, धन-धान्य आदि मनुष्य को काम्य होते है, शास्त्रों में जिन कर्मों को उन काम्य वस्तुओं का जनक बता कर उनके अनुष्ठान की कर्तव्यता बतायी गयी है, वे कर्म 'काम्य' हैं। शास्त्र में ज्योतिष्टोम को स्वर्ग का साधक बताकर इसे स्वर्गकाम का कर्तव्य बताया गया है।

'ज्योतिष्टोमेन यजेत स्वर्गकाम:'-जिस मनुष्य को स्वर्ग की कामना हो, वह ज्योतिष्टोम नामक यज्ञ से अपने इष्ट का साधन करे। शास्त्र का आशय स्पष्ट है कि ज्योतिष्टोम स्वर्ग का जनक है, अत: जिसे स्वर्ग जाने की इच्छा हो, वह ज्योतिष्टोम यज्ञ का अनुष्ठान करे।

४.०७ वेदांग का अर्थ तथा महत्व

'अंग' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है 'उपकारक', 'अंग्यते ज्ञायन्ते अमीभिरिति अङ्गानि' अर्थात् जिनके द्वारा किसी वस्तु के स्वरूप को जानने में सहायता प्राप्त होती है, उन्हें 'अङ्ग' कहते हैं। वेद स्वयं एक दुरूह विषय ठहरा, भाषा तथा भाव दोनों की दृष्टि से। अतएव वेद का अर्थ जानने में उसके कर्मकाण्ड के प्रतिपादन में तथा इस प्रकार की सहायता देने में जो उपयोगी शास्त्र हैं, उन्हें वेदांग के नाम से

१. वेदान्तसार-बदरीनाथ शुक्ल।

CC0. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

पुकारते हैं। वेद के यथार्थ ज्ञान के लिए छः विषयों को जानने की नितान्त आवश्यकता है।[१]

अपरा विद्या के अन्तर्गत वेदचतुष्ट्य के अनन्तर वेद के षट् अंगों का नामोल्लेख किया गया है। उनके नाम तथा क्रम इस प्रकार से हैं—(१) शिक्षा, (२) कल्प, (३) व्याकरण, (४) निरक्त, (५) छन्द, और (६) ज्योतिष।[२]

इनमें प्रत्येक का अपना निजी वैशिष्ट्य है।

४.०८ वेदांग-निरूपण

(i) शिक्षा

वेदांगों में शिक्षा का एक महत्वपूर्ण स्थान है। यह वेदरूपी पुरुष का घ्राण कही गयी है। जिस प्रकार सब अंगों के परिपुष्ट तथा सुन्दर होने पर भी घ्राण के बिना पुरुषशरीर नितान्त गर्हणीय तथा अशोभनीय प्रतीत होता है, उसी प्रकार शिक्षा नामक वेदांग से विरहित होने पर वेदपुरुष का स्वरूप नितान्त असुन्दर तथा बीभत्स दीख पड़ता है। शिक्षा का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है, वह विद्या जो स्वर,वर्ण आदि उच्चारण के प्रकार का उपदेश दे।[३] वेद के अध्ययन की प्रणाली यह है कि पहले गुरु किसी मंत्र का उच्चारण स्वयं करता है और शिष्य इस उच्चारण को सुनकर स्वयं उसका अनुसरण करता है। इसीलिए वेद का एक सार्थक नाम है अनुश्रवः- 'अनुपश्चात् श्रूयते यः सः अनुश्रवः'-अर्थात् वह वस्तु जो गुरु के उच्चारण करने के अनन्तर सुनी जाय। वेद के मंत्रों का ठीक-ठीक उच्चारण प्रथम आवश्यक वस्तु है। शब्दमय मन्त्रों के यथार्थ उच्चारण को सर्वप्रथम महत्व दिया गया है। इस उच्चारण के निमित्त प्रवर्तमान वेदांग 'शिक्षा' कहलाता है।

(ii) कल्प

वेदांग साहित्य में 'कल्प' का स्थान नितान्त महत्वपूर्ण तथा प्राथमिक है। ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ यागादि का विधान इतनी प्रौढ़ि तथा विस्तृति पर पहुंच गया

---

१. वैदिक साहित्य का इतिहास-आचार्य बलदेव उपाध्याय, पृ. २९२,वाराणसी

२. वेदान्तकारिकावली, का.सं.८, पृ.२६

३. 'स्वरवर्णाद्युच्चारणप्रकारो यत्र शिक्ष्यते उपदिश्यते सा शिक्षा' -सायण-ऋग्वेदभाष्य, भूमिका, पृ.४९

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

था कि कालान्तर में उनको क्रमबद्ध रूप से प्रस्तुत करने का कार्य नितान्त आवश्यक प्रतीत हुआ। उस युग की प्रचलित शैली के अनुरूप इन ग्रन्थों की रचना 'सूत्र-शैली' में की गयी। 'कल्प' का अर्थ है वेद में निहित कर्मों का क्रमपूर्वक व्यवस्थित कल्पना करने वाला शास्त्र (कल्पो वेदविहितानां कर्मणामनुपूर्वेण कल्पनाशास्त्रम्)।[१] फलतः जिन यज्ञ यागादि तथा विवाहोपनयनादि कर्मों का विशिष्ट प्रतिपादन वैदिक ग्रन्थों में किया गया है, उन्हीं का क्रमबद्ध वर्णन करने वाले सूत्र ग्रन्थों का सामान्य अभिधान 'कल्प' है। ये सूत्र प्राचीनतम इसलिए माने जाते हैं कि ये अपने विषय-प्रतिपादन में ब्राह्मण तथा आख्यायकों के साथ साक्षात् सम्बन्ध हैं।

कल्पसूत्र मुख्यतः चार प्रकार के होते हैं—

१. श्रौत सूत्र

जिनमें ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णित और अग्नि में सम्पाद्यमान यज्ञ-यागादि अनुष्ठानों का वर्णन है।

२. गृह्य सूत्र

जिनमें गृहाग्नि में होने वाले यागों का तथा उपनयन, विवाह, श्राद्ध आदि संस्कारों का विस्तृत विवरण है।

३. धर्मसूत्र

जिनमें चतुर्वर्ण तथा चारों आश्रमों के कर्तव्यों, विशेषतः, राजा के कर्तव्यों का विशिष्ट प्रतिपादन है। ये ही कल्पसूत्र में प्रधानतया परिगणित होते हैं।

४. शुल्वसूत्र

जिसमें वेदी के निर्माण की रीति का विशिष्टरूपेण प्रतिपादन है जो इसलिए आर्यों के प्राचीन ज्यामिति सम्बन्धी कल्पनाओं तथा गणनाओं के प्रतिपादक होने से वैज्ञानिक महत्व रखता है।

वेद का मुख्य प्रयोजन वैदिक कर्मकाण्ड, यज्ञ-याग का यथार्थ अनुष्ठान है। इसके लिए प्रवृत्त होने वाला अंग 'कल्प' कहलाता है। 'कल्प' का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—यज्ञ के प्रयोगों का समर्थक शास्त्र ('कल्प्यते समर्थ्यते यागप्रयोगोऽत्र)

---

१. विष्णुमित्र-ऋग्वेद-प्रातिशाख्य की वर्गद्वय वृत्ति, पृ. १३

CC0. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

अर्थात् जिसमें यज्ञ के प्रयोगों का समर्थन या कल्पना की जाय) उसे 'कल्प' कहते हैं।

(iii) व्याकरण

व्याकरण भी प्रकृति और प्रत्यय का उपदेश देकर पद के स्वरूप तथा उसके अर्थ के निर्णय के लिए प्रयुक्त होता है। व्याकरण का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है, पदों की मीमांसा करने वाला शास्त्र-'व्याक्रियन्ते उत्पाद्यन्ते शब्द अनेनेति व्याकरणम्'।

व्याकरण वेदपुरुष का मुख माना जाता है-'मुखं व्याकरणं स्मृतम्' मुख होने से ही वेदांगों में व्याकरण की मुख्यता है। जिस प्रकार मुख के बिना भोजनादि के न करने से शरीर की पुष्टि असम्भव है, उसी प्रकार व्याकरण के बिना वेदरूपी पुरुष के शरीर की रक्षा तथा स्थिति असम्भाव्य है। इसीलिए हमारे प्राचीन ऋषियों ने व्याकरण की महत्ता का प्रतिपादन बड़े ही गम्भीर शब्दों में किया है।

व्याकरण-शास्त्र पदों की प्रकृति तथा प्रत्यय का उपदेश देकर पद के स्वरूप का परिचय कराता है और उसके अर्थ का भी निश्चय कराता है। फलतः पद स्वरूप और पदार्थनिश्चय के निमित्त 'व्याकरण' का उपयोग होने से वह भी वेदांग है।

वररुचि के अनुसार व्याकरण के मुख्य पांच प्रयोजन निम्नलिखित हैं—(१) रक्षा, (२) ऊह, (३) आगम, (४) लघु, तथा (५) असन्देह।

(iv) निरुक्त

'निरुक्त' निघण्टु की टीका है। निघण्टु में वेद के कठिन शब्दों का समुच्चय किया गया है। 'निघण्टु' की संख्या के विषयमें पर्याप्त मतभेद हैं। आजकल उपलब्ध निघण्टु एक ही है और इसी के ऊपर महर्षि यास्क रचित 'निरुक्त' है। कतिपय विद्वान् यास्क को ही 'निघण्टु' का भी रचयिता मानते हैं।[१] परन्तु प्राचीन परम्परा के अनुशीलन से यह बात प्रमाणित नहीं होती। निरुक्त के आरम्भ में 'निघण्टु' 'समाम्नाय' कहा गया है और इस शब्द की जो व्याख्या दुर्गाचार्य ने की है, उससे तो इसका प्राचीनत्व ही सिद्ध होता है।[२]

१. वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग १, खण्ड २, पृ. १६२
२. दुर्गावृत्ति, पृ. ३

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

महाभारत (मोक्षधर्मपर्व, अ. ३४२,श्लोक ८६-८७) के अनुसार प्रजापति कश्यप इस 'निघण्टु' के रचयिता हैं—

वृषो हि भगवान् धर्मः ख्यातो लोकेषु भारत।
निघण्टु कदाख्याने विद्धि मां वृषमुत्तमम्॥
कपिवराहः श्रेष्ठश्च धर्मश्च वृष उच्यते।
तस्माद् वृषाकपि प्राह कश्यपो मां प्रजापतिः॥

'निरुक्त' का काम है पदों की निरुक्ति बतलाना, पदों की व्युत्पत्ति सिखाना। निरुक्ति की भिन्नता से अर्थ की भिन्नता होती है। इसलिए वेद के अर्थ-निर्णय के लिए 'निरुक्त' की वेदांगता सम्पन्न होती है।

(v) छन्द

छन्द वेद का पांचवां अंग है। वेद के मन्त्रों के उच्चारण के निमित्त छन्दों का ज्ञान बड़ा ही आवश्यक है। छन्दों का ज्ञान हुए बिना मन्त्रों का उच्चारण तथा पाठ ठीक ढंग से नहीं हो सकता। प्रत्येक सूक्त में देवता, ऋषि तथा छन्द का ज्ञान आवश्यक माना जाता है। कात्यायन का यह स्पष्ट कथन है कि जो व्यक्ति छन्द, ऋषि तथा देवता के ज्ञान से हीन होकर मन्त्र का अध्ययन-अध्यापन-यजन तथा याजन करता है, उसका यह प्रत्येक कार्य निष्फल ही होता है।[१] प्रधान छन्दों के नाम संहिता तथा ब्राह्मणों में उपलब्ध होते हैं जिससे प्रतीत होता है कि इस अंग की उत्पत्ति वैदिक युग में हो गई थी। इस वेदांग का प्रतिनिधि ग्रन्थ है—'पिंगलाचार्य-कृत छन्दःसूत्र।' -पिंगल के ग्रन्थ में

प्रधान वैदिक छन्द

नाम

१ २पाद ३ ४ ५

गायत्री २४ ८अक्षर ८ ८

उष्णिक् २८ ८ ८ १२

१. योह वा अविदिता त्वेसच्छको देवत् ब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वा अध्यापयतिवा सवाणु, वर्च्छति गर्तेवा पात्यते प्रमीयते वा पापीयान् भवति। —सर्वानुक्रमणी १,१

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

पुरउष्णिक् २८ एक साथ ८ ८

कुकुप् २८ ८ १२ ८

अनुष्टुप् ३२ ८ ८ ८ ८

वृहती ३६ ८ ८, १२, ८

सतोवृहती ३६ १२ ८ १२ ८

पङ्क्ति ४० ८ ८ ८ ८ ८

प्रस्तार पङ्क्ति ४० १२ १२ ८ ८

त्रिष्टुभ् ४४ ११ ११ ११ ११

जगती ४८ १२ १२ १२ १२

वैदिक तथा लौकिक दोनों प्रकार के छन्दों का विशेष वर्णन है। ये ग्रन्थ छन्दों की जानकारी के लिये विशेष माननीय हैं।

वेद छन्दोमयी वाणी है। अत: छन्दों से परिचय पाने पर ही मन्त्रों के उच्चारण और पाठ का ज्ञान हमें हो सकता है।

(vi) ज्योतिष

वेदांगों में ज्योतिष अन्तिम वेदांग है। वेद की प्रवृत्ति यज्ञ के संपादन के लिये है, और यज्ञ का विधान विशिष्ट समयों की अपेक्षा रखता है। यज्ञयाग के लिये समय-शुद्धि की बड़ी आवश्यकता रहती है। कुछ विद्वान् ऐसे हैं, जिनका सम्बन्ध संवत्सर से है, और किसीका ऋतु से। तैत्तरीय ब्राह्मण[1] का कथन है ब्राह्मण वसन्त में अग्नि का आधान (स्थापन) करे, क्षत्रिय ग्रीष्म में, वैश्य शरद् ऋतु में आधान करे। कुछ यज्ञ विशिष्ट मासों तथा विशिष्ट पक्षों में किये जाते हैं। विशेष तिथि अथवा अष्टका, फाल्गुनी पूर्णमासी में दीक्षा का विधान पाया जाता है।[2] प्रात: काल तथा सायंकाल में प्रत्येक अग्निहोत्री को अग्नि में दुग्ध या घृत से हवन करने का नियम है।[3] प्रात: काल तथा सायंकाल में प्रत्येक अग्निहोत्री को अग्नि में दुग्ध या

१. वसन्ते ब्राह्मणो अग्निमादधीत, गीष्मे राजन्य आदधीत। शरदि वैश्य आदधीत्। —तैत्तरीय ब्राह्मण १.१

२. एकाष्टकायांदीद्धरेन् फाल्गुनी पूर्वामासेदीक्षेरन्।-ताण्ड्य ब्राह्मण-५.९.१७

३. प्रातर्जुहोति सायं जुहोति। —तैत. ब्रा. २.१.२

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

घृत से हवन करने का नियम है ।[१] कहने का तात्पर्य यह है कि नक्षत्र, तिथि, पक्ष, मास, ऋतु तथा संवत्सर अर्थात् काल समस्त खण्डों के साथ यज्ञ-याग का विधान वेद में पाया जाता है । इन नियमों के यथार्थ-निर्वाह के लिये ज्योतिष शास्त्र का ज्ञान नितान्त आवश्यक तथा उपादेय है । इसलिए वेदांग-ज्योतिष का तो यह आग्रह है कि जो व्यक्ति ज्योतिष को भली भांति जानता है, वही यज्ञ का यथार्थ ज्ञाता है । यथा—

वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः, कालानिपूर्वा विहिताश्चयज्ञाः ।
तस्मादिदं कालविधानशास्त्रं, यो ज्योतिषं वेद स वेदयज्ञम् ।।[२]

४.०९ वेद पर आधारित स्मृतियों को प्रमाण

स्मृतियां भारतीय धर्मशास्त्र की महत्वपूर्ण अंग है । महत्व की दृष्टि से ये वेदों के बाद दूसरे स्थान पर आती हैं । स्मृति की व्युत्पत्ति (स्मृ + क्ति)[३] शब्द से हुई है । जिसका तात्पर्य स्मरण एवं प्रत्यस्मरण आदि से है । स्मृति स्मरण का विषय है और यह परम्परागत रूप से चला आ रहा है । धार्मिक साहित्य है । तैत्तरीय आरण्यक में भी 'स्मृति' शब्द आया है ।[४] सामान्य अर्थ में स्मृति एवं धर्मशास्त्र में कोई भेद नहीं है ।[५] स्मृति शब्द का प्रयोग श्रुति से विपर्यास प्रदर्शित करने के लिए किया गया है । श्रुति से वेद का अर्थ लिया जाता है ।

प्राचीन काल में जब लेखनपरम्परा का श्रीगणेश नहीं हुआ था, उस समय ऋषि एवं महर्षि अर्जित ज्ञान शिष्यों को कण्ठस्थ करा देते थे । अतः गुरु द्वारा शिष्य को और तदनन्तर उक्त शिष्य के द्वारा अपने शिष्य को सुनाकर कण्ठस्थ करा दिये जाने के कारण इन्हें श्रुति परम्परा का ग्रन्थ माना गया है । इस परम्परा में चारों वेद आते हैं । किन्तु स्मृति शब्द का प्रयोग श्रुति अर्थात् ऋषि प्रकाशित एवं ऋषि दृष्ट वाङ्मय से भिन्न साहित्य के लिये हुआ है ।[६] जिसका तात्पर्य स्मरण से लगाया

---

१. प्रातर्जुहोति सायं जुहोति । —तैत.ब्रा.२.१.२

२. वेदांग ज्योतिष, श्लोकसं.३

३. आप्टे, संस्कृत हिन्दी कोश, पृ.११५३

४. तैत्तरीय आरण्यक, १.२.

५. वशिष्ठ धर्मसूत्र-१.४.६

६. याक्यवल्क्य स्मृति (अनुवाद-उमेश चन्द्र पाण्डेय), पृ २७

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

गया है। स्मृति का श्रुति अर्थात् श्रवण परम्परा के विषय से स्पष्ट भेद किया जा सकता है। स्मृति सीधे स्मरण शक्ति पर प्रभाव डालती है, और इसके लिए किसी विशष शिक्षा या साधन की आवश्यकता नहीं पड़ती।[१]

स्मृति शब्द का प्रयोग पारिभाषिक और सामान्य दोनों अर्थों में किया जा सकता है। 'स्मृति' के बारे में गौतम और बोधायन ने स्मृति को 'वेद के जानने वालों का स्मरण' माना है।[२] पूर्वाचार्यों की व्याख्या स्वीकार करते हुए-मनु ने भी स्मृति का अर्थ-'वेदज्ञों का स्मरण' माना और उसका प्रयोग धर्मशास्त्र के अर्थ में किया है।[३]

अतः उपर्युक्त धर्म शास्त्रकारों का विचार अत्यन्त संकुचित प्रतीत होता है।

वुच्चि वेंकटाचार्य कहते हैं कि स्मृति का स्वतन्त्र प्रमाण में वर्गीकरण नहीं करना चाहिये, किन्तु इसका समावेश प्रमाण के अन्तर्गत करना चाहिये। स्मृति संस्कारमात्र से उत्पन्न ज्ञान है, जिसमें सादृश्य, अदृष्ट और चिन्ता आदि स्मृति, के बीज अर्थत् संस्कार के उद्बोधक हैं। स्मृति तीन प्रकार की होती है-सत्य स्मृति, मिथ्या स्मृति और सन्देह स्मृति। जैसा कि नैयायिक और मीमांसक स्मृति में अप्रामाण्य मानते हैं, वह मत अयुक्त है। वेंकटाचार्य के मत में स्मृति अनुभव की तरह प्रामाण्य है, क्योंकि स्मृति अनुभव की भांति व्यावहारिक-व्यवहारों से ग्रहण होती है और आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। स्मृति कदापि अप्रामाण्य नहीं हो सकती, यह दृष्टि से परे वस्तुओं का ग्रहण करती है। यदि वस्तुओं का भाव या अभाव ही स्मृति और अनुभव के बीच भेदक तत्व है तो भूतकालीन या भविष्यत् कालीन वस्तुओं का अनुमान, शाब्द-ज्ञान, अलौकिक-प्रत्यक्ष आदि प्रमाण भी अप्रामाण्य होंगे। क्योंकि इन प्रमाणों से सिद्ध पदार्थ प्रत्यक्ष करता की दृष्टि से दूर ही होते हैं। यह ठीक है कि स्मृति वर्तमानकालीन वस्तु को ग्रहण नहीं कर सकती है, वह केवल वस्तु ग्रहण के पूर्व ही विद्यमान रहती है, तो इसका तात्पर्य यह नहीं हो सकता कि स्मृति ज्ञान में सर्वथा वस्तु का अभाव रहता है। स्मृति भूतकालीन वस्तु के अनुभव से जुड़ी होती है। यह नहीं कहा जा सकता कि स्मृति अनुभूत होने से अप्रामाण्य है। क्योंकि दर्भान्कुर जैसे महत्वहीन पदार्थों का तत्कालीन अनुभव

---

१. अल्ब्रेक्ट बेवर-भारतीय साहित्य (अनु. उमेश पाण्डेय), इलाहाबाद, १९६८, पृ. ४
२. गौतम (१.२)-१.१.३)
३. 'श्रुतिस्तुवेदो विश्रेयो धर्मशास्त्र तु वे स्मृतिः।' -मनुस्मृति २-१०

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

भी अप्रामांण्य होगा । वस्तुतः स्मृति जीवन में अनेक प्रयोजनों को सिद्ध करती है । स्मृति के माध्यम से दिन प्रतिदिन की चर्या को निरूपित किया जाता है । स्मृति ही है जो कि कवियों को कविता के संस्कारों को अभिव्यक्त करने का अवसर देती है । स्मृति के माध्यम से नैयायिक अनुमान के पंचावयव को सिद्ध करते हैं और स्मृति ही भगवद्-भक्ति और प्रेम को सम्भव बना देती है, जो कि जीवन का मुख्य लक्ष्य है ।

इस प्रकार बुच्चि वेंकटाचार्य ने 'स्मरण' के नियत पूर्व-भावित्व के आधार पर स्मृति के प्रामाण्य को सिद्ध किया है ।

रामानुज वेदान्त के पूर्ववर्ती आचार्य जैसे-वरदनारायण भट्टारक आदि ने प्राचीन नैयायिकों के मत का अनुसरण करते हुये ही स्मृति के प्रामाण्य को स्वीकार नहीं किया है । यहां तक कि विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के प्रसिद्ध तार्किक विष्णुचित्त और वरदविष्णु मिश्र ने भी स्मृति को प्रमाण के क्षेत्र से पृथक् ही कर दिया है । उनका कथन है कि स्मृति उन पदार्थों को कदापि नहीं ग्रहण कर सकती, जिन्हें अन्य प्रमाणों से ग्रहण नहीं किया जा सकता हो । विशिष्टाद्वैत मत के प्रसिद्ध एवं उच्च विद्वान् यामुनाचार्य भी स्मृति के प्रामाण्य को सिद्ध करते हैं । उनका कथन है कि विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त भी बिना स्मृति के सिद्ध नहीं हो सकता । विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त की तत्वमीमांसा की सिद्धि के लिए स्मृति-प्रामाण्य को स्वीकार करना परमावश्यक है ।

यदि यह कहा जाय कि 'स्मृति-प्रामाण्य' को सर्व प्रथम वेंकटाचार्य ही स्वीकार करते हैं तो ऐसा नहीं है, क्योंकि उनसे पूर्व नाथमुनि और पराशर भट्टराक, वेंकटनाथ स्मृति-प्रमाण के पक्ष में रहे हैं । हां, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि वेंकटनाथ एवं वेंकटाचार्य ने ही विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में अनुभव के समान 'स्मृति' के प्रामाण्य को सिद्ध करने का प्रतिनिधित्व किया है ।

शब्द प्रमाण के प्रसंग में रामानुज वेदान्त के अनुसार लोक में सभी शब्द शरीर वाचक होते हैं, और शरीरीपर्यन्त अर्थ का ज्ञान कराते हैं, क्योंकि देवत्व, मनुष्यत्व, पुंसत्व, स्त्रीत्व आदि जीव धर्म नहीं हैं, अपितु शरीर धर्म हैं । फिर भी 'देवो वन्द्यः' इत्यादि में देव आदि शब्द केवल शरीरत्व का ज्ञान कराकर अपने व्यापार से विरत नहीं होते, किन्तु वे शब्द उन देवताओं के शरीर में विद्यमान, जो

7

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

आत्मा है, उस आत्मा का बोध कराते हैं। वहां देवादि के शरीर और आत्माओं का अप्रत्यक्ष सिद्ध सम्बन्ध है।

इसी प्रकार 'गो' आदि शब्द से गोत्व की अभिव्यक्ति होती है जहां गौ व्यक्ति बोधक है। गोत्व जाति बोधक है। यहां भी जाति और व्यक्ति में अपृथक् सिद्ध सम्बन्ध ही मूल कारण है। इसी प्रकार 'शुक्ल' आदि शब्द रूप वाचक होते हुए भी 'शुक्लः परः' इत्यादि में गुणी के सामानाधिकरण में प्रयुक्त होता हुआ गुणीपरक हो जाता है। यहां भी गुण-गुणी के बीच अपृथक् सम्बन्ध रहा ही है। इस प्रकार रामानुज वेदान्त में शरीर-शरीरी, जाति-व्यक्ति, और गुण-गुणी के बीच अपृथक् सिद्ध सम्बन्ध को स्वीकार करते हैं।

इस प्रकार भगवान् के अपृथक् सिद्ध विशेषण भूत चित् और अचित् के वाचक सभी शब्द भगवान् में मुख्य वृत्ति से ही बोधक हो जाते हैं। इस प्रकार सभी शब्द भगवदीय अर्थात् भगवान के ही वाच्य हैं। श्रुति, स्मृति, इतिहास-इन सभी (हरि) में सभी शब्दों को भगवदीय स्वीकार किया गया है। जैसे—सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति।' 'स ब्रह्म स शिवः सेन्द्रः', 'तदेवाग्निस्तब्दायुः' 'ज्योतिर्षि विष्णुर्भुवनानि विष्णुः', इत्यादि।[१]

---

१. (अ) शरीरवाचकाः शब्दाः शरीरिकृतवृत्तयः। सर्वंशब्दैकवाच्यत्वं हरेरिति॥
—वेदान्तकारिकावली, का. ३.१४ (ब) वेदान्तकारिकावलीटीका, पृ. २९

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

वेदान्तकारिकावली

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

वेदान्तकारिकावली

वेंकटाचार्यकृता

श्रीमद्रमाधवोपज्ञां नत्वाचार्यपरंपराम्।
कुर्वे लक्ष्मणसिद्धान्तकारिकां कारिकावलीम् ॥ १ ॥

श्रीः

वेदान्तकारिकावलीटिप्पणम्

रघुवरचरणद्वन्द्वं तरणिं करवाणि संसृतेस्तरणे ।
यत्पांसुलेशसङ्गाद् ग्रावाप्यभवद्विकल्मषा योषा ।

श्रीवाससंयमीन्द्रस्य पादुकामघमर्षणीम् ।
प्रणन्नम्य मितं कुर्वे टिप्पणं कारिकावलेः ॥

श्रीमदिति । रमाधवः श्रियः पतिः, उपज्ञा प्रथमज्ञेयो यस्याः सा, ताम्। "उपज्ञोपक्रमम्" इत्यादिना नपुंसकत्वं तु तत्पुरुष एव । "यो ब्राह्मणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै" इति कल्पादौ वेदोपदेशकरणात् नारायणरूपेणाष्टाक्षरमन्त्रोपदेशकरणाच्च भगवतः परमाचार्यत्वेनाचार्यपरंपरायास्तदुपज्ञत्वम् । तदनुसंधानं च "आचार्याणामसावसावित्या भगवत्तः" इति श्रुतिविहितम्,

"लक्ष्मीनाथसमारम्भां नाथयामुनमध्यमाम् ।
अस्मदाचार्यपर्यन्तां वन्दे गुरुपरंपराम् ॥"

इत्यादिसदाचार्यसंप्रदायावगतं चेति ध्येयम् । श्रीमहालक्ष्म्या अप्याचार्यकोटावन्तर्भावमवगमयितुं रमाधव इति रमानिर्देश इत्यवगन्तव्यम् । लक्ष्मणसिद्धान्तः श्रीभगवद्रामानुजसिद्धान्तः, तस्य कारिका प्रतिपादिका, ताम्। कारिकावलीति ग्रन्थनाम ॥ १ ॥

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

श्रीपति = भगवान् नारायण सहित आचार्य = गुरु-परम्परा को प्रणाम करते हुए मैं बुच्चि वेंकटाचार्य लक्ष्मण = रामानुज-सिद्धान्त की प्रतिपादिका **कारिकावली** की रचना करता हूँ ॥१ ॥

मानमेयविभेदेन पदार्थो द्विविधो मतः ।
मानं प्रत्यक्षानुमानशब्दभेदात् त्रिधा भवेत्[1] ॥ २ ॥

पदार्थ इति; पदस्यार्थः पदार्थ इति यद्यत्पदेनाभिधेयं तत्सर्वं गृह्यते । तत्त्वं, पदार्थः, वस्तु, इति पर्यायशब्दाः । एवं च वस्तुसामान्यं द्विधेत्यर्थः । मानं प्रमाणम् । मेयं प्रमेयम् । त्रिधेति;

"प्रत्यक्षमनुमानं च शास्त्रं च विविधागमम् ।
त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मसिद्धिमभीप्सता ॥"

इत्याद्याप्ततमवचनात् त्रीण्येव प्रमाणानि । अन्यैरभ्युपगतानामुपमानादीनामत्रैवान्तर्भावः; यथा उपमानार्थापत्त्योरनुमाने, अनुपलब्धेः प्रत्यक्षे । प्रमायाः करणं प्रमाणमिति प्रमाणसामान्यलक्षणम् ॥ २ ॥

प्रमाण और प्रमेय के भेद से पदार्थ दो प्रकार के होते हैं । प्रमाण प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द के भेद से तीन प्रकार का होता है ॥२ ॥

प्रमेयं द्विविधं प्रोक्तं द्रव्याद्रव्यविभेदतः ।
जडाजडत्वभिन्नेऽत्र द्रव्ये तद् द्विविधं जडम् ॥ ३ ॥

प्रमाविषयः प्रमेयम् । द्रव्यम् उपादानम् । अवस्थान्तरयोगि उपादानम् । तद्भिन्नम् अद्रव्यम्; द्रव्यत्वात्यन्ताभाववत् । परत एव प्रकाशं जडम्; यथा घटादि । स्वयंप्रकाशम् अजडम्; यथा ज्ञानादि । अत्र प्रकाशशब्दो न कान्तिमत्त्वपरः । किंतु ज्ञानविषयत्वपरः । "ज्ञानमर्थप्रकाशः" इति तत्त्वमुक्ताकलापे । आत्मसिद्धौ च "व्यवहारानुगुण्यवचनः प्रकाशशब्दः" इति । एवं च जडत्वं नाम स्वगोचरज्ञानैकविषयत्वमिति फलितम् । अत्र "अभिधेयः पदार्थः; स द्विविधःभावाभावभेदात्" इति लक्षणावल्यामुदयनोक्तो विभागस्तु न वेदान्तिनां संमतः,

---

१. मतम्

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

तेषां मते अभावस्य भावान्तररूपत्वेन तथा विभागायोगात् । मिथो विरुद्धधर्मपुरस्कारेण निर्देशो हि विभागः । अभावस्य भावान्तररूपत्वं चारम्भणाधिकरणे सूत्रकारैरेवोपपादितम् । घटाभावाभावस्य घटरूपत्वं वदद्भिः परैरभ्युपगतं च । षोढासप्तधादिविभागस्तु न मुमुक्षूपयोगीत्युपेक्षितः ॥ ३ ॥

द्रव्य और अद्रव्य के भेद से **प्रमेय** दो प्रकार के कहे जाते हैं । इनमें जड और अजड भेद से **द्रव्य** दो प्रकार के होते हैं । जड द्रव्य दो प्रकार के होते हैं ॥३ ॥

प्रकृतिः काल इत्याद्या चतुर्विंशतिधा मता ।
कालस्तूपाधिभेदेन त्रिविधः परिकीर्त्यते[1] ॥ ४ ॥

प्रकृतिः काल इति द्विविधं जडमिति पूर्वेणान्वयः । प्रकृतिस्त्रिगुणम् । नित्यविभूतेर्जडत्वं त्वेकदेशिनां मतं, न सिद्धान्तिनाम् । आद्या, प्रकृतिरित्यर्थः । चतुर्विंशतिधेति-प्रकृतिमहदहंकारास्त्रयः, एकादशेन्द्रियाणि, पञ्च तन्मात्राणि, पञ्च भूतानीत्याहत्य चतुर्विंशतिः । उपाधिः भूतभविष्यद्वर्तमानरूपः । त्रिविध इति, कलाकाष्ठादिरूपबहुविधभेदस्योपलक्षणम् ॥ ४ ॥

जड द्रव्य **प्रकृति** और **काल** होते हैं । इनमें **प्रकृति** चौबीस प्रकार की कही जाती है ।**काल** उपाधि-भेद से तीन प्रकार का कहा जाता है ॥४ ॥

अजडं तु पराक् प्रत्यगिति भेदाद् द्विधा स्थितम् ।
पराङ् नित्यविभूतिश्च धर्मभूतमतिस्तथा ॥ ५ ॥

अजडभेदमाह—अजडमिति । वस्तुतस्तु पराक्प्रत्यग्विभेदो द्रव्य सामान्यस्यैव । अतो जडस्य प्रकृत्यादेरपि पराक्त्वं सिद्धम् । तथाचाहुः—

"द्वेधा जडाजडतया प्रत्यक्तदितरतयापि वा द्रव्यम् ।
षोढा त्रिगुणानेहोजीवेश्वरभोगभूमिमतिभेदात् ॥"

इति । स्वस्मै भासमानं प्रत्यक् । परस्मा एव भासमानं पराक् । एवं विवक्षाभेदेन भोक्तृभोग्यप्रेरयितृरूपेण चिदचिदीश्वररूपेणापि विभागस्तत्र तत्र शास्त्रेषु कृतो

१. कीर्तितः

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

ज्ञेयः । नित्यविभूतिः शुद्धसत्त्वमयो लोकस्तदन्तर्गताश्च । विभूतिर्नाम स्वातिशयाधानार्थं नियन्तव्यं वस्तु । धर्मभूतमतिः जीवेश्वरयोर्धर्मभूतं ज्ञानम् । ज्ञातुर्ज्ञेयावभासो मतिः । जीवेश्वरयोर्धर्मिणोरपि ज्ञानव्यपदेशस्य प्रामाणिकत्वात् तद्व्यावृत्तये धर्मभूतेति विशेषणम् । धर्ममतिरित्युक्ते धर्मस्य मतिरित्यविवक्षितार्थप्रतीतिः स्यादिति तद्व्यावृत्तये भूतपदप्रयोगः ॥ ५ ॥

अजड पराक् और प्रत्यक् भेद से दो प्रकार का होता है। पराक् नित्यविभूति तथा धर्मभूतज्ञान है ॥५ ॥

प्रत्यग्जीवेश्वरभिदाशाली जीवः पुनस्त्रिधा ।
बद्धो मुक्तो नित्य इति बद्धस्तु द्विविधो भवेत् ॥ ६ ॥

प्रत्यग्विभागमाह—जीवेश्वरेति । स्वस्मै स्वयं प्रकाशमानं प्रत्यगिति लक्षणं पूर्वमेवोक्तम् । बद्धः कर्मबद्धः । मुक्तः कांचित्कालं बद्धो भूत्वा अनन्तरं भक्तिप्रपत्योरन्यतरप्रीतभगवत्प्रसादेन कर्मबन्धात् विनिर्मुक्तः । नित्यः कर्मबन्धं विना सदा भगवदनुभवपरः ॥ ६ ॥

प्रत्यक् जीव और ईश्वर वाला होता है । जीव तीन प्रकार का होता है- बद्ध, मुक्त और नित्य । बद्ध दो प्रकार का होता है ॥६ ॥

बुभुक्षुश्च मुमुक्षुश्च बुभुक्षुश्च पुनर्द्विधा ।
अर्थकामपरो धर्मपरश्चेति विवेचनात् ॥ ७ ॥

पूर्वकारिकाप्रस्तुतं बद्धभेदमाह-बुभुक्षुरिति । बुभुक्षुः प्राकृतभोगेच्छुः । मुमुक्षुः संसारनिवृत्तिपूर्वकाप्राकृतभोगेच्छुः ॥ ७ ॥

बुभुक्षु और मुमुक्षु बद्ध जीव होते हैं । पुनः बुभुक्षु दो प्रकार का होता है- अर्थकामपर तथा धर्मपर ॥७ ॥

अन्यदेवपरो विष्णुपरो धर्मपरो द्विधा ।
मुमुक्षुरपि कैवल्यमोक्षयोगाद् द्विधा मतः ॥ ८ ॥

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

अर्थकामपरस्य स्पष्टत्वात्तमुपेक्ष्य धर्मपरभेदमाह—अन्यदेवेति; देवतान्तरपरः। अथ मुमुक्षुभेदमाह—कैवल्येति। संसारबन्धनिवृत्तिपूर्वककेवलस्वात्मानुभवाभिलाषी। मोक्षेति; संसारबन्धनिवृत्तिपूर्वकभगवदनुभवाभिलाषी ॥ ८ ॥

धर्मपर दो प्रकार के होते हैं- अन्यदेवपर अर्थात् विष्णु के अतिरिक्त अन्यदेवपर तथा विष्णुपर। **मुमुक्षु** कैवल्यपर और मोक्षपर- दो प्रकार के कहे जाते हैं ॥८ ॥

भक्तप्रपन्नभेदेन स तु मोक्षपरो द्विधा।
द्विधा प्रपन्न एकान्तिपरमैकान्तिभेदतः ॥ ९ ॥

मोक्षपरभेदमाह—भक्तेति। भक्तः भक्तियोगनिष्ठः। प्रपन्नः प्रपत्त्यपरपर्यायन्यासयोगनिष्ठः। एकान्ती भगवत्प्रपत्तावेवोपायत्वबुद्ध्या तस्यामेकस्यामेवान्तो निश्चयो यस्य सः। परमपुरुषः श्रीमन्नारायण एवोपायः, प्रपत्तिस्तु तत्प्रसादौपयिकीति बुद्ध्या परमे एकस्मिन्नेवान्तो निश्चयो यस्य सः परमैकान्ती श्रीवैष्णवोत्तमः ॥ ९ ॥

वह **मोक्षपर** भक्त = भक्तियोगनिष्ठ और प्रपन्न = प्रपत्तियोगनिष्ठ भेद से दो प्रकार का होता है। **प्रपन्न** मोक्षपर मुमुक्षु एकान्ती और परम-एकान्ती भेद से दो प्रकार का होता है ॥९ ॥

दृप्त आर्त इति द्वेधा परमैकान्त्युदाहृतः।
ईश्वरः पञ्चधा भिन्नः परव्यूहादिभेदतः ॥ १० ॥

परमैकान्तिभेदमाह—दृप्त इति। दृप्तः; प्रारब्धकर्मफलभोगविलम्बमङ्गीकृत्य तदवसाने मोक्षाभिलाषी। आर्तः, क्षणमपि प्रारब्धकर्मफलं संसारतापमनुभवितुमशक्नुवानोऽवतप्तेनकुलस्थितमिव दुर्दशामनुभवन् प्रपत्त्युत्तरक्षण एव मोक्षाभिलाषी। ईश्वर एक एव; तथापि तस्मिन्नौपाधिकभेदानाह—परव्यूहादीति। विभवान्तर्याम्यर्चा आदिपदग्राह्याः ॥ १० ॥

परम-एकान्ती दो प्रकार का कहा जाता है- दृप्त और आर्त। **ईश्वर** पाँच स्वरूप वाला होता है- पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी तथा अर्चा ॥१० ॥

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

पर एकश्चतुर्धा तु व्यूहः स्याद्वासुदेवकः ।
संकर्षणश्च प्रद्युम्नोऽनिरुद्ध इति भेदतः ॥ ११ ॥

परः; षाड्गुण्यपरिपूर्णः परवासुदेवः । व्यूहान्तर्गतो वासुदेवोऽपि षाड्गुण्यपरिपूर्ण उपासनासौकर्यायावस्थितः । अयं च पररूपादत्यन्ताभिन्न इति संकर्षणादिरूपेण व्यूहत्रयवर्णनं केषांचित् ॥ ११ ॥

पर ईश्वर = परमेश्वर एक ही होता है, परन्तु व्यूह चार होते हैं- वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध ॥११ ॥

मत्स्यादयस्तु विभवा अनन्ताश्च प्रकीर्तिताः ।
अन्तर्यामी तु भगवान् प्रतिदेहमवस्थितः ॥ १२ ॥

मत्स्यादय इति; हंसहयग्रीवादय आदिपदग्राह्याः । प्रतिदेहमिति; चिदचित्प्रपञ्चस्य सर्वस्यापि तद्देहत्वात् तत्रान्तर्व्याप्य नियन्तेत्यर्थः ॥ १२ ॥

मत्स्य आदि रूप से विभव स्वरूप अनन्त कहे गए हैं। अन्तर्यामी भगवान् तो प्रत्येक देह या वस्तु में रहता है ॥१२ ॥

अर्चावतारः श्रीरङ्गवेंकटाद्र्यादिषु स्थितः ।
केशवादि तु तत्त्वज्ञैर्व्यूहान्तरमुदाहृतम् ॥ १३ ॥

अर्चेति । अर्चा; पूजासौकर्यार्थं प्रतिमारूपेण दिव्यालयेष्ववस्थितः । केशवादीति; नारायणवामनादय आदिपदग्राह्याः ॥ १३ ॥

अर्चा = अर्चावतार स्वरूप श्रीरङ्गजी, श्रीवेंकटाद्रि आदि में अवस्थित रहते हैं। केशव आदि स्वरूप तो तत्त्वज्ञानियों द्वारा व्यूहान्तर कहे गये हैं ॥१३ ॥

सत्त्वं रजस्तमः शब्दस्पर्शरूपरसास्तथा ।
गन्धः संयोगशक्ती चेत्यद्रव्यं दशधा मतम् ॥ १४ ॥

अद्रव्यं निरूपयति—सत्त्वमिति । दशधेति; दशधैवेत्यर्थः । वैशेषिकाभिमतानां गुणान्तराणामत्रैवान्तर्भावः । तत्प्रकारश्चान्तिमे परिच्छेदे वक्ष्यते ॥ १४ ॥

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

अद्रव्य दश कहे गये हैं- सत्त्व, रजस्, तमस्, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, संयोग और शक्ति ॥१४ ॥

प्रमायाः करणं तत्र प्रमाणं परिकीर्तितम् ।
यथावस्थितवस्त्वेकव्यवहारानुगा प्रमा ॥ १५ ॥

प्रमाणलक्षणमाह—प्रमाया इति । प्रमाकरणं प्रमाणमिति प्रमाणसामान्यलक्षणम् । प्रमाया लक्षणमाह—यथावस्थितेति । पदार्थानतिवृत्तावत्र यथाशब्दः । अवस्थितं वस्तुतत्त्वमनतिक्रम्य यथावस्थितम् । यथावस्थितं यद् वस्तु, तस्यैकस्य यो व्यवहारः शब्देन निर्देशः, सः अनुगः यस्याः सा । अर्थव्यवहारं प्रति तज्ज्ञानस्य कारणत्वात् ज्ञानान्तरमेव व्यवहार इति व्यवहारानुगत्वं प्रमायाः । संशयादिव्यावृत्तये यथावस्थितेति । यथापदेन अन्यथाज्ञानविपरीतज्ञानयोः, अवस्थितपदेन संशयस्य च व्यावृत्तिः ॥ १५ ॥

इनमें प्रमा के करण को प्रमाण कहते हैं । यथावस्थित एक वस्तु का शब्दनिष्ठ व्यवहार जिसके अनुग-अनुगत= अधीन होता है वह प्रमा है ॥१५ ॥

सा संशयान्यथाज्ञानविपरीतधियो न हि ।
एकधर्मिकनानार्थविषया धीस्तु संशयः ॥ १६ ॥

विवक्षितां व्यावृत्तिमेव विशदयति—सेति; प्रमेत्यर्थः । न हि; संशयादिभिन्नेत्यर्थः । संशयलक्षणमाह—एकधर्मिकेति । एकविशेष्यकनानाप्रकारकं ज्ञानमित्यर्थः । यथा 'अयं स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इति पुरोवर्तिपदार्थविशेष्यकमिथोविरुद्धस्थाणुत्वपुरुषत्वप्रकारकं ज्ञानं संशयः ॥ १६ ॥

वह प्रमा संशय, अन्यथा ज्ञान और विपरीतज्ञान नहीं होती है, कारण कि किसी एक धार्मिक पदार्थ में नाना = अनेक विरुद्ध धर्मों का ज्ञान संशय कहलाता है जैसे - 'यह स्थाणु है या पुरुष' ॥१६ ॥

धीस्तु धर्मविपर्यासेऽन्यथाज्ञानमुदाहृतम् ।
सैव धर्मिविपर्यासे विपरीतमतिर्मता ॥ १७ ॥

CC0. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

अन्यथाज्ञानं लक्षयति—धीस्त्विति। धर्मस्य विपर्यासः अन्यथात्वम्; यथा पीतः शङ्ख इति। अत्र शङ्खे पीतत्वस्यावर्तमानस्य ग्रहणम्। विपरीतधियं लक्षयति—सैवेति। धीरेव धर्मिणो विपर्यासे भ्रम इत्युच्यते; यथा शुक्तिं दृष्ट्वा रजतधीः। अन्यथाज्ञाने शङ्खत्वेन शङ्खो ज्ञातः। पीतत्वे परमन्यथा ज्ञानम्। भ्रमे तु शुक्तित्वेन शुक्तिर्न ज्ञाता; किंतु इदंत्वेन सामान्यत इति विशेषः। अत्रेदमवधेयम्—अन्यथाज्ञानं नाम धर्मिणि ज्ञात एव धर्मस्यान्यथाभूतस्य ज्ञानम्। तत्र धर्म एकोऽनेको वा भवितुमर्हति। यथा पीतः शंङ्ख इत्याद्यः। एकमेव वस्तु सद्विलक्षणम् असद्विलक्षणं सत् अनिर्वचनीयमित्यन्त्यः। संशयादस्य भेदस्तु संशये धर्मयोर्विरोधप्रतिभासः। अत्र तु वस्तुतस्तयोर्विरोधेऽपि अविरोधाभिमान इति।। १७ ॥

किसी एक पदार्थ के धर्म का विपर्यास = किसी एक पदार्थ में अवर्तमान धर्म का ज्ञान **अन्यथाज्ञान** कहलाता है, जैसे- 'पीतः शङ्खः' वही = ज्ञान धर्मी के विपर्यास में जब रहता है तो **विपरीतज्ञान** कहलाता है, जैसे- 'इदं रजतम्' ॥१७ ॥

साक्षात्कारप्रमाहेतुः प्रत्यक्षं मानमीरितम्।
सविकल्पो निर्विकल्पःसाक्षात्कारो द्विधा भवेत्।१८।

प्रत्यक्षं लक्षयति—साक्षात्करोति। साक्षात्काररूपा इन्द्रियजन्या या प्रमा, तस्या हेतुरित्यर्थः। साक्षात्त्वं विभजते—सविकल्पक इति। प्रमायाः प्रमाणस्य च प्रत्यक्षमिति व्यवहारस्तत्र तत्र परिदृश्यते ॥ १८ ॥

साक्षात्काररूपा इन्द्रियजन्या प्रमा का हेतु **प्रत्यक्ष** प्रमाण कहलाता है। सविकल्पक और निर्विकल्पक भेद से साक्षात्कार दो प्रकार का होता है ॥१८ ॥

ग्रहः प्रथमपिण्डस्य निर्विकल्पक उच्यते।
द्वितीयपिण्डग्रहणं सविकल्पकधीर्भवेत्।। १९ ।।

निर्विकल्पकं लक्षयति—ग्रह इति। प्रथमपिण्डस्य प्रत्यवमर्शरहितस्य गवादेः। एवं च विकल्पपदं प्रत्यवमर्शपरम्। प्रत्यवमर्शरहितं ज्ञानं निर्विकल्पकम्। तत्सहितं ज्ञानं सविकल्पकमित्यर्थः। प्रथमपिण्डग्रहणे तस्य पूर्वदृष्टसजातीयतया

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

प्रत्यवमर्शो नास्तीति तन्निर्विकल्पकमित्युच्यते । द्वितीयपिण्डग्रहणे तु तस्य पूर्वदृष्टसजातीयतया प्रत्यवमर्शोऽस्तीति तत् सविकल्पकमित्युच्यते । एतेन निर्विकल्पके विशेषरहितस्य सन्मात्रस्य ग्रहणमिति मतं, जात्यादीनां पृथक्पृथक् ग्रहणमिति च मतं न सिद्धान्तिनामभिमतमित्युक्तं भवति ॥ १९ ॥

प्रथम पिण्ड= प्रत्यवमर्शरहित प्रथम वस्तु का प्रथम बार ज्ञान **निर्विकल्पक** कहलाता है, द्वितीय पिण्डग्रहण में तो उस जैसी पूर्वदृष्ट वस्तु रहने से प्रत्यवमर्श रहता है अतएव द्वितीय पिण्डग्रहण **सविकल्पक** ज्ञान होता है ॥१९ ॥

एतदिन्द्रियसापेक्षमनपेक्षं च दृश्यते ।
अनपेक्षं स्वतः सिद्धं दिव्यं चेति द्विधा मतम् ॥२० ॥

एतत् साक्षात्त्वम् । इन्द्रियेति; प्राकृतबाह्येन्द्रियेत्यर्थः । अनपेक्षम्; इन्द्रियानपेक्षम् । तत्रेन्द्रियापेक्षमयोगिष्वस्मादृशेषु सुप्रसिद्धमिति तदुपेक्ष्य तदनपेक्षमुपपादयति—अनपेक्षमिति । स्वतः सिद्धम्; स्वप्रयत्नेन योगादिना सिद्धम् । दिव्यं स्वप्रयत्नमनपेक्ष्य देवप्रसादात् समासादितम् । अत्रेदं बोध्यम्—योगिप्रत्यक्षं प्रकृष्टादृष्टविशेषजं युक्तावस्थायां मनोमात्रजन्यम्, अयुक्तावस्थायां तु बाह्येन्द्रियजन्यम् । दिव्यप्रत्यक्षमपि ईश्वरप्रसादसमधिगतदिव्येन्द्रियजन्यमेव । यथोक्तम्,

"दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ।
तत्सर्वं धर्मवीर्येण यथावत्संप्रपश्यसि ॥"

इति ॥ २० ॥

यह सविकल्पक साक्षात्कार= प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है- इन्द्रियसापेक्ष और इन्द्रियानपेक्ष । **इन्द्रियानपेक्ष** स्वतः सिद्ध और दिव्य भेद से दो प्रकार का होता है ॥२० ॥

योगजं तु स्वतः सिद्धमन्यत्स्वामिप्रसादजम् ।
अर्वाचीनमिदं सर्वमामनन्ति विचक्षणाः ॥ २१ ॥

अर्वाचीनम्; आधुनिकम् । इदं सर्वम्; अयोगियोगिदिव्यरूपमित्यर्थः ॥२१ ॥

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

स्वतःसिद्ध प्रत्यक्ष योगज= योगादि से सिद्ध होता है तथा दिव्य प्रत्यक्ष भगवत्कृपा से होता है। विद्वान् इस अयोगि-योगि-दिव्यरूप प्रत्यक्ष को अर्वाचीन= आधुनिक कहते हैं ॥२१ ॥

नित्यमुक्तेश्वरज्ञानमनर्वाचीनमुच्यते ।
स्मृतिः प्रमैव प्राचीनानुभवाज्जायते हि सा ॥ २२ ॥

अनर्वाचीनम्; अनाधुनिकं । मुक्तानां मुक्तिप्राप्त्यनन्तरं दृष्टं ज्ञानं नित्यमेवेत्यर्थः । स्मृतेरप्रामाण्यं नैयायिकादय आमनन्ति; तन्निराकरोति—स्मृतिरिति । प्रमैव; प्रत्यक्षप्रमैव । तत्र हेतुमाह—प्राचीनेति ॥ २२ ॥

नित्य, मुक्त और ईश्वर के ज्ञान को अनर्वाचीन= अनाधुनिक कहा जाता है । स्मृति प्रत्यक्ष प्रमा ही है, क्योंकि वह प्राचीन अनुभव से ही उत्पन्न होती है ॥२२ ॥

सदृशादृष्टचिन्ताद्यैः संस्कारोद्बोधने सति ।
स्मृतिवत्प्रत्यभिज्ञापि प्रत्यक्षेऽन्तर्भवत्यसौ ॥ २३ ॥

सदृशेत्याद्यर्धं पूर्वान्वयि । प्रत्यभिज्ञा; सोऽयं देवतदत्त इत्यादिरूपा ॥२३ ॥

सादृश्य, अदृष्ट या चिन्ता आदि के कारण स्मृति के बीजभूत संस्कार का उद्बोधन होने पर स्मृति होती है । स्मृति के समान प्रत्यभिज्ञा का भी अन्तर्भाव प्रत्यक्ष में होता है ॥२३ ॥

पुण्यपूरुषनिष्ठापि प्रतिभात्रैव संमता ।
यथार्थं सर्वविज्ञानमिति यामुनभाषितम् ॥ २४ ॥

प्रतिभा; "बुद्धिर्नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता" इति लक्षिता । अत्रैव; प्रत्यक्ष एव । सर्वविज्ञानम्; परैरयथार्थतयाभ्युपगतं भ्रमादिकमपि यथार्थमेवेत्यर्थः । तथाहि—पञ्चीकरणप्रक्रियया सर्वेषु प्राकृतेषु वस्तुषु सर्वभूतांशाः सन्त्येव । अत एव शुक्तिकायामपि रजतांशस्य विद्यमानत्वात् रजतसंबन्धि भास्वरत्वादि प्रतीयते । अतस्तत्र रजतज्ञानं नात्यन्तायासत्यालम्बनम्, किंतु सत्यालम्बनमेव । तर्हि तस्य भ्रमत्वव्यवहारः कथमिति चेत्, विषयव्यवहारबाधात् । अयं भावः—पञ्चीक-

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

रणरीत्या सर्वत्र सर्वांशानां सत्त्वेऽपि यत्र वस्तुनि यस्यांशा भूयांसस्तत्र तत्त्वेन व्यवहारः। शुक्तिकायां तु रजतांशस्याल्पीयस्त्वात् तत्र रजतत्वव्यवहारः पश्चाद्बाध्यत इति तज्ज्ञानस्य भ्रमत्वव्यवहार इति। एवं स्वप्नादिज्ञानमपि सत्यमेव। तत्तत्पुरुषकर्मानुरूपं तत्तत्पुरुषमात्रानुभवाय तत्तत्कालिकान् पदार्थान् स्वप्ने परमपुरुषः सृजतीति सिद्धान्तात् ॥ २४ ॥

पुण्यात्मा पुरुषनिष्ठ **प्रतिभा** भी प्रत्यक्ष ही कही जाती है। यामुनाचार्य ने कहा है कि सर्वविज्ञान= सभी ज्ञान यथार्थ ही होते हैं ॥२४॥

भूतले तु घटाभावो भूतलात्मैव नेतरः।
मृद् घटस्य प्रागभावो ध्वंसस्तस्य कपालकम् ॥ २५ ॥

अभावस्य पदार्थान्तरत्वं निराकरोति—भूतल इति। घटभावो भूतलरूप एव। घटस्य प्रागभावो मृद्रूप एव। एवं घटध्वंसः कपालरूप एवेत्यर्थः ॥ २५ ॥

भूतल पर घटाभाव भूतलरूप ही होता है, इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं होता है। घट का **प्रागभाव** भी मृद्रूप ही होता है, इसी प्रकार घट का **ध्वन्साभाव** कपालरूप ही होता है ॥२५॥

स्वासाधारणधर्मो हि भेदशब्देन कीर्त्यते।
शब्दस्वाभाव्यजा क्वापि प्रतियोगित्वधीः कृता।२६।

अन्योन्याभावस्य पार्थक्यं निराकरोति—स्वासाधारणेति। घटस्य पटाद्भेदो नाम घटत्वरूप एव। तर्हि घटत्वमित्यत्र न पटाकाङ्क्षा, भिन्न इति व्यवहारे तु पटादिति प्रतियोग्याकाङ्क्षा कुत इत्यत्राह—शब्दस्वाभाव्येति। शब्दस्वभावप्रयुक्तैषा व्यवस्थेति भावः ॥ २६ ॥

किसी भी एक वस्तु का अपना असाधारण धर्म **भेद** शब्द से कहा जाता है और यह **भेद** शब्द कहीं भी प्रतियोगी की आकांक्षा करता है, क्योंकि यह शब्द का स्वभाव है। अतएव **अन्योन्याभाव**, यथा- घटः पटाद् भिन्न, घटत्वरूप ही होता है, तब घटत्व में पटाकांक्षा नहीं होती अपितु भिन्नः- ऐसा व्यवहार होने पर पटात्-ऐसी प्रतियोग्याकांक्षा होती है ॥२६॥

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

अन्तःकरणचैतन्यं तवृत्त्या विषयेण च।
चैतन्यं समतापन्नं साक्षात्कारमजीजनत्॥ २७॥
इत्यादि वचनं सर्वं परोक्तं नात्र संमतम्।
सामान्यं समवायश्च विशेषो नात्र संमतः॥ २८॥

अत्र श्रीशांकराणां मतमनूद्य तत्र स्वानभिमतिमाह—अन्तःकरणेति। चैतन्यमात्माभिन्नं ब्रह्मैव। तच्च चैतन्यमुपाधिभेदात् त्रिधा; प्रमातृचैतन्यम्, प्रमाणचैतन्यम्, प्रमेयचैतन्यं चेति। तत्र यदा चैतन्यमन्तःकरणावच्छिन्नं भवति, तदा तत्र प्रमातृत्वव्यवहारः। वस्तुतोऽन्तःकरणमेव प्रमातृ। तन्निष्ठं प्रमातृत्वं तदवच्छिन्ने चैतन्ये भासत इत्यर्थः। यदा चैतन्यमन्तः करणवृत्त्यवच्छिन्नं भवति, तदा तत्र प्रमाणत्वव्यवहारः। यदा तु घटादिविषयावच्छिन्नं भवति, तदा प्रमेयत्वव्यवहारः इत्यर्थः। एतत्सर्वं नात्र संमतम्। तथा सामान्यसमवायविशेषाख्याः पदार्थाः न पृथक्परिगणनीयाः, तेषामुक्तेष्वेवान्तर्भावात्. तथाहि—सामान्यं नाम सर्वव्यक्त्यनुगत आकारापरपर्यायोऽवयवसंस्थानविशेष एव। समवायोऽपि संयुक्तविशेषणतैव, नान्यत्पदार्थान्तरम्। विशेषोऽपि तत्तत्पदार्थासाधारणधर्मान्नातिरिच्यते॥२७-२८॥

'अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य जब अन्तःकरणवृत्ति तथा विषय के साथ संयोग होने से चैतन्य से समता= अभिन्नता प्राप्त करता है तब साक्षात्कार= प्रत्यक्ष होता है'- इत्यादि वचन, ऐसे ही अन्य वचन जो दूसरों ने कहे हैं वे सब हम सिद्धान्ती को सम्मत नहीं है। हम सिद्धान्ती को सामान्य, समवाय और विशेष पदार्थ भी स्वीकार नहीं हैं॥२७-२८॥

संख्यादिगुणवर्गस्य गुणपार्थक्यकल्पनम्।
सूत्रकारविरुद्धं यत्तत्सर्वं परिहास्यते॥ २९॥

अद्रव्येष्वपि दशातिरिक्तानामनभ्युपगममाह—संख्यादीति। संख्यापरिमाणादीनां पृथक्त्वकल्पनमित्यादिकं सूत्रकारमतविरुद्धमिति तत्सर्वं नानुमन्यत इत्यर्थः। संख्यादीनां क्लृप्तेष्वन्तर्भावप्रकारोऽत्रैव दशमेऽद्रव्यपरिच्छेदे वक्ष्यते॥२९॥

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

संख्या आदि जो सूत्रकार के द्वारा अद्रव्य में अभिहित दस गुणों से पृथक् कहे गये हैं वे तो सूत्रकार मत के ही विरुद्ध हैं, अतएव यह सब कथन स्वतः ही निरस्त हो जाता है ॥२९ ॥

इति वेदान्तकारिकावल्यां प्रत्यक्षनिरूपणं प्रथमं प्रकरणम्।

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

२. अनुमाननिरूपणम्

अनुमित्यात्मविज्ञानेऽनुमानं करणं स्मृतम्।
तच्च लिङ्गपरामर्शस्तद्धेतुर्व्याप्तिधीर्मता ॥ १ ॥

प्रत्यक्षनिरूपणानन्तरमनुमानं निरूपयति—अनुमितीति। आत्मशब्दः स्वरूपपरः। अनुमितिरूपे ज्ञाने करणमनुमानमित्यर्थः। अनुसृत्य प्रवर्तमानं मानमनुमानम्। लिङ्गप्रत्यक्षमनुसृत्य प्रवर्तमानत्वादनुमानं भवति। तदाह न्यायभाष्यकारः—तत्पूर्वकमनुमानमिति। योगरूढं चेदम्। अतः स्मृतिप्रत्यभिज्ञयोः प्रत्यक्षानुगामित्वेऽपि नानुमानत्वम्। लिङ्गपरामर्श इति। लिङ्गस्य साध्यचिह्नभूतस्य हेतोः परामर्शः विवेचनं,साध्यव्याप्यतया पक्षवृत्तितया च विविच्य ज्ञानमित्यर्थः। व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानं परामर्श इति पर्यवसितम्। तद्धेतुः; परामर्शहेतुः। व्याप्तिधीः, व्याप्तिज्ञानम्। अनुमितिं प्रति व्याप्तिज्ञानं करणम्। व्यापारवदसाधारणकारणं करणम्। परामर्शो व्यापार इति प्राञ्चः। नव्यास्तु—परामर्श एव करणम्। व्यापारवत्त्वं न करणलक्षणनिविष्टम्। अपितु साधकतमं करणमित्येव तल्लक्षणम्। परामर्शजनकतया अङ्गीकृतं व्याप्तिज्ञानं तु घटं प्रति कुलालपितेवान्यथासिद्धमित्याहुः। तत्र नव्यमतमवलम्ब्य लिङ्गपरामर्शस्यात्र करणत्वोक्तिः ॥ १ ॥

अनुमितिरूप ज्ञान में जो करण होता है वह **अनुमान** प्रमाण कहलाता है। लिङ्ग परामर्श ही **अनुमान** है और परामर्श का हेतु व्याप्तिज्ञान होता है ॥१ ॥

साध्याभावाधिकरणावृत्तित्वं व्याप्तिरुच्यते।
व्याप्यस्य पक्षवृत्तित्वधीः परामर्शनामभाक् ॥ २ ॥

साहचर्यनियमो व्याप्तिरिति लक्षणे नियमपदार्थं नञ्द्वयघटितवाक्येन विविनक्ति—साध्याभावेत्यादि। साध्यस्य वह्न्यादेर्योऽयमभावः, तदधिकरणं तटाकादिः, तदवृत्तित्वं धूमादेरिति लक्षणसमन्वयः। परामर्शलक्षणमाह— व्याप्यस्येति। व्याप्यस्य हेतोः पक्षे पर्वतादौ वर्तमानत्वधीः परामर्श इत्यर्थः ॥ २ ॥

साध्याभाव के अधिकरण में हेतु का न होना **व्याप्ति** है। पक्ष में रहने वाले व्याप्य हेतु का ज्ञान **परामर्श** कहलाता है ॥२ ॥

CC0. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

तज्जा पक्षे साध्यमतिरनुमित्यात्मिका मता ।
भूयिष्ठसाहचर्यैकज्ञानेन व्याप्तिधीर्भवेत् ।। ३ ।।

तज्जा; परामर्शजा । पक्षे; पर्वतादौ । साध्यस्य वह्न्यादेः मतिः-अनुमितिरित्यर्थः । व्याप्तिज्ञानोत्पत्तौ कारणमाह—भूयिष्ठेति । साहचर्यं सामानाधिकरण्यम्; भूयिष्ठेन साहचर्यज्ञानेन, साहचर्यस्य भूयोदर्शनेनेत्यर्थः ।। ३ ।।

पक्ष में परामर्शजन्या साध्यमति अनुमिति कही जाती है । साध्य और हेतु के परस्पर भूयिष्ठ साहचर्यदर्शन से **व्याप्तिज्ञान** होता है ।।३ ।।

तत्सपक्षे सपक्षस्तु पूर्वं निश्चितसाध्यकः ।
संदिग्धसाध्यकः पक्षो विपक्षस्तदभाववान् ।। ४ ।।

तत्; साहचर्यज्ञानम् । निश्चितसाध्यवान् सपक्षः, यथा धूमेन वह्नौ साध्ये महानसादिः । संदिग्धसाध्यवान् पक्षः, यथा तत्रैव पर्वतादिः । निश्चितसाध्याभाववान् विपक्षः, यथा तत्रैव ह्रदादिः ।। ४ ।।

वह साहचर्यदर्शन= साहचर्यज्ञान सपक्ष में होना चाहिए । **सपक्ष** तो वह होता है, जिसमें साध्यधर्म निश्चित रहता है । जिसमें साध्यधर्म संदिग्ध होता है, वह **पक्ष** कहलाता है । **विपक्ष** वह कहलाता है, जिसमें साध्य का अभाव निश्चित होता है ।।४ ।।

अन्वयी व्यतिरेकी च किंच हेतुर्द्विलक्षणः ।
व्यभिचारी विरुद्धश्चासिद्धः सत्प्रतिपक्षकः ।। ५ ।।

बाधितश्चेति पञ्चैते हेत्वाभासा न साधकाः ।
एवं स्वार्थानुमानस्य प्रपञ्चस्तु निरूपितः ।। ६ ।।

हेतुं विभजते—अन्वयीति । अन्वयो नाम यत्सत्त्वे यत्सत्वमित्यभिलप्यः साहचर्यनियमः । यथा धूमसत्त्वे वह्निसत्त्वम् । तद्वान् हेतुरन्वयीत्युच्यते । व्यतिरेको नाम यदभावे यदभाव इत्यभिलप्यः साहचर्यनियमः । यथा वह्न्यभावे धूमाभावः । तद्वान् व्यतिरेकी हेतुः । द्विलक्षणः द्विरूपः । व्याप्तिः पक्षधर्मता चेति द्वयमप्यनुमानाङ्गम् । तत्रोभयोरन्यतरस्य वा विरहे हेतवो दुष्टा भवन्तीति ते हेत्वाभासा इत्यु-

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

च्यन्ते । हेतुवदापाततो भासन्त इति हेत्वाभासाः । तानाह—व्यभिचारीति । व्यभिचारोऽनियमः । हेतुसाध्ययोः साहचर्ये योऽयमनियमः स व्यभिचारः । तद्वान् हेतुर्व्यभिचारी । स अनैकान्तिक इत्यप्युच्यते । यथा—पर्वतो धूमवान् वह्नेः इत्यत्र यत्र यत्र वह्निः तत्र तत्र धूम इति नियमो वक्तुं न शक्यते, अयोगोले वह्निमत्यपि धूमादृष्टेः । अतोऽत्र वह्निर्व्यभिचारी हेतुः । विरुद्ध इति । साध्याभावव्याप्तो हेतुविरुद्धः । यथा-शब्दो नित्यः कार्यत्वात् इत्यत्र कार्यत्वरूपो हेतुः साध्याभावेन नित्यत्वाभावेन व्याप्तो भवति । असिद्ध इति । स च त्रिधा—स्वरूपाअसिद्धः, आश्रयासिद्धः, व्याप्यत्वासिद्धश्चेति । तत्र प्रथमो यथा—जीवोऽनित्यः, चाक्षुषत्वात् घटवत् इति । अत्र जीवे पक्षे चाक्षुषत्वं स्वरूपतोऽसिद्धमिति नानुमानं प्रभवति । द्वितीयो यथा—गगनारविन्दं सुरभि, अरविन्दत्वात् इत्यत्र आश्रयभूतं गगनारविन्दमप्रसिद्धम् । सोपाधिकस्तृतीयः । यथा यज्ञियपशुहिंसा अधर्मावहा, हिंसात्वात् इत्यत्र निषिद्धत्वमुपाधिः । तद्विशिष्टत्वादयं व्याप्यत्वासिद्धो हेतुः । साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वमुपाधिः । सत्प्रतिपक्षकः; सन् प्रतिपक्षः साध्याभावसाधको हेतुर्यस्य स सत्प्रतिपक्षकः । अयं प्रकरणसम इत्यप्युच्यते । यथा शब्दो नित्यः, श्रावणत्वात् इत्युक्ते, शब्दोऽनित्यः कार्यत्वादित्यनित्यत्वरूपस्य साध्याभावस्य साधको हेतुः कार्यत्वमिति ॥ ५ ॥

बाधित्त इति । अयमेव कालात्ययपदिष्ट इत्यप्युच्यते । साध्याभाववत्पक्षको हेतुर्बाधितः । यथा वह्निरनुष्णः पदार्थत्वात् जलवदिति । अत्र वह्नौ अनुष्णत्वं नास्ति । एते पञ्चापि हेत्वाभासाः हेतुवदापाततो भासन्ते । निष्कर्षे तु न हेतव इत्यर्थः । तस्मात् ते न साध्यस्य साधकाः । अनुमानस्य स्वार्थपरार्थत्वभेदेन द्वैविध्यमभिप्रेत्य पूर्वोक्तः प्रपञ्चः स्वार्थानुमानस्येत्याह—एवमिति । स्वस्य निष्कर्षार्थं प्रवृत्तं स्वार्थम् । परबोधनार्थं प्रवृत्तं परार्थम् ॥ ६ ॥

किंच हेतु दो प्रकार का होता है- अन्वयी और व्यतिरेकी । व्यभिचारी, विरुद्ध, असिद्ध, सत्प्रतिपक्षक और बाधित- ये पांच **हेत्वाभास** हैं जो साध्य के साधक नहीं हैं । इस प्रकार **स्वार्थानुमान** विस्तारपूर्वक कहा गया है ॥५-६ ॥

न्यायजन्यः परामर्शः परार्थानुमितेः कृते ।
न्यायोऽवयववाक्यानि प्रतिज्ञादीनि पञ्च तु[१] ॥ ७ ॥

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

परार्थानुमाने विशेषमाह—न्यायेति। वक्ष्यमाणं प्रतिज्ञादिपञ्चकं न्यायः। तज्जन्यः परामर्शः परार्थानुमितिं जनयति। न्यायावयवानाह—प्रतिज्ञादीति। प्रतिज्ञा, हेतुः, उदाहरणम्, उपनयः, निगमनमिति पञ्चावयवाः ॥ ७ ॥

परार्थानुमान के लिए न्यायजन्य परामर्श होता है। प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और नियमन- ये पञ्चावयव वाक्य न्याय कहे जाते हैं ॥७ ॥

प्रतिज्ञा साध्यनिर्देशो हेतुस्तद्वचनं मतम्।
व्याप्त्युक्तिपूर्वदृष्टान्तवागुदाहरणं भवेत् ॥ ८ ॥

तत्र प्रतिज्ञा नाम साध्यनिर्देशः; यथा वह्निमानिति। हेतुर्नाम हेतूक्तिः; यथा धूमादिति। उदाहरणं नाम व्याप्तिनिर्देशपूर्वकं दृष्टान्तस्य वचनम्; यथा यो यो धूमवान् स सोऽग्निमान् यथा महानस इति ॥ ८ ॥

प्रतिज्ञा साध्यनिर्देश है, यथा- वह्निमान्; हेतु हेतूक्ति है, यथा- धूमात्; उदाहरण व्याप्तिनिर्देशपूर्वक दृष्टान्तवचन होता है, यथा- यो यो धूमवान् स सोऽग्निमान् यथा महानसः ॥८ ॥

व्याप्यस्य पक्षवृत्तित्वबोधश्चोपनयो मतः[२]।
उपसंहारवचनं भवेन्निगमनं पुनः ॥ ९ ॥

व्याप्यस्य हेतोः पक्षे पर्वतादौ वर्तमानत्वबोधनमुपनयः। यथा—तथा चायं धूमवानिति। पक्षे साध्यस्योपसंहारवचनं निगमनम्। यथा—तस्मादग्निमानिति। इदं च पञ्चावयववाक्योपन्यसनं नैयायिकरीत्या। वेदान्तसिद्धान्तरीत्या तु नैवावयवसंख्यानियमः। मृदुमध्यमोत्तमधियां संग्रहविस्ताराभ्यां यावदपेक्षं प्रयोग इति भाव्यम् ॥ ९ ॥

व्याप्य हेतु का पक्ष में रहने का बोध उपनय कहलाता है, यथा- तथा चायं धूमवान्। पक्ष में साध्य का उपसंहारवचन निगमन कहा जाता है, यथा- तस्मादग्निमान् ॥९ ॥

इति वेदान्तकारिकावल्यामनुमाननिरूपणं द्वितीयं प्रकरणम्।

---

२. पञ्च चं—C

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

३. शब्दनिरूपणम्

अनाप्तानुक्तवाक्यं यत्तच्छाब्दकरणं स्मृतम् ।
वेदस्यापौरुषेयत्वात्तत्र लक्षणसंगतिः ॥ १ ॥

अनाप्तेत्यादि । अनाप्तैरयथार्थभाषिभिरनुक्तं यद्वाक्यं तच्छाब्दप्रमितेः करणम्; शब्दप्रमाणमित्यर्थः । आप्तोक्तवाक्यमित्युक्तौ वेदस्यापौरुषेयस्यासंग्रहः स्यादिति नञ्द्वयघटितं लक्षणमुक्तम् । तदेवाह—वेदस्येति । ईश्वरोऽपि वेदस्य प्रवर्तयितैव; नोत्पादक इति भावः ॥ १ ॥

जो वाक्य अनाप्त द्वारा अनुक्त होता है वह शाब्द प्रमिति का करण कहलाता है । कारण कि वेद अपौरुषेय हैं, यही वेद का लक्षण है ॥१ ॥

सिद्धे[1] व्युत्पत्तिसद्भावाद्वेदो निष्पन्नबोधकः ।
तत्कार्यपरताहानेरप्रामाण्यं न शङ्क्यताम् ॥ २ ॥

ननु मीमांसकैः शब्दस्य कार्यपरतयैव प्रामाण्याङ्गीकारात् सिद्धब्रह्मावबोधकानां वेदान्तवाक्यानां कथं प्रामाण्यमित्याशङ्क्याह—सिद्ध इति । सद्भावादिति । अम्बा तात इत्याद्यङ्गुलिनिर्देशपूर्वकं बालानां व्युत्पत्तिसंभवात् कार्यपरत्वनियमो नास्तीत्यर्थः । एतद्विस्तरश्च श्रीभाष्यादावनुसंधेयः । निष्पन्नम्; सिद्धं ब्रह्म । तत्; तस्मात् । कार्यपरताहानेः; वेदान्तवाक्यानामिति शेषः । । २ ॥

वेद सिद्ध ब्रह्म के बोधक हैं, क्योंकि शब्द सिद्ध वस्तु के ही व्युत्पत्तिपरक होते हैं । अतएव वेदान्त-वाक्यों के प्रामाण्य में इसलिए शङ्का नहीं करनी चाहिए कि शब्द मात्र साध्य वस्तु के ही व्युत्पत्तिपरक होते हैं, क्योंकि ऐसा नहीं है ॥२ ॥

कर्मब्रह्माभिधायित्वात्स च भागद्वयात्मकः ।
पूर्वभागः कर्मपर उत्तरो ब्रह्मगोचरः ॥ ३ ॥

---

१. सिद्धत्युत्पत्ति-C

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

वेदस्य भागद्वयात्मकतां तावदाह—कर्मेत्यादि । कर्मकाण्डब्रह्मकाण्डभेदेन द्वेधा विभाग इत्यर्थः । तत्र पूर्वभागः कर्मपरः । उत्तरभागो ब्रह्मपर इति विवेकः ॥३ ॥

वेद के दो भाग हैं- कर्मकाण्ड और ब्रह्मकाण्ड । इसमें पूर्वभाग कर्मपरक है तथा उत्तरभाग ब्रह्मपरक है ॥३ ॥

तदैक्यात्पूर्वपरयोर्व्याख्ययोरेकशास्त्रता[1] ।
अध्यायभेदवद्भेदे[2] शास्त्रैक्यं न विरुध्यते ॥ ४ ॥

तदैक्यात्; भागद्वयात्मकस्य वेदस्यैक्यात् । व्याख्ययोः; वेदार्थविचार परयोः कर्मब्रह्ममीमांसयोः । एकशास्त्रता; मीमांसारूपैकशास्त्रता । अत्र तदैक्यादिति हेतुनिर्देशः । व्याख्येयस्य वेदस्यैक्यात् व्याख्यानरूपयोः पूर्वोत्तरमीमांसयोरैक्यमित्यर्थः । यथा शारीरकचतुर्लक्षण्यां समन्वयाविरोधसाधनफलरूपावान्तरविषयभेदेऽपि ब्रह्ममीमांसारूपत्वात् विशिष्टमेकं शास्त्रमिति तद्भाष्यस्याप्येकशास्त्रत्वं तद्वदिति भावः ।

अत्रेदमवधेयम्—अथातो ब्रह्मजिज्ञासेत्यत्राथशब्दः कर्मविचारानन्तर्यपरः । अथ कर्मविचारानन्तरम्, अतः कर्मविचारस्य वृत्तत्वाद्धेतोः, ब्रह्मजिज्ञासोदेतीति सूत्रार्थः । अध्ययनविधिर्हि साङ्गसशिरस्कवेदाध्ययनविषयः । निर्वृत्ते च तथाविधेऽध्ययने रागतो विधितो वा पुरुषः कृत्स्नवेदार्थविचारे प्रवर्तमानोऽधीतक्रमेण प्रथमं कर्मविचारे प्रवर्तते । ततो विचारितानां कर्मणामल्पास्थिरफलत्वमवगम्यानल्पस्थिरफलब्रह्मविचारे प्रवर्तते इति वेदार्थविचाररूपाया मीमांसाया एकाधिकारिकत्वादेकशास्त्रत्वमेव प्रामाणिकमिति सिद्धान्तः । तथाचाह श्रुतप्रकाशिकाकारः— "अथातः शब्दोपस्थापितोऽधिकारिविशेषः प्रदर्शितो भवति । समधिगतकर्मा सांसारिकफलनिर्विण्णोऽन्तस्थिरफलाकाङ्क्षी हि शास्त्रमधिकरोति" इति । न चैवं शारीरकस्य विरक्ताधिकारिकत्वे स्वर्गादिसाधन- काम्यानुष्ठाता न कश्चित्स्यादित्यननुष्ठानलक्षणमप्रामाण्यं पूर्वकाण्डस्य स्यादिति चेत्, मैवम्, मोहात् विघ्नसंचयाच्च ये कर्ममात्रं विचार्य विश्रान्ताः, ये च ख्यात्यादिकामाः, ते

---

१. व्याख्येया ह्येकशास्त्रता—C.
२. वेदे—C

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

श्रुतशारीरका अपि प्रवृत्तिधर्मं न जह्युरिति तस्य सार्थक्यसंभवात्। एवं स्थितेऽत्राथशब्दस्य साधनचतुष्टयसंपत्त्यानन्तर्यार्थकत्वं श्रीशंकराचार्यैरुपवर्णितमवलम्ब्य सर्वज्ञात्मना संक्षेपशारीरके कर्मब्रह्ममीमांसयोर्भिन्नफलकत्वाद्भिन्नाधिकारिकत्वं शास्त्रभेदे बीजमुपक्षिप्तम्। तच्च तदनुगामिभिः क्रमेण युक्तिजालसलिलसेकेन परिवर्धितम्। तत्र युक्तश्चैवमुपपादिताः—तत्त्वज्ञानस्यैव मोक्षसाधनत्वात् कर्मणां तत्र न कथंचिदप्युपयोगः। प्रत्युत कर्मज्ञानयोर्विरोधोऽपि। कर्मणि हि आविद्यकपुरुषाधिकृतानि। तत्त्वज्ञानं त्वविद्योच्छेदकामाधिकृतमिति कर्मज्ञानयोरालोकतमसोरिव परस्परं विरोधात् तयोर्न कथंचित्समसमुच्चयोऽङ्गाङ्गिभावसमुच्चयो वा संभवति। अतस्तत्प्रतिपादिके उभे अपि मीमांसे नैकस्य शास्त्रस्य शाखाभूयमर्हतः। किंतु पृथक्शास्त्रे इति। तन्निराकरोति—तदैक्यादिति। कर्मज्ञानयोःसमसमुच्चयासंभवेऽप्यङ्गाङ्गिभावेन समुच्चयः संभवत्येव। अनभिसंहितफलविशेषतया क्रियमाणैर्हि कर्मभिः ज्ञानोत्पत्तिविरोधिपापनिर्हरणात्कर्माणि ज्ञानस्येतिकर्तव्यतामापद्यन्ते। अतो भगवदाराधनरूपकर्मप्रतिपादनपरः पूर्वकाण्डः। उत्तरकाण्डस्तु सर्वकर्मसमाराध्यभगवत्प्रतिपादनपर इति कुतस्तयोर्विरोधः। कुतस्तरां च तद्विचारपरयोर्मीमांसयोर्विरोध इति नैकशास्त्रत्वव्याघातः। पूर्वोत्तरमीमांसारूपो व्यवहारोऽप्यत्रानुकूल इति वदन्ति। उत्तर मीमांसाया अथातः शब्दपुरस्कारेण प्रतिज्ञान्तरेण चारम्भात् शास्त्रभेदः सूत्रकृत्संमत इत्यत्राह—अध्यायेति। यद्यथातः शब्दश्रवणमात्रेण प्रतिज्ञान्तरेण च शास्त्रभेदः, तदा "अथातः शेषलक्षणम्" "अथातः क्रत्वर्थपुरुषार्थयोर्जिज्ञासा" इत्यादावपि शास्त्रभेदः स्यादिति प्रतिबन्द्यभिप्रेता ॥ ४ ॥

क्योंकि सम्पूर्ण वेद अपने दो भागों में विभक्त होने पर भी **वेद** अर्थात् एक कहा जाता है, इसलिए उसके व्याख्या-ग्रन्थ भी पूर्व-मीमांसा और उत्तरमीमांसा भेद से दो होने पर भी **एक** अर्थात् मीमांसा-ग्रन्थ ही कहे जाने चाहिए। मीमांसा-शास्त्र के **एक** होने में अध्यायभेद के समान प्रत्येक भाग का विषयभेद कोई विरोध उपस्थित नहीं करता है ॥४॥

विध्यर्थवादमन्त्रात्मा त्रिविधः स प्रतीयते।
अनुष्ठेयार्थगमको मन्त्रः स्यादर्थवादगीः ॥ ५ ॥

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

प्रकारान्तरेण त्रैविध्यमाह—विधीत्यादि । विधिः, अर्थवादः, मन्त्र इति त्रिधा विभाग इत्यर्थः । तेषां प्रत्येकं लक्षणमाह—अनुष्ठेयेति । अनुष्ठेयार्थप्रकाशको मन्त्र इति मन्त्रलक्षणम् । यथा "इषे त्वा" इत्यादिः ॥ ५ ॥

प्रकारान्तर से वेद के तीन भाग कहे जाते हैं- विधि, अर्थवाद और मन्त्र । अनुष्ठेय अर्थ का प्रकाशक मन्त्र कहलाता है, यथा- 'इषे त्वा' इत्यादि । **अर्थवाद** इस प्रकार है- ॥५ ॥

प्रवृत्त्युत्तम्भिका या स्याद्विधिर्वाक्यं प्रवर्तकम् ।
स त्रिधापूर्वनियमपरिसंख्याविभेदतः ॥ ६ ॥

अर्थवादो नाम पुरुषप्रवृत्तिनिवृत्त्युत्तम्भकं वचनम् । यथा—"वायुर्वैक्षेपिष्ठा देवता" इति वचनं वायव्येष्टौ पुरुषप्रवृत्तिमुत्तम्भयति । "सोऽरोदीत्" इत्यादिकं रजतदानादौ पुरुषनिवृत्तिमुत्तम्भयति । पुरुषस्य कर्मणि प्रवर्तकं वाक्यं विधिः । स त्रिधा—अपूर्वविधिः, नियमविधिः, परिसंख्याविधिश्चेति । "यजेत स्वर्गकामः" इत्यपूर्वविधिः । "व्रीहीनवहन्ति" इति नियमविधिः । "पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः" इति परिसंख्याविधिः । तेषां लक्षणं तु—

"विधिरत्यन्तमप्राप्ते नियमः पाक्षिके सति ।
तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसंख्येति गीयते ॥"

इति ॥ ६ ॥

पुरुष की प्रवृत्ति या निवृत्ति में उत्तम्भक= प्रेरक वचन **अर्थवाद** कहे जाते हैं, यथा- वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता । पुरुष के कर्म में प्रवर्तक वाक्य **विधि** कहा जाता है । विधि के तीन प्रकार हैं- (i) अपूर्वविधि, यथा- 'यजेत स्वर्गकामः'; (ii) नियम विधि, यथा- 'व्रीहीनवहन्ति'; तथा (iii) परिसंख्या विधि, यथा- 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' ॥६ ॥

[1]नित्या नैमित्तिकाः काम्या इति ते बहुधा मताः ।
[2]तेषां स्वरूपलक्ष्माणि मन्तव्यानि नयान्तरे ॥ ७ ॥

---

१. नित्यनैमित्तिके काम्यादिकास्ते—A.C.
२. तल्लक्षणस्वरूपाणि द्रष्टव्यानि—C.

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

प्रकारान्तरेणापि विभागमाह—नित्या इति । "अहरहः संध्यामुपासीत" इति नित्यविधिः । "उपरागे स्नायात्" इति नैमित्तिकविधिः । "ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामः" इत्यादिः काम्यविधिरिति ज्ञेयम् । एतेषां विस्तरेण स्वरूपलक्षणादीनि शास्त्रान्तरेषु ज्ञातव्यानि । विस्तरभियात्र न विस्तृतानीत्याह—तेषामिति ॥ ७ ॥

प्रकारान्तर से नित्य, नैमित्तिक, काम्य आदि अनेक भेद विधि के कहे गये हैं। उनके स्वरूप व लक्षण दूसरे आकर ग्रन्थों से ज्ञातव्य हैं ॥७ ॥

छन्दः कल्पश्च शिक्षा च निरुक्तं ज्यौतिषं तथा ।
व्याकृतिश्चेति वेदस्य षडङ्गानि प्रचक्षते ॥ ८ ॥

वेदाङ्गान्याह—छन्द इत्यादि ।

"शिक्षा व्याकरणं छन्दो निरुक्तं ज्योतिषं तथा ।
कल्पश्चेति षडङ्गानि वेदस्याहुर्मनीषिणः ॥"

इत्यस्यार्थतोऽनुवादोऽयम् ॥ ८ ॥

वेद के छः अङ्ग कहे गये हैं- छन्द, कल्प, शिक्षा, निरुक्त, ज्यौतिष तथा व्याकृति ॥८ ॥

अनुष्टुबादिकं छन्दः कल्पः श्रौतादिबोधकः ।
वर्णनिर्णायिका शिक्षा निरुक्तं स्वार्थबोधकम् ॥ ९ ॥

अनुष्ठानादिकालस्य निर्णये ज्यौतिषं भवेत् ।
सौशब्द्याय व्याकरणमिति साङ्गे प्रमाणता ॥ १० ॥

षण्णामङ्गानां प्रत्येकं स्वरूपं संगृह्याह—अनुष्टुबादिकमिति । स्वार्थबोधकम्; वैदिकपदार्थबोधकम् । कालस्येति; "वसन्ते वसन्ते यजेत" इत्याद्युक्तवसन्तादिकालस्येत्यर्थः । साङ्गे; षडङ्गसहिते वेदे ॥ ९-१० ॥

अनुष्टुप् आदि छन्द हैं, श्रौत आदि के बोधक कल्प हैं, वर्णों की निर्णायिका शिक्षा है, वैदिक शब्दों का अर्थबोधक निरुक्त है, अनुष्ठान आदि के काल-निर्णय हेतु ज्यौतिष होता है, तथा व्याकरण शब्द के

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

सुष्ठु-प्रयोग के लिए है । इस प्रकार वेद अपने छः वेदाङ्ग सहित प्रमाण स्वरूप हैं ॥ ९-१० ॥

एतन्मूलतया स्मृत्यादीनां प्रामाण्यमीरितम् ।
एतद्विरुद्धं यत्किंचिन्नाश्नुवीत प्रमाणताम् ॥ ११ ॥

एतन्मूलतया; वेदमूलतया । स्मृत्यादीनामिति; आचारादिकमादिपदार्थः । एतद्विरुद्धम्; वेदविरुद्धम्; यथा चैत्यवन्दनादिबोधिका बाह्यानां स्मृतिः । नाश्नुवीत; न लभेत ॥ ११ ॥

मूल में वेद रहने से स्मृति आदि भी प्रामाणिक कही जाती हैं । वेद विरुद्ध यत्किंचित् यथा- चैत्यवन्दनादि बोधिका स्मृति प्रामाणिक नहीं मानी जाती है ॥११ ॥

आकाङ्क्षादिकमेतच्च शाब्दबोधैककारणम् ।
तद्विचारोऽत्र संक्षिप्तो ग्रन्थविस्तरभीरुणा ॥ १२ ॥

आकाङ्क्षादिकमिति । योग्यतासंनिध्यादिरादिपदार्थः । शाब्दबोधेति; शब्देन शाब्दप्रमितौ जनयितव्यायामाकाङ्क्षायोग्यतासंनिध्यादयः सहकारिण इत्यर्थः । ते च ग्रन्थविस्तरभयादत्र न विवृताः ॥ १२ ॥

आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि- ये तीनों शाब्दबोध के कारण होते हैं । यहाँ इनका ग्रन्थविस्तार के भय से विचार नहीं किया जा रहा है ॥१२ ॥

मुख्यौपचारिकत्वाभ्यां स शब्दो द्विविधो मतः ।
अभिधा मुख्यवृत्तिः स्याद् वृत्तिरन्यौपचारिकी ॥१३ ॥

शब्दस्य प्रभेदमाह—मुख्येति । मुख्य औपचारिकश्चेति शब्दो द्विधा । तत्राभिधावृत्त्या बोधको मुख्यः; यथा—घटशब्दः कलशबोधकः । तदन्यया गौण्यादिकया बोधक औपचारिकः; यथा—पुरुषोत्तमे मुख्यवृत्तस्य भगवच्छब्दस्यान्यत्र देवतान्तरादौ तद्गुणलेशयोगात् प्रवृत्तिः ॥ १३ ॥

शब्द दो प्रकार के होते हैं- मुख्य और औपचारिक । इनमें अभिधावृत्ति से बोधक मुख्य कहलाते हैं तथा गौणी आदि वृत्ति से बोधक

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

औपचारिक कहे जाते हैं। अभिधा मुख्यवृत्ति है तथा अन्य वृत्ति औपचारिकी कही जाती है ॥१३॥

शरीरवाचकाः शब्दाः शरीरिकृतवृत्तयः ।
सर्वशब्दैकवाच्यत्वं हरेरिति गदिष्यते ॥ १४ ॥

अस्मिन् प्रसङ्गे विशिष्टाद्वैतप्रधानप्रतितन्त्रसिद्धान्तमपि प्रकटयति—शरीरवाचका इति। लोके हि शरीरवाचकाः शब्दाः शरीरिपर्यन्तमर्थं बोधयन्ति। तथाहि—देवत्वमनुष्यत्वपुंस्त्वस्त्रीत्वादयो न जीवधर्माः, अपितु शरीरधर्मा इति सर्वसंप्रतिपन्नम्। तथापि 'देवो वन्द्यः' इत्यादौ देवादिशब्दा न शरीरमात्रबोधनेन विरतव्यापारा भवन्ति। किंतु तच्छरीरात्मनि पर्यवस्यन्ति। तत्र च निदानं देवादिशरीराणामात्मानं प्रत्यपृथक्सिद्धविशेषणत्वमेव। किं चाकृत्यधिकरणन्यायेन गवादिशब्दा गोत्वे शक्ता इत्यपि निर्विवादम्। तथापि ते गवादिव्यक्तिबोधका इत्यपि सर्वसंप्रतिपन्नम्। तत्रापि जातिव्यक्त्योरपृथक्सिद्धः संबन्ध एव निदानम्। अपिच शुक्लादयः शब्दा रूपवाचका अपि शुक्लः पट इत्यादौ गुणिसमानाधिकरण्येन प्रयुज्यमाना गुणिपरा इत्यपि सर्वसंप्रतिपन्नम्। तत्रापि गुणगुणिनोरपृथक्संबन्ध एव निदानम्। एवमत्रापि भगवतोऽपृथक्सिद्धविशेषणभूतचिदचिद्वाचकाः सर्वे शब्दाः प्रकारिणि भगवतोऽपृथक्सिद्ध विशेषणभूतचिदचिद्वाचकाः सर्वे शब्दाः प्रकारिणि भगवति मुख्यैव वृत्त्या बोधका इति। एवं च भगवतः सर्वशब्दवाच्यत्वं सिद्धम्। अत एव "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति" "स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः" "तदेवाग्निस्तद्वायुः" "ज्योतीषिं विष्णुर्भुवनानि विष्णुः" इतिच श्रुतिस्मृतीतिहासेषु गीयत इत्यवगन्तव्यम्। गदिष्यत इति; ईश्वरनिरूपणावसर इति भावः ॥ १४ ॥

शरीरवाचक शब्द शरीरी के ही द्योतक होते हैं, अतएव सभी शब्द भगवान् हरि के ही वाचक हैं- यह आगे कहा जायेगा ॥१४॥

इति वेदान्तकारकावल्यां शब्दनिरूपणं तृतीयं प्रकरणम्।
प्रमाणनिरूपणं समाप्तम्।

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

४. प्रकृतिनिरूपणम्

यत् प्रमाविषयं तत् स्यात्प्रमेयमिति तद् द्विधा।
द्रव्यमद्रव्यमित्याद्यं तदुपादानकारणम्॥ १॥

प्रमाणनिरूपणानन्तरं प्रमेयनिरूपणमारभते—यदिति। प्रमाविषयमिति। अत्र च द्वेधा व्याख्या—प्रशब्दस्य प्रथमं माशब्देनान्वये प्रकृष्टा मा प्रमा यथार्थज्ञानम्, तस्या विषय इत्येका। मायाः विषयः माविषयः, मेयमित्यर्थः। प्रकृष्टं मेयं प्रमेयमित्यन्या। प्रथमपक्षे प्रकर्षः संशयविपर्ययादिभिन्नत्वम्। द्वितीये संशयविपर्ययाद्यविषयत्वमिति भिदा। तत्; प्रमेयम्। द्विधा; द्विप्रकारा। प्रकारद्वयमेवाह—द्रव्यमिति। आद्यं तदिति; द्रव्यरूपं प्रमेयमित्यर्थः। उपादानेति; उपादानकारणत्वं द्रव्यत्वमिति द्रव्यलक्षणम्॥ १॥

प्रमा का जो विषय होता है वह **प्रमेय** कहलाता है। प्रमेय के दो भेद हैं-द्रव्य और अद्रव्य। **द्रव्य** वह है जो उपादान कारण होता है॥१॥

अवस्थान्तरयोगित्वमुपादानत्वमुच्यते।
[1]गुणाश्रयं वा द्रव्यं स्यात्तच्च द्वेधा प्रकीर्तितम्॥ २॥

समवायिकारणमुपादानम्। यत्समवेतं कार्यमुत्पद्यते तत्समवायिकारणमिति च नैयायिकाः परिभाषन्ते। वेदान्तिनां मते समवायानङ्गीकारात् तद्घटितं लक्षणमुपेक्ष्यान्यथा लक्षयति—अवस्थेति। अन्या अवस्था अवस्थान्तरम्, तद्योगित्वं तदाश्रयत्वमित्यर्थः। अवस्था नाम आगन्तुकोऽपृथक्सिद्धश्च धर्मः। कार्यकारणयोरनन्यत्वात् मृदेव कम्बुग्रीवादिमत्त्वरूपागन्तुकधर्मिणी घट इत्युच्यत इति मृदुपादानं भवति। लक्षणान्तरमाह—गुणेति। पदार्थसामान्यस्य द्रव्याद्रव्यात्मना विभागस्याभिहितत्वात् अत्र गुणपदेनाद्रव्यमुच्यते। घटादीनां रूपाद्याश्रयत्वात् लक्षणसंगतिः। एवं द्रव्याद्रव्यविभागेन तल्लक्षणकथनेन च निर्धर्मका निराधारा रूपादय एव पदार्था इति वैभाषिकणां मतमसंगतमिति द्योतितम्। 'रूपी घटः' इति ह्यनुभवो जायते, नतु 'रूपं घटः' इति। 'घटः रूपादिभिन्नः अवस्थाश्रयत्वात्, यन्नैवं

---

१. द्रव्याश्रयं त्वद्रव्यं स्यात्—B.

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

तन्नैवं यथा रूपम्' इत्याद्यनुमानं चात्र बोध्यम् । द्रव्यं विभजते—तच्चेति । द्वेधेति; जडाजडात्मनेत्यर्थः ॥ २ ॥

उपादान कारण वह है जो अवस्थान्तर में परिणत होता है । अथवा, द्रव्य वह है जो गुणों के आश्रित रहता है । द्रव्य के दो भेद कहे गये हैं- जड और अजड ॥२ ॥

अमिश्रसत्त्वराहित्यं जडत्वमनुगद्यते ।
जडं प्रकृतिकालौ द्वौ सा[१] सत्त्वादिगुणत्रया[२] ॥ ३ ॥

तत्र जडलक्षणमाह—अमिश्रेति । रजस्तमोभ्यामित्यादिः । रजस्तमोभ्याममिश्रितं यत् सत्त्वं सत्त्वगुणः, तद्रहितमित्यर्थः । मिश्रसत्त्ववत्त्वमिति तु लक्षणं न वक्तुं शक्यते, जडभेदे काले अव्याप्तेः कालो हि सिद्धान्ते गुणत्रयरहितो नित्यश्च । अत एव तस्याप्राकृतनित्यविभूतावपि सद्भाव उपपद्यते । अत एव—"कालं स पचते तत्र न कालस्तत्र वै प्रभुः" इत्यादिकं संगच्छते । पूर्वं प्रत्यक्षनिरूपणे प्रकृतिः काल इति जडस्य द्वैविध्ये उक्तेऽपि प्रकृतौ विशेषं वक्तुं पूर्वोक्तमनुभाषते—जडमिति । सेति; प्रकृतिरित्यर्थः । सत्त्वादिगुणत्रयेति; सत्त्वादिगुणानां त्रयं यस्यामिति बहुव्रीहिः । सत्त्वादिगुणाश्रयेति पाठस्तु तल्लक्षणस्य शुद्धसत्त्वाश्रये नित्यविभूतावतिव्याप्तेर्नादर्तव्यः ॥ ३ ॥

जड वह कहलाता है जो अमिश्र सत्त्व-गुण से रहित होता है । जड के दो भेद हैं- प्रकृति और काल । प्रकृति वह है जो सत्त्व, रजस् और तमस्- इन तीन गुणों से युक्त होतीं है ॥३ ॥

प्रकृतिः सा क्षराविद्यामायाशब्दैर्निगद्यते ।
कार्योन्मुखत्वावस्था स्यादव्यक्तव्यपदेशभाक्[३] ॥४ ॥

प्रकृतिरिति; पूर्वकारिकोक्तस्य लक्षणस्य लक्ष्यनिर्देशः । प्रकरोति विकारानस्या ईश्वर इति प्रकृतिः । अपादाने क्तिन् प्रत्ययः । सेति प्रकृतेरेव विशेषाभि-

---

१. स्तः—B.
२. गुणाश्रया—C.
३. देशनात्—B.

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

धानार्थं पुनर्निर्देशः । क्षरेत्यादि । प्रकृतेरेव क्षरेति अविद्येति मायेति च नामान्तरैस्तत्र तत्र व्यपदेशः क्रियत इत्यर्थः । क्षरति विकरोतीति क्षरम्, "क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः" इति श्रुतेः । "क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते" इति स्मृतेश्च । महदहंकारादिरूपेण विकारित्वादिदं नाम । न विद्येत्यविद्या । नञत्र विरोधे । विद्याविरोधित्वादविद्येत्युच्यते, "क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या" इत्यादिश्रुतेः । विचित्रसृष्ट्युपकरणत्वात् मायेत्युच्यते । मायाशब्दस्य हि विचित्रकार्यकरत्वं प्रवृत्तिनिमित्तम्,

"तेन मायासहस्रं तच्छम्बरस्याशुगामिना ।
बालस्य रक्षता देहमैकैकश्येन सूदितम् ॥"

इत्यादौ तथा प्रयोगात् । "मायां तु प्रकृतिं विद्यात्" इति श्रुतिश्च प्रकृतिपर्यायं मायाशब्दमाह । इदं चाचेतनाप्रधानादिनाम्नामप्युपलक्षणम्, "अचेतना परार्था च नित्या सततविक्रिया" "प्रधानपुंसोरजयोः" इत्यादिवचनात् । सैव प्रकृतिर्दशान्तरापन्ना अव्यक्तेत्युच्यत इत्याह—कार्येति । सा प्रकृतिर्यदा महत्त्वाद्यवस्थान्तरहेतुभूतं शक्तिविशेषमवलम्बते तदा अव्यक्तमित्युच्यते । इदमुपलक्षणम्—ततः पूर्वतनावस्थान्तराणामपि । तथाहि—मूलप्रकृतेर्महत्त्वहेतुभूतावस्था अव्यक्तावस्थेत्युच्यते । ततः पूर्वं तिस्रोऽवस्थाः सन्ति । तत्र प्रथमा अविभक्ततमोऽवस्था, यस्यां सा केदारनिक्षिप्तबीजवत् विकारौन्मुख्यरहिता पानकविलीनगुडवत् परमात्मनैकीभावमापन्ना तच्छरीरतयापि चिन्तयितुमशक्या परमात्मैकवेद्या सूक्ष्मावतिष्ठते । ततो द्वितीया विभक्ततमोऽवस्था, यत्र सा मृन्निःसृतबीजवत् अक्षरावस्थाप्राप्त्युन्मुखी भवति ।अस्मिन्नवस्थाद्वये तस्यां सदपि चिद्गर्भत्वं न स्फुरति । ततस्तृतीया अक्षरावस्था,यत्र सा सलिलसंसृष्टार्द्रशिथिलावयवबीजतुल्यावस्था मनाक् स्फुरितचिद्गर्भा च वर्तते । अक्षराख्यचिद्गर्भत्वस्येषत्स्फुरणात् तदा सा अक्षरेति व्यपदेशं लभते । ततस्तुरीया पूर्वोक्ता अव्यक्तावस्था, यत्र सा उच्छूनबीजवदङ्कुरस्थानीयमहदुत्पादनोन्मुखी भवति । एवं चतस्रोऽवस्था व्यतीत्य पञ्चम्यामवस्थायां महदाख्यामापद्यते । एताश्चावस्थाः "अव्यक्तमक्षरे लीयते, अक्षरं तमसि लीयते, तमः परे देव एकी भवति" इति सुबालोपनिषदि प्रतिपादिताः ॥४ ॥

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

वह प्रकृति क्षर, अविद्या और माया शब्दों से भी जानी जाती है। यह प्रकृति अव्यक्त भी कहलाती है जब यह कार्योन्मुख अवस्था अथवा व्यक्तावस्था को प्राप्त होती है ॥४॥

अव्यक्तान्महदुत्पत्तिः सात्त्विकत्वादिभेदतः।
अहंकारस्ततस्त्रेधा सात्त्विकत्वादिभेदभाक् ॥ ५ ॥

महदादिसृष्टिमाह—अव्यक्तादिति। कार्योन्मुख्यविशिष्टाया मूलप्रकृतेरेव महदादिकारणत्वम्; न तु नैयायिकाभिमतपरमाणूनामित्यर्थः। अनुमानेन परमाणुसाधने तु तस्य लाघवात् त्रसरेणावेव विश्रान्तिरस्तु। यदाहुः—"अनुमितिविषये लाघवस्यानुसारात्" इति। अतश्च प्रकृतिविकारो महानिति सिद्धम्। सांख्यास्तु—महान्तमेव बुद्धिपदेन व्यवहरन्तोऽध्यवसायमेव बुद्धिमाचक्षते। तत्तु अध्यवसायस्यात्मधर्मत्वान्न संगतम्। यदि तु 'आयुर्घृतम्' इति वदध्यवसायहेतुत्वात् महत्यध्यवसायव्यवहार इत्युच्यते, तदा तस्य नाध्यवसायरूपत्वमित्यायातम्। महतस्त्रैविध्यमाह—सात्त्विकत्वेति। सात्त्विकराजसतामसभेदेन त्रिविधो महानित्यर्थः। महतस्त्रैगुण्येऽपि तत्तद्गुणप्राचुर्यभेदात् तथा व्यपदेश इति भावः। महतोऽहंकारसृष्टिमाह—अहंकार इति। ततः; महत इत्यर्थः। अहंकारस्यापि त्रैविध्यमाह—त्रेधेति। सात्त्विकराजसतामसभेदेनाहंकारस्त्रिविध इत्यर्थः। अभिमानोऽहंकार इति सांख्याः। तच्चाभिमानस्यात्मधर्मत्वादसंगतमिति ज्ञेयम्। पूर्ववत् अभिमानहेतुत्वात् अभिमानत्वव्यपदेशो वा भवतु। अस्याहंकारशब्दवाच्यत्वे निदानं तु अनात्मनि देहादावहंभावहेतुत्वम्, न तु परेषामिवाहमर्थत्वम्। सर्वत्राहमर्थो हि प्रत्यगात्मा, न तु महद्विकारोऽहंकारः। एवं चाहंकारशब्दे द्वयी व्युत्पत्तिः। एका अहमर्थभिन्ने देहादौ अहमिति प्रतीतिः। अस्यां व्युत्पत्तौ अहंशब्दात् च्विप्रत्ययमुत्पाद्य प्रक्रिया कर्तव्या। अन्या तु च्विप्रत्ययं विना अहमिति प्रतीतिरहंकार इति। तत्राहंकारस्य दोषत्वात् त्याज्यत्ववचनं च्विप्रत्ययान्तव्युत्पन्नाहंकारशब्दार्थमभिप्रेत्य। "अथातोऽहंकारादेशः" इत्यादि तु च्विप्रत्ययरहितव्युत्पन्नाहंकारशब्दार्थमंभिप्रेत्येति विवेकः। जडस्यैवाहंकारस्य ज्ञातृत्वमिति मायावादिनः ॥ ५ ॥

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

अव्यक्त से **महत्** की उत्पत्ति होती है जो सात्त्विक, राजस और तामस भेद से तीन प्रकार का होता है। महत् से **अहंकार** की उत्पत्ति होती है जो सात्त्विक, राजस और तामस भेद से तीन प्रकार का होता है ॥५ ॥

वैकारिकस्तैजसश्च भूतादिरिति भेदतः।
नामान्तराणि [1]सन्त्येषामहंकारात्मना सताम् ॥ ६ ॥

त्रिविधानामहंकाराणां नामान्तराण्याह—वैकारिक इत्यादि। सात्त्विकाहंकारस्य वैकारिक इति,राजसाहंकारस्य तैजस इति, तामसाहंकारस्य भूतादिरिति च नाम। अहंकारात्मना सतामेषां वैकारिकादिनामान्तराणि सन्तीत्यन्वयः ॥ ६ ॥

उक्त त्रिविध अहंकार के तीन अन्य नाम भी हैं- वैकारिक, तैजस और भूतादि ॥६ ॥

तेषु वैकारिकात्[2] सात्त्विकाहंकारादुपकृतात्।
एकादशेन्द्रियाणि स्युर्ज्ञानकर्मेन्द्रियात्मना ॥ ७ ॥

अनन्तरमिन्द्रियाणामुत्पत्तिमाह—तेष्विति। तेषु; त्रिविधेष्वहंकारेषु मध्ये। उपस्कृतात्; तैजसापरनामकराजासाहंकारसहकृतात्। सात्त्विकाहंकारात् वैकारिकापरनामकात् एकादशेन्द्रियाणि स्युरित्यन्वयः। तानि च ज्ञानेन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि चेति द्विधा ॥ ७ ॥

उन अहंकारों में से सात्त्विक अथवा वैकारिक अहंकार से तैजस अथवा राजस अहंकार की सहायता द्वारा पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय और मन- ये ग्यारह इन्द्रियां उद्भूत होती हैं ॥७ ॥

ज्ञानप्रसरणे शक्तं ज्ञानेन्द्रियमुदाहृतम्।
तन्मनः श्रोत्रचक्षुस्त्वग्घ्राणजिह्वात्मना मतम् ॥ ८ ॥

ज्ञानेन्द्रियं लक्षयति—ज्ञानेति। प्रसरणम्; विकासः। ज्ञानस्य नित्यविभुत्वाङ्गीकारात् ज्ञानजनकत्वं न लक्षणमुक्तम्। सिद्धान्ते ज्ञानस्य संकोचविकासाभ्यु-

---

१. सन्त्येवं C.
२. वैकारिकाः C.

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

पगमात् तद्विकासहेतुत्वसंभव इति ज्ञेयम् । तद्विभजते—तदिति । तत्रापि बाह्यान्तरविभागे आन्तरं मनः एकं, बाह्यानि तु श्रोत्रादीनि पञ्चेत्याहत्य षडपि ज्ञानेन्द्रियाणीति ज्ञेयम् । सांख्यास्तु—सर्वप्रवृत्तीनां मनः पूर्वकत्वात् मनः कर्मेन्द्रियमपीति मन्यन्ते । यदाहुः—

"बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनात्वगाख्यानि ।
वाक्पाणिपादपायूपस्थं कर्मेन्द्रियं ह्याहुः ॥
उभयात्मकमत्र मनः ॥"

इति; तन्न, तत्रापि मनसो ज्ञानोत्पादनद्वारैव कर्महेतुत्वमिति ज्ञानेन्द्रियत्वमेवायातम् । तच्चैकमेव हृदयदेशवर्ति । कामसंकल्पादयस्तस्यैव वृत्तिभेदाः । यत्तु मायावादिवेदान्तिनो मनस इन्द्रियत्वं नाभ्युपगच्छन्ति, यच्च सांख्याः "त्रिविधमन्तः करणम्" इति वदन्तो मनोबुद्ध्यहंकारभेदेन तस्य त्रैविध्यमाहुः, तत्सर्वमप्रामाणिकमिति हृदयम् ॥८ ॥

जो ज्ञान के प्रसरण = विकास में समर्थ होती हैं वे **ज्ञानेन्द्रियां** कहलाती हैं, जो इस प्रकार हैं- मन, श्रोत्र, चक्षु, त्वचा, घ्राण और जिह्वा ॥८ ॥

मनः स्मृत्यादिहेतुस्तद्बन्धमोक्षादिकारणम् ।
शब्दमात्रग्रहे शक्तमिन्द्रियं श्रोत्रमुच्यते ।। ९ ।।

मनो निरूपयति—मन इति । स्मृत्यादीति । प्रत्यभिज्ञादिरादिपदार्थः । बन्धेति । यदाह—

"मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।
बन्धाय विषयासङ्गि मुक्त्यै निर्विषयं तथा ॥"

इति । श्रोत्रं लक्षयति—शब्दमात्रेति । मनोवारणाय मात्रपदम् । शक्तमिति स्वरूपयोग्यता विवक्षिता; न तु फलोपधायकत्वमपि । अतोऽन्यासक्तचित्तस्य शब्दाग्रहणेऽपि न दोषः । तच्च मनुष्याणां कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नदेशवर्ति । चक्षुःश्रवसां तु नेत्रगोलकवृत्ति । नैयायिकादयस्तु श्रोत्रस्य नाभसत्वमाहुः; तच्च नास्माकमिष्टमिति भावः ॥ ९ ॥

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

मन स्मृति, प्रत्यभिज्ञा आदि का हेतु होता है तथा वह बन्धन और मोक्ष का भी कारण होता है। जो इन्द्रिय शब्द मात्र को ग्रहण करने में समर्थ होती है वह **श्रोत्र** कही जाती है ॥९ ॥

रूपमात्रग्राहि चक्षुस्त्वक् स्पर्शग्रहकारणम्।
गन्धैकग्राहकं घ्राणं रसनं रसभासकम्॥ १० ॥

चक्षुर्निरूपयति—रूपमात्रेति। अत्रापि मात्रपदं पूर्ववत्। चक्षुर्नयनगोलकवृत्ति। त्वचं लक्षयति—त्वगिति। अत्रापि स्पर्शमात्रेति मात्रपदं निवेश्य लक्षणं वक्तव्यम्। त्वगिन्द्रियं च कृत्स्नदेहाश्रितम्, तत्र सर्वत्रापि स्पर्शोपलम्भात्। नखदन्तकेशादिषु स्पर्शानुपलम्भस्तु प्राणमान्द्यात्। एवं च सहकारिकारणवैधुर्यप्रयुक्तस्तत्र स्पर्शानुपलम्भ इति ज्ञेयम्। त्वगिन्द्रियं च संयोगेन साक्षाद्वायुतेजोजलपृथिवीग्राहि। स्पर्शं तु तत्संबद्धतया गृह्णातीति विवेकः। गन्धैकेति; गन्धमात्रेत्यर्थः। मात्रशब्दः पूर्ववत्। घ्राणं च प्रायः प्राणिनां नासाग्रवर्ति। गजानां तु नासैव हस्त इति घ्राणपाण्योरेकमेवाधिष्ठानम्। जिह्वां लक्षयति—रसेति। अत्रापि मात्रपदं निवेश्य व्याख्येयम्॥ १० ॥

रूपमात्र को ग्रहण करने वाली इन्द्रिय **चक्षु** होती है, स्पर्श-ग्रहण का कारण **त्वक्**= त्वचा होती है। गन्धमात्र की ग्राहक **घ्राण** इन्द्रिय होती है, रसभासक **रसना** होती है ॥१० ॥

एषां विषयसंबन्धः संयोगादिः प्रकीर्तितः।
उच्चारणादिकर्मैकशक्तं कर्मेन्द्रियं मतम्॥ ११ ॥

एषामिति; श्रोत्रादीन्द्रियाणामित्यर्थः। विषयेति; शब्दादीत्यर्थः। संयोगादीत्यादिपदेन संयुक्ताश्रयत्वादि गृह्यते। कर्मेन्द्रियाणि लक्षयति—उच्चारणादीति। आदिपदेन संचारादि गृह्यते। कर्मैकिति; कर्ममात्रेत्यर्थः। अनेन मनोव्यावृत्तिः ॥११ ॥

इन ज्ञानेन्द्रियों का विषयों के साथ जो सम्बन्ध होता है वह संयोग आदि होता है। उच्चारण आदि कर्ममात्र में समर्थ **कर्मेन्द्रियां** कहलाती हैं ॥११ ॥

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

पञ्चधा वाक्पाणिपादपायूपस्थप्रभेदतः ।
वर्णोच्चारणहेतुर्वाक् पाणिः शिल्पादिकारणम् ॥१२ ।

कर्मेन्द्रियाणि विभजते—पञ्चधेति; वागिन्द्रियं लक्षयति—वर्णेति । तच्च हृदयादिस्थानाष्टकवर्ति । यदाह—

"अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा ।
जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ चतालु च ॥"

इति । पाणीन्द्रियमाह—शिल्पादीति; चित्रविलेखनादीत्यर्थः । आदानादिरादिपदार्थः । स च प्रायो मनुष्याणामङ्गुल्यादिवृत्तिः । क्वचिद् गजादौ तु नासावृत्तिः । क्वचित्पादादिवृत्तिश्च ॥१२ ॥

कर्मेन्द्रिय पांच हैं- वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ । वर्णों के उच्चारण हेतु **वाक्** होती है । शिल्पादि का कारण **पाणि** है ॥१२ ॥

संचारकारणं पादः पायुर्मलनिवृत्तिकृत् ।
उपस्थः परमानन्दहेतुः स्त्रीपुंसयोर्मतः ॥ १३ ॥

पादं लक्षयति—संचारेति । स च मनुष्याणां चरणवृत्तिः,पतगादीनां तु पक्षादिवृत्तिः । पायुमाह—मलेति । स च मनुष्यादीनां तत्तदवयववृत्तिः । क्वचिन्मान्धालादीनामास्यदेशवृत्तिः ॥ १३ ॥

संचरण का कारण **पाद** है । **पायु** मलनिवृत्तिकृत् है । स्त्री और पुरुष के बीच परमानन्द की हेतु **उपस्थ** है ॥१३ ॥

राजसाहंक्रियायुक्ततामसाहंकृते पुनः ।
जायते शब्दतन्त्रमात्रादिकं भूतादिकारणम् ॥ १४ ॥

एवमेकादशानामिन्द्रियाणां सात्त्विकाहंकारजत्वं निरूप्य तामसाहंकाराद्भूतोत्पत्तिक्रममाह—राजसेति । अहंक्रिया; अहंकारः । शब्दतन्मात्रादिकमित्यादिपदेन स्पर्शतन्मात्रादिकं गृह्यते । अत्रेदमवधेयम्—तामसाहंकारात् शब्दतन्मात्रमेव साक्षात् जायते । शब्दतन्मात्रादाकाशः । आकाशात् स्पर्शतन्मात्रम् । ततो वायुरित्यादिरीत्या अन्येषां तन्मात्राणां भूतानां चोत्पत्तिरिति । सांख्यास्तु—

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

"प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः ।
तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि ॥"

इति वदन्तः पञ्चापि तन्मात्राणि साक्षात्तामसाहंकारादेवोत्पन्नानि । तत्र शब्दतन्मात्रमाकाशारम्भकम् । इतराणि तु तन्मात्राणि पूर्वपूर्वतन्मात्रसहकृतान्युत्तरोत्तरभूतारम्भकाणीति मन्वते । सा च प्रक्रिया, शब्दतन्मात्राकाशाद्यनन्यथासिद्धोपादानक्रमदर्शन्या स्मृत्यादिकया विरुध्यत इत्यनुपादेया । भूतादिकारणम्; भूतानामुपादानकारणमित्यर्थः ॥ १४ ॥

तामस अहंकार से राजस अहंकार के द्वारा पंचमहाभूतादि की कारण शब्दादि तन्मात्राएँ होती हैं ॥१४ ॥

भूतानामेव सूक्ष्मैकपूर्वावस्थाविशेषकृत्[1] ।
द्रव्यं तन्मात्रमित्याहुः पञ्चधा भूतपञ्चभिः ॥ १५ ॥

तन्मात्रसामान्यलक्षणमाह—भूतानामिति । भूतानामव्यवहितपूर्वसूक्ष्मावस्थाविशिष्टं द्रव्यं तन्मात्रमित्यर्थः ॥ १५ ॥

पांच महाभूतों की ही सूक्ष्ममात्र पूर्वावस्थाविशेष तन्मात्र द्रव्य कही जाती है । पंचमहाभूतों के भेद से ये भी पांच हैं ॥१५ ॥

तन्मात्रपञ्चकं शब्दाद्याश्रयत्वेन संमतम् ।
भूतानां स्यादुपादानं शब्दतन्मात्रमादिमम् ॥ १६ ॥

स्पर्शतन्मात्रकं रूपरसतन्मात्रके अपि ।
[2]गन्धतन्मात्रमेतस्यात् खानिलज्योतिरब्भुवः ॥ १७ ॥

प्रत्येकतन्मात्रलक्षणं तु आकाशादिकं भूतपदस्थाने निवेश्योहनीयम् । तानि च तन्मात्राणि पञ्चधा—शब्दतन्मात्रस्पर्शतन्मात्ररूपतन्मात्ररसतन्मात्रगन्धतन्मात्राणीति । भूतपञ्चभिः आकाशवायुतेजोऽबवनिरूपैः पञ्चभिर्भूतैः सह तन्मात्राणि पञ्चेधेति पूर्वेणान्वयः । तन्मात्रलक्षणादिकमुक्त्वा तत्स्वरूपमाह—तन्मात्रेति ।

---

१. विशेषवत् B.
२. गन्धतन्मात्रमेतेभ्यः B.

CC0. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

शब्दाश्रयत्वेनेति; अनभिव्यक्तविशेषसूक्ष्मरूपशब्दद्याश्रयत्वेनेत्यर्थः । एतेन शब्द-तन्मात्रं स्पर्शतन्मात्रमित्यादिव्यवहारबीजमुक्तम् । तच्च तन्मात्रपञ्चकं तत्तद्भूतानामुपादानं भवति । तत्रादियं शब्दतन्मात्रम् ॥ १६ ॥

तन्मात्राणि नामतो निर्दिशति—स्पर्शेति । भूतानि नामतो निर्दिशति—खेति । पञ्चभूतानीत्युत्तरेणान्वयः ॥ १७ ॥

ये पंच तन्मात्राएँ शब्दादि गुणों की आश्रयरूप हैं तथा पंचमहाभूतों की उपादान कारण हैं । तन्मात्राएँ इस प्रकार हैं- शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध । पांच महाभूत हैं- आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी ॥१६-१७ ॥

पञ्च भूतानि तन्मात्रस्वरूपं तु निरूप्यते ।
तामसाहंकृतिखयोर्मध्यावस्थायुगादिमम् ॥ १८ ॥

तन्मात्रस्वरूपमिति; शब्दादितन्मात्राणां स्वरूपमुच्यत इत्यर्थः । तामसाहं-काराकाशयोर्या मध्यमावस्था, तद्युक् आदिमं शब्दतन्मात्रमित्यर्थः ॥ १८ ॥

पांच तन्मात्राओं का स्वरूप इस प्रकार है- तामस अहंकार और आकाश की मध्यावस्था से युक्त प्रथम शब्द तन्मात्रा है ॥१८ ॥

शब्दतन्मात्रमस्माच्च वियदुत्पद्यते तथा ।
खमेव सूर्यस्पन्देन दिगिति व्यपदिश्यते ॥ १९ ॥

आकाशोत्पत्तिमाह—अस्माच्च; शब्दतन्मात्राच्च । वियदुत्पद्यत इति; अनेनाकाशस्य नित्यत्वादुत्पत्यादिराहित्यवादिनो नैयायिकाः प्रत्युक्ताः ।प्रत्यक्षश्चायमाकाशः, उन्मीलितेन चक्षुषा गृह्यमाणत्वात् । खमेवेति; आकाश एव सूर्यपरिस्पन्देनोपाधिना प्राच्यदिदिग्व्यवहारभागित्यर्थः । एतेन दिशो द्रव्यान्तरत्व-वादिनो नैयायिकाः प्रत्युक्ताः ॥ १९ ॥

शब्द तन्मात्रा से आकाश उत्पन्न होता है तथा आकाश ही सूर्य के स्पन्दन के कारण दिक् कहा जाता है ॥१९ ॥

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

द्रव्यं तदाकाशवाय्वोर्मध्यावस्थासुसंयुतम्।
स्पर्शतन्मात्रमस्माच्च वायुरुत्पद्यते क्रमात्॥ २०॥

स्पर्शतन्मात्रं लक्षयति—द्रव्यमिति। आकाशादानन्तरं वायोः पूर्वं च या अवस्था, तद्युतं द्रव्यं स्पर्शतन्मात्रमुच्यते। अस्माच्च; स्पर्शतन्मात्रात्। वायुश्च स्पर्शनप्रत्यक्षविषयः॥ २०॥

स्पर्श तन्मात्रा आकाश और वायु की मध्यावस्था से संयुक्त होती है तथा इससे क्रमशः वायु उत्पन्न होता है ॥२०॥

मध्यावस्थायुतं वायुतेजसोर्द्रव्यमुच्यते।
रूपतन्मात्रमित्यस्मात्तेज उत्पद्यते क्रमात्॥ २१॥

रूपतन्मात्रं लक्षयति—मध्येति। वायुतेजसोर्मध्यावस्थायुतं द्रव्यं रूपतन्मात्रमित्यर्थः। अस्मात् तेज उत्पद्यते॥ २१॥

रूप तन्मात्रा वायु और तेज की मध्यावस्था से युक्त कहलाती है तथा इससे क्रमशः तेज उत्पन्न होता है ॥२१॥

मध्यावस्थायुतं तेजःपयसोर्द्रव्यमुच्यते।
रसतन्मात्रमित्यस्मात्सलिलं खलु जायते॥ २२॥

रसतन्मात्रं लक्षयति—मध्येति। तेजःपयसोर्मध्यावस्थायुतं द्रव्यं रसतन्मात्रमित्यर्थः। अस्मात् पय उत्पद्यते।

रस तन्मात्रा तेज और जल की मध्यावस्था से युक्त कहलाती है तथा इससे क्रमशः जल उत्पन्न होता है ॥२२॥

मध्यावस्थायुतं वारिपृथिव्योर्द्रव्यमुच्यते।
गन्धतन्मात्रमित्यस्मात्पृथिवी समुदेत्यसौ॥ २३॥

गन्धतन्मात्रं लक्षयति—मध्येति। वारिपृथिव्योर्मध्यावस्थायुतं द्रव्यं गन्धतन्मात्रम्। अस्मात् पृथिव्युत्पद्यते॥ २॥

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

गन्ध तन्मात्रा जल और पृथिवी की मध्यावस्था से संयुक्त होती है तथा इससे यह पृथिवी उत्पन्न होती है ॥२३ ॥

आद्यं शब्दवदन्यच्च शब्दस्पर्शवदुच्यते ।
रूपशब्दस्पर्शवत्स्यात्तृतीयं च तुरीयकम् ॥ २४ ॥

रूपशब्दस्पर्शरसयुक्तं गन्धाधिकं परम् ।
तन्मात्रपञ्चकं भूतपञ्चकं चैवमीरितम् ॥ २५ ॥

आद्यमिति; शब्दतन्मात्रमित्यर्थः । शब्दवदिति; अविशिष्टशब्दवदित्यर्थः । अन्यत्; स्पर्शतन्मात्रमित्यर्थः ॥ २४ ॥

परम्; पृथिवीतन्मात्रमित्यर्थः । अनेन भूतानामपि एकद्वित्रादिगुणयोग उक्त-प्रायः ॥ २५ ॥

इस प्रकार प्रथम शब्द तन्मात्रा शब्दयुक्त होती है, द्वितीय स्पर्श तन्मात्रा शब्द और स्पर्श से युक्त होती है, तृतीय रूप तन्मात्रा रूप, शब्द और स्पर्श से युक्त होती है, चतुर्थ रस तन्मात्रा रस, रूप, शब्द और स्पर्श से युक्त होती है, तथा पंचम गन्ध तन्मात्रा गन्ध, रस, रूप, शब्द और स्पर्श से युक्त होती है। ये पंचतन्मात्राएँ हैं, इसी प्रकार एक, दो, तीन, चार और पांच गुणों के योग से क्रमशः आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी- इन पांच महाभूतों का स्वरूप कहा गया है ॥२४-२५ ॥

एवं प्रकृतिरव्यक्तमहदादिक्रमाद्भिदाम् ।
चतुर्विंशतिसंख्यानां[1] प्रापिता सुनिरूपिता ॥ २६ ॥

चतुर्विंशतीति; प्रकृतिमहदहंकारास्त्रयः; एकादशेन्द्रियाणि; तन्मात्रपञ्चकं, भूतपञ्चकं चेति चतुर्विंशतिः ॥ २६ ॥

इस प्रकार अव्यक्त, महत् आदि क्रम से चौबीस भेदों वाली प्रकृति का निरूपण हुआ है ॥२६ ॥

---

१. संभेदं B.

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

भूतानि भगवान्सृष्ट्वा द्वेधैकैकं विभक्तवान्।
एकमेकं विधायांशं चतुर्धान्यं विभक्तवान्॥ २७ ॥

अनन्तरं पञ्चीकरणमाह—भूतानीति । पञ्च भूतानीत्यर्थः । एकैकम्; आकाशादि प्रत्येकम्। एकमिति; द्वयोरन्यतरं प्रथमं भागम्। एकम्; अविभक्तम्। अन्यमंशम्; द्वितीयं भागम्। चतुर्धा विभक्तवान्॥ २७ ॥

भगवान् ने पंचमहाभूतों की सृष्टि करके आकाशादि प्रत्येक को बराबर के दो-दो भागों में विभक्त किया, तदुपरान्त इन प्रत्येक के एक-एक अर्धांश को अविभक्त रखकर दूसरे-दूसरे अर्धांश को बराबर के चार-चार भागों में विभक्त किया ॥२७ ॥

चतुर्धा रचितानंशांस्तत्तदंशे युनक्ति सः।
चतुर्थांशयुतस्वांशैः पञ्च भूतान्यजीजनत्॥ २८ ॥

तत्तदंशे:; तस्य तस्य भूतस्य द्विधा कृतस्याविभक्तेनार्धभागेन । युनक्ति; संयोजयति । चतुर्थांशेति; द्विधाकृतभूतान्तरभागयोर्योंशः चतुर्धा कृतः तस्य चतुर्थेनांशेन युतैः स्वांशैरित्यर्थः । पञ्च भूतानि; आकाशादीनि अयमत्राशयः—अण्डसृष्टेः पूर्वतनी सृष्टिः समष्टिसृष्टिपदवाच्या । ततोऽनन्तरसृष्टिस्तु व्यष्टिसृष्टिरित्युच्यते । आकाशं प्रथमतो द्विधा विभज्य तत्रैकमंशमविभक्तं स्थापयित्वा, अन्यमंशं चतुर्धा विभजनीयम्। एवं विभागेन प्राप्तेषु चतुर्ष्वंशेष्वेकैकमंशं भूतान्तराणां चतुर्णां द्वितीयार्धचतुर्थभागं परिकल्पयेत्। एवं वायुम्; तेजः, अपः, पृथिवीं च कुर्यात्। एवंकृते पञ्चीकृताकाशे प्रथममर्धमाकाशांशः; द्वितीयस्मिन्नर्धे प्रथमश्चतुर्थोऽशो वायोर्भागः, द्वितीयस्तेजसः;तृतीयोऽपाम्; तुरीयः पृथिव्याः । एवं वाय्वादावपि । एवं च सर्वेष्वपि भूतेषु सर्वेषामपि भूतानां भागाः सन्ति । तथाप्यधिकं भागमनुरुध्य तत्तद्भूतत्वव्यवहारः । शुक्तिरिति व्यवहारे शुक्तावर्धभागः शुक्तेरेव । अन्यस्मिन्नर्धभागे एकश्चतुर्थोऽश आकाशस्य, अन्यो वायोः, अन्योऽपाम्; अन्यस्तेजस इति सर्वभूतांशसंघात एव शुक्तिः । सैव यदि रजतमिति व्यवह्रियते, तदा तेजोभूतरजतांशोऽष्टमः सन्नपि बहुलं भासमानतया रजतमिति व्यह्रियत इति । एवंच, "यथार्थं सर्वविज्ञानमिति वेदविदां मतम्" इति सिद्धान्तः सिध्यति । तथाचाहुः—

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

"द्वेधा भूतानि भित्त्वा पुनरपि च भिनत्त्यर्धमेकं चतुर्धा
तैरेकैकस्य भागैः परमनुकलयत्यर्धमर्धं चतुर्भिः ।
इत्थं पञ्चीकृतैस्तैर्जनयति स जगद्धेतुरण्डादिकार्या-
ण्यैदंपर्यं त्रिवृत्त्वश्रुतिरधिकगिरामक्षमैका निरोद्धुम् ॥"

इति ॥ २८ ॥

पुनः उसने एक-एक अविभक्त अर्धांश लिया उसमें दूसरे-दूसरे अर्धांश के चतुर्थांश को मिला दिया । इस प्रकार उसने अपने-अपने अर्धांश में दूसरे-दूसरे के चतुर्थांश अर्थात् प्रत्येक भूत के अष्टमांश को मिलाकर पांच महाभूतों की रचना की ॥२८ ॥

अन्यभूतांशसत्त्वेऽपि स्वांशभूयस्त्वतः कृतः ।
पृथ्व्यप्तेजोऽनिलव्योमव्यपदेशो जगत्यभूत् ॥ २९ ॥

यदि सर्वत्र भूतेषु सर्वभूतानामंशाः सन्ति, तर्हीतरव्यावृत्ततया पृथिव्यादि-व्यवहारः कथमित्याशङ्क्य परिहरति—अन्येति । यत्र यस्य भूतस्यांशो भूयान्, तत्र तद्भूतत्वेन व्यवहारः । यथा पृथिव्या आद्यमर्धं पृथिव्यंशः । अन्यस्मिन्नर्धे भूतान्तराणामष्टमांशा इति पृथिव्यंशस्य भूयस्त्वात् तत्त्वेन व्यवहारः ॥ २९ ॥

अन्य भूतों का अंश रहने पर भी स्वयं का अंश अधिक रहने के कारण इन प्रत्येक का नाम क्रमशः आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी हुआ ॥२९ ॥

पञ्चीकरणमेतादृगुपलक्षयति श्रुतिः ।
भूतैर्महदहंकृत्योः सप्तीकृतिरुपस्कृता ॥ ३० ॥

नन्वेतत् पञ्चीकरणं श्रुतिविरुद्धम् । श्रुतौ हि, "तेजोऽसृजत" इत्यादिभिर्वाक्यैः तेजोऽबन्नसृष्टिमुक्त्वा तेषां त्रिवृत्करणमेवोच्यत इत्याशङ्क्य समाधत्ते—पञ्चीकरणमिति । श्रुतिः, त्रिवृत्करणश्रुतिः । एतादृक् पञ्चीकरणमुपलक्षयति । त्रिवृत्करणवचनं पञ्चीकरणस्याप्युपलक्षकमित्यर्थः । न केवलं पञ्चीकरणस्य, सप्तीकरणस्याप्युपलक्षकमित्याह—भूतैरिति । त्रिवृत्करणश्रुतिः, पञ्चभूतानि महान् अहंकारः इति सप्तानां पदार्थानां मिथो मिश्रीकरणेन सृष्टेरप्युपलक्षणमित्यर्थः ॥ ३० ॥

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

श्रुति भी ऐसे **पञ्चीकरण** को कहती है। इस पञ्चीकरण में जब महत् और अहंकार को मिला दिया जाता है तो वह **सप्तीकरण** हो जाता है ॥३० ॥

भूतपञ्चकमव्यक्तमेते महदहंकृती।
उपादानानि देहस्येन्द्रियाणि प्रतिपूरुषम्॥ ३१ ॥

भिन्नान्याकल्पकल्पानि शरीरं भूषयन्ति हि।
चेतनैकनियाम्यं यच्छरीरं तन्निगद्यते॥ ३२ ॥

नन्वेतावता प्रबन्धेनेन्द्रियाणामाहंकारिकत्वादभौतिकत्वमभ्युपगतमिव भाति। तच्चासंगतम्, प्रमाणविरोधात्। तथाहि भगवद्गीतायाम्—

"महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतनाधृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥"

इति क्षेत्रशब्दवाच्यस्य शरीरस्य महाभूतेन्द्रियाद्यात्मकत्वमुक्तम्। शरीरस्य भौतिकत्वात् तदवयवानामिन्द्रियाणामपि भौतिकत्वमङ्गीकृतमेव। तथाच पारमर्षं सूत्रम्; "घ्राणरसनाचक्षुस्त्वक्छ्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः। पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशमिति भूतानि"इति, "भूतविशेषगुणोपलब्धेस्तादात्म्यम्" इति च। किंच शरीरेण सहैवेन्द्रियाण्यपि विनश्यन्ति दृश्यन्ते। अतो भौतिकान्येवेन्द्रियाणीत्याशङ्कायामाह—भूतपञ्चकमित्यादि। भूतपञ्चकम्, पृथिव्यादिपञ्चकम्; अव्यक्तम्, प्रकृतिः; महान्, अहंकारो भूतादिनामा तामसाहंकारः; आहत्याष्टकमिदं शरीरस्योपादानं भवति। इन्द्रियाणि त्विति। तुशब्दोऽत्र वैलक्षण्ये, इन्द्रियाणां भौतिकत्वं निषेधति। अनुपूरुषम्; प्रतिपुरुषम्। भिन्नानीत्यनेनैकेन्द्रियवादोऽपि निरस्तो भवति। यदीन्द्रियाणि न भौतिकानि, नापि शरीरावयवभूतानि; कस्तर्हि तैः शरीरस्योपकार इत्यत्राह—आकल्पेति। आकल्पोऽलंकारः। यथा कटकादीनि शरीरस्यालंकरणाय शरीरमाश्रित्यवतिष्ठन्ते, तथेन्द्रियाण्यपि शरीरालंकरणाय तदाश्रित्य वर्तन्त इत्यर्थः। अनेन पूर्वोदाहृतगीतावचनमपि व्याख्यातं भवति। यथा अध्यायारम्भे—

"तत्क्षेत्रं यच्च यादृक् च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु॥"

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

इत्यत्र यच्चेत्यनेन क्षेत्रं यद्द्रव्यात्मकमिति, यादृक् चेत्यनेन येषामाश्रयभूतमिति, यद्विकारीत्यनेन यादृशविकारास्पदमिति, यतश्चेत्यनेन यस्मै प्रयोजनायेति, यदित्यनेन यत्स्वरूपमिति च वक्तव्यांशान् प्रस्तुत्य, "महाभूतान्यहंकारः" इत्यादिना तत्सर्वं विवृतम्। तत्र महाभूतानीत्यर्थेन क्षेत्रं महाभूताद्युपादानकमित्युक्तम्। "इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः" इत्यनेन क्षेत्रमेकादशेन्द्रियाणां शब्दस्पर्शादीनां चाश्रयभूतमित्युक्तम्। "इच्छा द्वेषः सुखं दुःखम्"इति क्षेत्रविकारा उच्यन्ते। यद्यपीच्छादय आत्मधर्माः, तथापि तस्य ते क्षेत्रसंबन्धप्रयुक्ता इति प्राप्ताप्राप्तविवेकनयेन क्षेत्रविकारा उच्यन्ते। "संघातश्चेतनाधृतिः" इत्यनेन तत्प्रयोजनं तत्स्वरूपं चोक्तम्। अनेनेन्द्रियाणां देहाश्रितत्व मेवोक्तम्। न तु तदवयत्वमिति भावः। पारमर्षवचनं तु यथाकथंचिदागमाविरोधेन नेयम्। आगमो हि लयप्रकरणे, "आकाशमिन्द्रियेष्विन्द्रियाणि तन्मात्रेषु तन्मात्राणि भूतादौ लीयन्ते" इति सेन्द्रियाणां तन्मात्राणामहंकारे लयमाह। यदीन्द्रियाणि भौतिकानि, तदा तेषां भूतेष्वेव हि लयो वक्तव्यः। आगमविरोधादेव तेषां भौतिकत्वसाधनतयाभिमंतान्यनुमानान्यपि दुष्टान्येव। एवं च शरीरे विनष्टेऽपीन्द्रियाणामाप्रलयं सूक्ष्मरूपेणावस्थितिरिति सिद्धम्।

अथ प्रसक्तस्य शरीरस्य लक्षणमाह—चेतनैकेति। एकशब्दोऽत्र नैयत्यपरः। नियमेन यत् यस्य चेतनस्य नियाम्यं तत्तस्य शरीरमित्यर्थः। भृत्यानां स्वामिनियाम्यत्वेऽपि तन्नियमनस्य नैयत्याभावेन न तेषां तं प्रति शरीरत्वम्। नन्वेवं चेतनाचेतनानां सर्वेषां नियमेनेश्वरनियाम्यत्वात् ईश्वरं प्रति तेषां शरीरत्वं स्यादिति चेत्, हन्ता स एवास्माकं परमः सिद्धान्त इति महता कुतूहलेन तदिष्टापत्त्याभ्युपगच्छामः। चेष्टाश्रयः शरीरम्, इन्द्रियाश्रयः शरीरम्, भोगोपकरणं शरीरमित्यादीनि तु अव्याप्त्यतिव्याप्त्यादिदुष्टानीति हेयानि। चेष्टाश्रयत्वं घटादावतिव्याप्तम्। इन्द्रियाश्रयत्वं यदीन्द्रियसंयोगित्वं तदा घटादावतिव्याप्तिः। यदीन्द्रियसमवायित्वं तदा सिद्धान्ते समवायानङ्गीकारात् स एव दोषः। परमतरीत्या इन्द्रियावयवेष्वतिव्याप्तं च। भोगायतनत्वं तु गृहारामादवतिव्याप्तम्। शिरः पाण्यादिमत्त्वं तदिति चेत्, तद्रहितेषु स्थावरशरीरेष्वव्याप्तिः। अतोऽस्मदुक्तमेव लक्षणं साध्विति भावः॥ ३१-३२॥

अव्यक्त, महत् और अहंकार के साथ पंचमहाभूत देह अथवा शरीर के उपादान कारण होते हैं, किन्तु इन्द्रियां प्रत्येक पुरुष की भिन्न-भिन्न होती

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

हैं, क्योंकि वे शरीर को आभूषण की भांति भूषित करती हैं। जो चेतनामात्र से नियन्त्रित होता है वह उसका शरीर कहा जाता है ॥३१-३२ ॥

शरीरं द्विविधं नित्यमनित्यमिति भेदतः।
भगवन्नित्यसूरीणां नित्यं नैसर्गिकं तु तत्॥ ३३ ॥

शंरीरस्य द्वैविध्यमाह—शरीरमिति। नित्यम्; उत्पत्तिनाशरहितम्। अनित्यम्; तद्वत्। भगवतः त्रिगुणकालजीवादीनि नित्यशरीराणि। तथा अनन्तगरुडादिनित्यसूरीणां शरीरं नित्यं स्वाभाविकं च ॥ ३३ ॥

शरीर नित्य और अनित्य भेद से दो प्रकार का होता है। भगवान् और अनन्त-गरुडादि नित्यसूरियों का नित्य शरीर होता है और वह नैसर्गिक-स्वाभाविक होता है ॥३३ ॥

अनित्यमपि तद् द्वेधा कर्माकर्मकृतत्वतः।
अकर्मकृतमीशादेरिच्छया परिकल्पितम्॥ ३४ ॥

अनित्यशरीरस्य द्वैविध्यमाह—अनित्यमपीति। कर्मकृतकर्मकृतं चेति द्वैविध्यमित्यर्थः। तत्राकर्मकृतमाह—ईशादेरिति। महदादिकार्यवर्गः सर्वोऽपीश्वरस्याकर्मकृतदेह इत्यर्थः। ईश्वरस्याकर्मकत्वात् तस्याकर्मकृतत्वम्। किंतु केवलस्वेच्छाकृतत्वमेवेति भाव्यम्। तथाहि गीयते भगवतैव—

"अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥"

इति। आत्ममायया; मदीयया इच्छयेत्यर्थः।

कर्मकृत और अकर्मकृत भेद से अनित्य शरीर दो प्रकार का होता है। अकर्मकृत शरीर ईश्वर और नित्यसूरियों की इच्छा या संकल्प से प्राप्त होता है ॥३४ ॥

तच्च कर्मकृतं द्वेधा स्वेच्छासहकृतं तथा।
कर्ममात्रकृतं चेति सौभर्यादेर्यथादिमम्॥ ३५ ॥

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

कर्मकृतशरीरभेदमाह—तच्चेति। स्वेच्छासहकृतकर्मकृतं तदसहकृतकेवलकर्मकृतं चेति द्विधेत्यर्थः। आदिमं स्वेच्छासहकृतं सौभर्यादीनामित्यर्थः।

कर्मकृत शरीर दो प्रकार का होता है- स्वेच्छासहकृत तथा कर्ममात्रकृत। सौभरि आदि पुण्यात्माओं का शरीर **स्वेच्छासहकृत** कहा जाता है ॥३५॥

द्वितीयमस्मदादीनां सामान्येन पुनर्द्विधा।
स्थावरं जङ्गमं चेति शिलादि स्थावरं मतम् ॥ ३६ ॥

केवलकर्मकृतमाह—द्वितीयमिति। अस्मदादीनामिति; कर्मपरवशानां संसारिणामित्यर्थः। सामान्येनेति; नित्यानित्यविभागानादरेण शरीरसामान्यं स्थावरजङ्गमात्मना द्विविधमित्यर्थः। शिलादीति; काष्ठादय आदि पदग्राह्याः ॥ ३६ ॥

हम कर्मपरवश संसारियों का शरीर **कर्ममात्रकृत** होता है। सामान्य रूप से यही शरीर स्थावर और जंगम भेद से दो प्रकार का होता है। शिला आदि **स्थावर** कहलाता है ॥३६॥

जङ्गमं च द्विधा प्रोक्तं स्याद्योनिजमयोनिजम्।
योनिजं देवमानुष्यतिर्यगादिविभागवत्[1] ॥ ३७ ॥

जङ्गमस्य द्वैविध्यमाह—जङ्गमं चेति। योनिजायोनिजभेदेन द्विविधमित्यर्थः। तत्र योनिजजङ्गमभेदानाह—देवेत्यादि। शुक्रशोणितसंयोगाज्जातं योनिजमित्युच्यते ॥ ३७ ॥

जंगम दो प्रकार का कहा गया है- योनिज और अयोनिज। देव, मनुष्य, तिर्यक् आदि **योनिज** हैं ॥३७॥

[2]उद्भिज्जस्वेदजाण्डोत्थनारक्याख्यमयोनिजम्।
एवं पञ्चीकृतानां स्यादण्डोत्पादकता स्मृता ॥ ३८ ॥

---

१. तिर्यङ्नारकिभेदवत् A.B. भेदतः G
२. उद्भिज्जस्वेदजजराय्वण्डजाख्य A.B.G.

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

अयोनिजजङ्गमभेदानाह—उद्‌भिज्जेत्यादि । उद्‌भिद्य जायन्त इतीन्द्रगोपमण्डूकादय उद्‌भिज्जा इति सुश्रुते । स्वेदजाः यूकामत्कुणादयः । अण्डोत्थाः पक्षिसरीसृपादयः । नारकि नरकवासिनां शरीरम् । तच्च तेषां पापैरेवोपजनितमयोनिजमित्यर्थः । अनन्तरं पञ्चीकरणप्रयोजनमाह—एवमिति । पञ्चीकृतानामिति; पञ्चीकृतानामेवेत्यर्थः । तदुक्तम्—

"नानावीर्याः पृथग्भूतास्ततस्ते संहतिं विना ।
नाशक्नुवन्प्रजाः स्रष्टुमसमागम्य कृत्स्नशः ॥"

इति ॥ ३८ ॥

अयोनिज उद्‌भिज्ज, स्वेदज, अण्डज और नारकी हैं। इस प्रकार पञ्चीकरण का प्रयोजन अण्डोत्पादकता कही गयी है ॥३८ ॥

अण्डोत्पत्तेः पूर्वसृष्टिः समष्टिरत उत्तरा ।
व्यष्टिसृष्टिरिति द्वेधा सृष्टिर्वेदान्तिसंमता ॥ ३९ ॥

सृष्टिर्द्विधा—समष्टिसृष्टिः, व्यष्टिसृष्टिश्चेति । तत्र अण्डोत्पत्तेः पूर्वतनी या सृष्टिः सा समष्टिसृष्टिरित्युच्यते । अण्डोत्पत्तेरुत्तरं संपद्यमाना सृष्टिः व्यष्टिसृष्टिरित्युच्यत इत्यर्थः ॥ ३९ ॥

अण्डोत्पत्ति से पूर्वसृष्टि **समष्टिसृष्टि** है, तथा उत्तरसृष्टि **व्यष्टिसृष्टि** है। यह द्विविध सृष्टि सभी वेदान्तियों को स्वीकार है ॥३९ ॥

[1]अव्यक्तादेर्महत्त्वादिरवस्थान्तरमिष्यते ।
विजातीयान्तरावस्था चेत्तत्त्वान्तरमीर्यते ॥ ४० ॥

'अवस्थान्तरयोगित्वमुपादानत्वमुच्यते' इति पूर्वोक्तस्यावस्थान्तरपदस्यार्थं विवृणोति—अव्यक्तादेरिति । महत्त्वादिरिति । अव्यक्तमेव यदा अव्यक्तावस्थां विहाय महद्रूपावस्थामाधत्ते, सैवावस्थान्तरापत्तिरित्यर्थः । तदेवं तत्त्वानामेव तत्त्वान्तरात्मना परिणतौ विजातीयमवस्थान्तरं निमित्तीकृत्य तत्त्वान्तरत्वेन परिगणनं क्रियत इत्यर्थः ॥ ४० ॥

---

१. अङ्कुरादेः A.B.

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

अव्यक्त आदि से महदादि की उत्पत्ति अवस्थान्तर कही जाती है। यदि यह उत्पत्ति विजातीयान्तरावस्था होती है तो तत्त्वान्तर कही जाती है ॥४० ॥

इत्थमव्यक्तमहदहंकारेन्द्रियनामकैः ।
तन्मात्राणीति तत्त्वानि चतुर्विंशतिधाभवन् ॥ ४१ ॥

तदेवं परिनिष्पन्नां तत्त्वसंख्यामाह—इत्थमिति । तत्त्वानि अव्यक्ताद्यात्मना चतुर्विंशतिधा परिगण्यन्त इत्यर्थः ॥ ४१ ॥

इस प्रकार अव्यक्त, महत्, अहंकार, एकादश इन्द्रियां, पंच तन्मात्राएं तथा पंचमहाभूत- ये चौबीस तत्त्व हुए ॥४१ ॥

भोग्यभोगोपकरणभोगस्थानानि चेशितुः[1] ।
जीवस्य च प्रकृत्यादीन्युद्भवन्ति यथायथम् ॥ ४२ ॥

एषां जडानां विधान्तरेण विभागमाह—भोग्येत्यादि । ईशितुरीश्वरस्य जीवस्य च भोग्यभोगोपकरणभोगस्थानरूपेण जडतत्त्वानि भवन्तीत्यर्थः ॥ ४२ ॥

प्रकृति आदि ईश्वर और जीव के लिए यथायथ भोग्य, भोगोपकरण और भोगस्थान रूप से जड तत्त्व होते हैं ॥४२ ॥

विषयो भोग्यमक्ष्यादि भोगोपकरणं मतम् ।
भोगस्थानं तु भुवनं तद्वर्तीन्यण्डजानि हि ॥ ४३ ॥

भोग्यादीन् विविनक्ति—विषय इति । विषयः श्रोत्रादीन्द्रियविषयः । भोगोपकरणं तु अक्ष्यादि । भोगस्थानानि तु समस्तं भुवनं तदन्तर्वर्तीनि च ब्रह्माण्डजानि ॥ ४३ ॥

विषय भोग्य होते हैं, आंख आदि भोगोपकरण कहलाते हैं तथा भुवन और उनके अन्तर्वर्ती ब्रह्माण्डज भोगस्थान हैं ॥४३ ॥

---

१. भोगस्थानानि भूम्यादिभुवनान्यण्डमीदृशम्. G.

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

एवं पञ्चीकृतैर्भूतैरारब्धं प्राकृतं भवेत्।
कपित्थफलकाकारमण्डं नाम निगद्यते ॥ ४४ ॥

अनन्तरमण्डोत्पत्तिमाह—एवमिति । भूतैः आकाशादिभिः पञ्चभिस्तत्त्वैः । प्राकृतमण्डम्; प्राकृतैर्भूतैरारब्धत्वात् प्राकृतत्वमण्डस्य । कपित्थफलकाकारमिति निदर्शनम् । यथा कपित्थफलस्यान्तर्भागे सूक्ष्माणि बहूनि बीजानि, तत्संबद्धा मधुरा अमधुराश्च फलांशा अपि विद्यन्ते, तद्वत् अण्डस्यान्तर्भागेऽपि सूक्ष्माणि बहूनि जीवतत्त्वानि तत्संसृष्टाः सुखदुःखात्मकाः प्राकृतभागाश्च विद्यन्त इत्यर्थः ॥ ४४ ॥

इस प्रकार पञ्चीकृत महाभूतों से आविर्भूत प्राकृत अण्ड होता है । यह अण्ड नाम कपित्थफल के सदृश होने से कहा जाता है ॥४४ ॥

जम्बूद्वीपमिदं सर्वं लवणोदधिनावृतम्।
प्लक्षद्वीपं ततोऽपीक्षुसमुद्रेण प्रवेष्टितम् ॥ ४५ ॥

"सप्त द्वीपा वसुमती" इत्युक्तरीत्या सप्त द्वीपान्याह—जम्बूद्वीपमिदमिति । इदमित्यस्मत्प्रत्यक्षगोचरतामाह । इदं च लवणोदधिना परिवृतम् । ततः लवणसमुद्रादन्तरं प्लक्षद्वीपं वर्तते । तच्चेक्षुसमुद्रेण परिवृतम् ॥ ४५ ॥

यह सम्पूर्ण जम्बूद्वीप लवणोदधि= खारे सागर से आवृत घिरा हुआ है । उस लवणसमुद्र के परे प्लक्षद्वीप है जो इक्षु-समुद्र से परिवृत = घिरा हुआ है ॥४५ ॥

ततस्तु शाल्मलिद्वीपं सुरासागरवेष्टितम्।
कुशद्वीपं ततः सर्पिः समुद्रेण प्रवेष्टितम् ॥ ४६ ॥

ततः इक्षुसमुद्रादनन्तरं शाल्मलिद्वीपं वर्तते । तच्च सुरासमुद्रेण वेष्टितम् । ततः सुरासमुद्रादनन्तरं कुशद्वीपं वर्तते । तच्च सर्पिः समुद्रेण परिवेष्टितम् ॥ ४६ ॥

उसके बाद शाल्मली-द्वीप है जो सुरासमुद्र से वेष्टित है, ततः सर्पिःसमुद्र से वेष्टित कुशद्वीप है ॥४६ ॥

क्रौञ्चद्वीपं ततः पश्चाद्दध्यर्णवसमावृतम्।
शाकद्वीपं ततः क्षीरसमुद्रेण प्रवेष्टितम् ॥ ४७ ॥

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

ततः सर्पिःसमुद्रादनन्तरं क्रौञ्चद्वीपं वर्तते । तच्च दधिसमुद्रेण परिवेष्टितम् । ततः दधिसमुद्रादनन्तरं शाकद्वीपं वर्तते । तच्च क्षीरसमुद्रेण वेष्टितम् ॥ ४७ ॥

ततः **क्रौञ्चद्वीप** है जो दधि-समुद्र से परिवेष्टित है, ततः क्षीर-समुद्र से वेष्टित **शाकद्वीप** है ॥४७ ॥

पुष्करद्वीपमभितः शुद्धाम्बुधिसमावृतम् ।
सर्वमेतद्धैमभूम्या ततो वलयपर्वतः ॥ ४८ ॥

अभितः क्षीरसमुद्रस्य समन्तात् पुष्करद्वीपं वर्तते । तच्च शुद्धाम्बुधिना समावृतम् । एतत्सर्वम् निखिलमप्येतत् हैमभूम्या परिवृतम् । ततः वलयपर्वतः वलयाकारपर्वतो वर्तते ॥ ४८ ॥

इसके बाद शुद्धाम्बुधि से समावृत **पुष्करद्वीप** है । ये सभी द्वीप हैम-भूमि = स्वर्णभूमि से परिवृत हैं । ततः वलयाकार वलयपर्वत है ॥४८ ॥

अन्धकारावृतः सोऽपि सोऽपि गर्भोदकेन च ।
ततोऽण्डमेकमेवं स्याद्भूमेरूर्ध्वमधोऽपि च ॥ ४९ ॥

वलयपर्वतोऽप्यन्धकारेण तमसा निबिडो भवति । सोऽपि वलयपर्वतोऽपि गर्भोदकेन परिवृतो भवति । ततोऽण्डं भवति । एवं भूमौ यथा वर्णितं तथा भूमेरूर्ध्वमधश्च बहवो देशा वर्तन्त इत्यवगन्तव्यम् ॥ ४९ ॥

वलयपर्वत अन्धकार से आवृत है तथा वह वलयपर्वत भी गर्भोदक से घिरा हुआ है । उसके बाद एक ही **अण्ड** है जो पृथिवी के ऊपर और नीचे है, जैसा कि पृथ्वी के ऊपर और नीचे बहुत से देश कहे गये हैं ॥४९ ॥

अण्डान्येतादृशानि स्युरनन्तानि महाहरेः ।
जलबुद्बुदकल्पानि पुराणोक्तान्यनुक्रमात् ॥ ५० ॥

एतानि सर्वाप्यण्डानि अनन्तानि । तानि सर्वाण्यपि हरेर्विभूतयः जले बुद्बुदानीव भासन्ते । एष चाण्डानां क्रमः पुराणेषूक्तः ॥ ५० ॥

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

महाहरि के ऐसे अनन्त अण्ड हैं जो जल में बुद्बुद के समान हैं अर्थात् ये सभी अण्ड जल में बुद्बुद के समान हरि की अनन्त विभूतियां हैं, जिनका पुराणों में क्रमशः वर्णन हुआ है ॥५०॥

इति वेदान्तकारिकावल्यां प्रकृतिनिरूपणं चतुर्थं प्रकरणम्।

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

५. कालनिरूपणम्

गुणत्रयविहीनो यः स जडः काल उच्यते।
अखण्डखण्डभेदेन स कालो द्विविधो मतः ॥ १ ॥

तदेवं प्रकृतिकालशुद्धसत्त्वधर्मभूतज्ञानजीवेश्वरभेदभिन्नेषु द्रव्येषु प्रकृतिं निरूप्यानन्तरं प्राप्तकालं कालं निरूपयितुं प्रकरणान्तरमारभ्यते। सांख्यसौगत-चार्वाकाः कालतत्त्वमत्यन्ताय निह्नुवते। पाशुपतास्तु कालतत्त्वमभ्युपयन्तोऽपि द्रव्यान्तराणामिवास्यापीश्वरमायासृज्यत्वमातिष्ठन्ते। यदाह तत्त्वप्रकाशे भोजः—

"नानाविधशक्तिमयी सा जनयति कालतत्त्वमेवादौ।
भाविभवद्भूतमयं कलयति जगदेवकालोऽतः॥"

इति। वैशेषिकास्तु अस्य नित्यविभुत्वमङ्गीकुर्वन्तोऽप्यनुमानगम्यत्वं संगिरन्ते। तथाचाहुः—"अपरस्मिन्नपरं युगपच्चिरं क्षिप्रमिति काललिङ्गानि" इति। तत्सर्वं प्रतिक्षिपन् सिद्धान्तमाह—गुणत्रयेति। 'प्रकृतिः काल इत्याद्या' इति प्रकृतेर्विलक्षणतया निर्देशादप्राकृतोऽयं कालः। अतः प्रकृतिधर्मत्रैगुण्यरहितः। सात्त्विकः काल इत्यादिव्यवहारस्तु तथाभूतत्तद्वस्तुव्यतिकरनिबन्धनः। जड इति; अनेनास्य पराक्त्वमप्युक्तं भवति। तस्य द्वैविध्यमाह—अखण्डेति। कलामुहूर्त-दिवसपक्षमासादयः खण्डकालाः तत्तदुपाधिनिबन्धनास्तद्विकारभेदा अवग-न्तव्याः ॥ १ ॥

सत्त्व, रजस् और तमस्- इन तीन गुणों से शून्य जो जड द्रव्य है वह काल कहा जाता है। काल अखण्ड और खण्ड भेद से दो प्रकार का होता है ॥१ ॥

आद्यो विभुर्भूतभाविवर्तमानत्वधीकरः।
निमेषादिप्रभेदेन बहुभेदस्त्वसौ मतः ॥ २ ॥

आद्य इति; अखण्डकाल इत्यर्थः। विभुरिति; सर्वमूर्तद्रव्यसंयोगित्वं विभु-त्वम्। न तु परममहत्परिमाणत्वम्। तस्य सामान्येन त्रैविध्यमाह—भूतेति। भूतो घटः, भावी घटः, वर्तमानो घटः इत्यादिरूपेण भूतत्वभावित्ववर्तमानत्वप्रकारकधी-भेदकारीत्यर्थः। कालस्य सर्वत्र पदार्थविशेषणतयैव प्रतीतेः पदार्थप्रत्यक्षे काल-

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

स्यापि प्रत्यक्षत्वमनेनोक्तं भवति। एतेन त्रिविधभेदे प्रमाणमपि दर्शितं भवति। प्रभेदान्तराण्याह—निमेषादीति। आदिपदेन काष्ठाकलामुहूर्तदिवसादयो ग्राह्याः। असौ अखण्डकालो बहुभेदो मत इत्यर्थः ॥ २ ॥

अखण्ड काल विभु होता है जो भूत, भविष्यत् और वर्तमान का ज्ञान कराता है तथा निमेषादि के भेद से बहुत प्रकार का होता है ॥२ ॥

अखण्डकाल एवायं नित्य इत्यवगम्यते।
कालः स्वकार्यं प्रति तु स्यादुपादानकारणम् ॥ ३ ॥

सिंहावलोकनन्यायेन पुनश्चाखण्डकाले विशेषमाह—अखण्डकाल एवेति। एवकारः खण्डकालं व्यवच्छिनत्ति। नित्य इति;उत्पादविनाशरहित इत्यवगम्यते। खण्डकालस्तूत्पादविनाशशालीति फलितोऽर्थः। ननु नित्यस्य विभोश्चाखण्डकालस्य निमेषादिरूपेण विकाराभ्युपगमे नित्यत्वविभुत्वे भज्येयातामिति चेत्, अत्र ब्रूमः—विकारो हि द्विधा। अवयवोच्छूनताह्रासलक्षणः, नामान्तरभजनार्हतालक्षणश्च। द्विविधोऽप्येष विकारो न नित्यत्वविरोधी। नित्याया एव प्रकृतेरीदृशविकारभजनस्य प्रमाणप्रतिपन्नत्वात्। तथाच श्रूयते—"अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्" इति। अजामिति नाशराहित्यस्याप्युपलक्षणम्। अनेन नित्यत्वमुक्तं भवति। एकामिति नैकविधविकारजातमूलत्वमुच्यते। लोहितशुक्लकृष्णामिति तेजोऽबन्नात्मना परिणतिरुच्यते। तेजोऽबन्नात्मना परिणाममापन्नापि सा अजा एकैवेति विवक्षितोऽर्थः। तथा स्मृतिरपि—"अचेतना परार्था च नित्या सततविक्रिया" इति। महदहंकारभूताद्यात्मना सततं परिणममानापि नित्येति विवक्षितोऽर्थः। तथा अवयवोच्छूनताह्रासलक्षणो विकारो यद्यपि विभुनि न संभवति, तथापि नामान्तरभजनार्हतालक्षणस्तु संभवत्येव। अन्यथा प्रपञ्चशरीरके ब्रह्मणि तत्तन्नामभाजि विभुत्वं भज्येतेति सिद्धान्तव्याकोपः स्यात्। स चायमखण्डः कालः कार्यसामान्यं प्रति सहकारिकारणं भवति। स्वस्य यत्कार्यं निमेषकाष्ठादि तत्प्रति तु स्वयमुपादानकारणं भवति ॥ ३ ॥

यह अखण्ड काल ही नित्य जाना जाता है। यह अपने निमेषादि कार्य के प्रति उपादान कारण कहा जाता है ॥३ ॥

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

कार्यरूपस्ततो नैव नित्य इत्यवधार्यताम्।
लीलाविभूतावीशानः कालमालम्ब्य कार्यकृत् ॥ ४ ॥

ततः अखण्डकालकार्यतया कार्यरूपो निमेषादिः खण्डकालो नैव नित्यः। किंत्वनित्य इत्यवधार्यताम्। ईशानः सर्वेश्वरः कालं सहकारितयालम्ब्यैव लीलाविभूतौ प्राकृतप्रपञ्चे सर्वमपि कार्यं करोति ॥ ४ ॥

अतएव अखण्डकाल के कार्यरूप निमेषादि नित्य नहीं हैं, किन्तु अनित्य हैं, वे खण्ड काल समझने चाहिए। ईशान सर्वेश्वर काल का अवलम्बन कर अपनी लीलाविभूति अर्थात् प्राकृतप्रपञ्च में सभी कार्य करते हैं ॥४ ॥

एष नित्यविभूतौ तु न कालमवलम्बते।
क्रीडापरिकरः सोऽयं कालस्तु परमात्मनः ॥ ५ ॥

एष इति। एष ईश्वरः। कालं नावलम्बते, कालमपेक्ष्य न करोतीत्यर्थः। अनेन नित्यविभूतावपि कालसद्भाव उक्तः। तदुक्तम्—"कालं स पचते तत्र न कालस्तत्र वै प्रभुः" इति। अतः सोऽयं कालः परमात्मनः क्रीडापरिकरः लीलोपकरणमित्यर्थः ॥ ५ ॥

यह ईश्वर नित्यविभूति में काल का अवलम्बन नहीं करते हैं, अतः यह काल परमात्मा का क्रीडापरिकर अथवा लीलोपकरण है ॥५ ॥

नित्यनैमित्तिकप्राकृतलया. कालहेतुकाः।
एवं प्रकाशितं कालस्वरूपस्य निरूपणम् ॥ ६ ॥

नित्येति। प्रलयस्त्रिधा—नित्यप्रलयः, नैमित्तिकप्रलयः, प्राकृतप्रलयश्चेति। त्रिविधेऽपि प्रलये कालो भगवतः सहकारिकारणं भवतीत्यर्थः। त्रिविधप्रलयस्वरूपं चैवमुपवर्णितं पुराणेषु। यथा कौर्मे—

"योऽयं संदृश्यते नूनं नित्यं लोके क्षयस्त्विह।
नित्यः संकीर्त्यते नाम्ना मुनिभिः प्रतिसंचरः ॥

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

ब्राह्मो नैमित्तिको नाम कल्पान्ते यो भविष्यति ।
त्रैलोक्यस्यास्य कथितः प्रतिसर्गो मनीषिभिः ॥

महदादिविशेषान्तं यदा संयति संक्षयम् ।
प्राकृतः प्रतिसर्गोऽयं प्रोच्यते कालचिन्तकैः ॥"

इति । नित्यप्रलयो नामदैनंदिनसुषुप्तिरूपः । सुषुप्तौ हि जीवानां ब्रह्मप्राप्तिः श्रूयते—एवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्त्यनृतेन हि प्रत्यूढाः" इति । नैमित्तिकप्रलयो नाम चतुर्मुखब्रह्मणो दिवसावसानात्मकः । प्राकृतप्रलयो नाम चतुर्मुखब्रह्मणां सह ब्रह्माण्डस्य तत्स्थानां च विनाशरूपः । एते त्रिविधाः प्रलयाः कालहेतुका भवन्ति ॥ ७ ॥

नित्य, नैमित्तिक और प्राकृत- यह त्रिविध प्रलय काल के अधीन होती है । अर्थात् त्रिविध प्रलय में काल भगवान् का सहकारी कारण होता है । इस प्रकार काल का स्वरूप कहा गया है ॥६ ॥

इति वेदान्तकारिकावल्यां कालनिरूपणं पञ्चमं प्रकरणम् ।

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

६. नित्यविभूतिनिरूपणम्

शुद्धसत्त्वे धर्मभूतज्ञानजीवेश्वरेषु च।
अजडत्वं भवेल्लक्ष्म तत्पुनः स्वप्रकाशता ॥ १ ॥

कालनिरूपणानन्तरं क्रमप्राप्तं शुद्धसत्त्वं निरूप्यते। शुद्धसत्त्वमेव नित्यविभूतिरिति च व्यवह्रियते। रजस्तमोभ्यामकरम्बितसत्त्ववत्त्वात् शुद्धसत्त्वं भवति। तत्रादौ शुद्धसत्त्वसद्भावे प्रमाणान्याकलयामः। "तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः" इति श्रुतिरप्राप्तत्वात् सदापश्यदनेकसूरिपरिकर्मितं स्थानविशेषं विधत्ते। "अप्राप्ते तु विधीयन्ते बहवोऽप्येकयत्नतः" इति हि प्रमाणविदः। अत्र च विष्णोरिति व्यधिकरणषष्ठ्या पदशब्दस्य स्वरूपपरत्वादपि स्थानविशेषपरत्वं स्वारसिकम्। तथा "आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्", "विश्वं पुराणं तमसः परस्तात्," "क्षयन्तमस्य रजसः पराके" इत्यादावपि तद्विधिः। रजस्तमोभ्यामुपलक्षितप्राकृताण्डबहिर्देशोऽत्र प्रतीयते। अस्य रजसः पराके परस्तात् दिव्यदेशे क्षयन्तं निवसन्तमित्यर्थः। तथा जैमिनीयब्राह्मणे शाट्यायनिनः,"सहस्रस्थूणे विमिते दृढ उग्रे यत्र देवानामधिदेव आस्ते" इति सहस्रस्थूणादिमद्देशविशेषपरां श्रुतिमधीयते। एवं कौषीतकिनोऽपि पर्यङ्कविद्यायां प्रजापतिलोकानन्तरं ब्रह्मलोकं प्रस्तुत्य, "तस्यारो हृदो मुहूर्ता यष्टिहाः" इत्यादिना अपराजिताभिधानं शुद्धसत्त्वमधीयते। अपि च छान्दोग्ये, "तृतीयस्यामितो दिवि तदैरंमदीयं सरस्तदश्वत्थः सोमसवनस्तदपराजिता पूः" "अरं च ण्यं चार्णवौ ब्रह्मलोके" इत्यादिना नित्यविभूतिर्वर्णिता। सन्ति चात्रोपबृंहणानि परःशतानि वचनानि।

एवं स्थिते यदत्र केषांचित्प्रत्यवस्थानम्—"सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" इति सृष्टेः प्राक् सजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्यस्यैकस्य वस्तुनः प्रतिपादनान्नित्यविभूतिनामा देशविशेषोऽङ्गीकर्तुं न शक्यते। पूर्वोदाहृतप्रमाणवचनानि सर्वाणि सगुणब्रह्मविद्यानिष्ठप्राप्यकाल्पनिकदेशविशेषपराणि, न तात्त्विकप्रतिपादकानीति। तत्र चेत्थं प्रतिविधानम्—तत्र तावत् ब्रह्मविद्यासु सगुणनिर्गुणविभाग एव सुतराम- प्रामाणिकः। सर्वा अपि ब्रह्मविद्याः सगुणविषया एव; यतो ब्रह्म सगुणमेवेति श्रुत्यन्तसिद्धान्तः। अपिच "सदेव" इति श्रुतौ स्रक्ष्यमाणप्रपञ्चस्य सृष्टेः पूर्वमविभक्तनामरूपतया केवलमेकत्वमवधार्यते, न पराभिमतसजातीयविजातीयस्वगतभेदविधुरतया। वाक्यशेषे च सैव श्रुतिः "तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत् तन्ना-

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

मरूपाभ्यां व्यक्रियत" इति तमेवार्थं प्रपञ्चयति । यद्येषा रीतिर्नाङ्गीक्रियते, तर्हि तदा तदभिमतमायाया अपि प्रविलयापत्त्या मायोपहिताद् ब्रह्मणः प्रपञ्चसृष्टिरिति तदीयः सिद्धान्तो व्याकुप्येत् ।

तदेवं बहुप्रमाणसिद्धे शुद्धसत्त्वे तथा धर्मभूतज्ञाने जीवेषु ईश्वरे च विषये अजडत्वं लक्षणं भवति । अजडत्वं जडभिन्नत्वम् । तच्च स्वप्रकाशत्वरूपम् । इतरानपेक्षप्रकाशत्वमिति यावत् । तर्हि संसारिणामस्माकं कुतो न प्रकाशत इति चेत् कर्मावरणादिति ब्रूमः ॥ १ ॥

अजडत्व शुद्धसत्त्व= नित्यविभूति, धर्मभूतज्ञान, जीव और ईश्वर में होता है । अजडता स्वप्रकाशता है ॥१ ॥

पराक्त्वे सत्यजडता लक्ष्म प्रथमयोर्मतम् ।
परस्मै भासमानत्वं पराक्त्वमिति गद्यते[1] ॥ २ ॥

तत्र शुद्धसत्त्वधर्मभूतज्ञानयोः साधारणं लक्षणमाह—पराक्त्व इति । पराक्त्वं च परस्मा एव भासमानत्वम् । शुद्धसत्त्वं धर्मभूतज्ञानं च न स्वं स्वयमधिगन्तुं प्रभवतः । किंतु परस्मै पुरुषायैव प्रकाशेते । अजडत्वं च तयोर्ज्ञानरूपत्वात् । तथाच श्रुतिः शुद्धसत्त्वमधिकृत्य श्रूयते—"किमात्मिकैषा भगवतो व्यक्तिः ? यदात्मको भगवान् । किमात्मको भगवान् ? ज्ञानात्मकः" इति । परस्मै भासमानत्वमित्यत्र सर्वं वाक्यं सावधारणमिति न्यायेन परस्मा एव भासमानत्वमित्यर्थो विवक्षितः । अतो जीवेश्वरयोः परस्मै स्वस्मै च भासमानसोर्नातिप्रसङ्गः ॥ २ ॥

अजडता सहित पराक्त्व प्रथम दो अर्थात् शुद्धसत्त्व और धर्मभूतज्ञान का लक्षण कहा गया है । पराक्त्व दूसरे के लिए भासमानता है ॥२ ॥

सत्त्वैकमूर्तिको देशः शुद्धसत्त्वमचेतनम् ।
परिच्छिन्नमधो देशेऽनन्तमूर्ध्वप्रदेशतः ॥ ३ ॥

शुद्धसत्त्वपदार्थमाह—सत्त्वैकेति । एकशब्दः केवलपरः । रजस्तमोभ्याममिश्रितकेवलसत्त्वगुणक इत्यर्थः । पराक्त्वादचेतनम् । चेतनं नाम चैतन्यगुणकं वस्तु । शुद्धसत्त्वस्य ज्ञानरूपत्वेऽपि ज्ञानानाश्रयत्वादचेतनत्वम् । अधोदेशे परि-

१. मनुगद्यते B. कथ्यते C.

CC0. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

च्छिन्नम्। "तमसः परस्तात्" इत्यादिश्रुतिभिस्तमस ऊर्ध्वमिति वर्णनादधः प्रदेशे तमसा परिच्छिन्नम्। ऊर्ध्वप्रदेशे तु अपरिच्छिन्नम्। शुद्धसत्त्वस्योपरिष्टात् कस्यापि देशादेरभावात् तत्र परिच्छेदरहितमिति भावः ॥ ३ ॥

शुद्धसत्त्व रजस् और तमस् से अमिश्रित मात्र सत्त्व-गुण से युक्त अचेतन पदार्थ है। शुद्धसत्त्व ज्ञानरूप होने पर भी ज्ञान का आश्रय न होने से अचेतन है। यह अधोदेश में परिच्छिन्न = सीमित तथा ऊर्ध्वप्रदेश में अपरिच्छिन्न = असीमित अर्थात् अनन्त रूप से रहता है ॥३ ॥

स्वयंप्रकाशरूपेयं पञ्चोपनिषदात्मिका।
विष्णोर्नित्यविभूतिः स्यान्नित्यमानन्दरूपिणी ॥ ४ ॥

स्वयंप्रकाशरूपेति। नित्यविभूतिरिति निर्देशानुरोधेन स्त्रीलिङ्गनिर्देशः। स्वप्रकाशे जडपदार्थैरिवेतरानपेक्षणात् स्वयंप्रकाशरूपेयम्। तच्च किंद्रव्यात्मकमित्यत्राह—पञ्चोपनिषदिति। पञ्चोपनिषन्मन्त्रप्रतिपादितपराकाशाद्यप्राकृतपञ्चभूतमयी। सा चेश्वरादीनां परमपदनिलयानां तत्तदिच्छानुरोधेन शरीरेन्द्रियविषयादिरूपेणावतिष्ठते। तत्रेयान् विशेषः—यत्प्राकृतानि भूतानि महदादिभ्य उत्पद्यन्ते। अप्राकृतानि तु न तथा। तानि स्वत एव प्रतिष्ठतानि। अतो नित्यानि। तर्हि, "अशरीरं वाव सन्तम्" इत्यादिश्रुतयः शरीररहितस्यैव कथं मोक्षमभिदधतीति चेत्, इत्थम्—कर्मकृतशरीरराहितस्यैव तत्र विवक्षा। परमपदनिलयानां तु शरीरमकर्मकृतमित्यदोषः। विष्णोरिति विभूतावन्वेति। विष्णोः शेषभूता नित्यविभूतिरित्यर्थः। आन्दरूपिणीति;

"तत्रानन्दमया भोगा लोकाश्चानन्दलक्षणाः।"

"आनन्दं नाम तं लोकं परमानन्दलक्षणम्।"

इत्याद्युपबृंहणात् नित्यविभूतिरान्दैकरूपेत्यर्थः ॥ ४ ॥

शुद्धसत्त्व ही नित्यविभूति है अतएव यह स्वयंप्रकाशरूपा पञ्चोपनिषदात्मिका = पञ्चोपनिषद् में प्रतिपादित पराकाशादिरूप अप्राकृतपञ्चभूतमयी, नित्य आनन्दरूपिणी भगवान् विष्णु की नित्यविभूति है- यही शुद्धसत्त्व पदार्थ है ॥४ ॥

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

सेयं विभूतिरीशस्य नित्यमुक्तात्मनामपि ।
भोग्यभोगोपकरणभोगस्थानमयी मता ॥ ५ ॥

सेयं विभूतिरिति; नित्यविभूतिरित्यर्थः । तस्या विविधरूपतामाह—भोग्येति; भोगकर्मभोगसाधनभोगाधिकरणदेशमयीत्यर्थः । मतेति; प्रामाणिकग्रन्थेष्वित्यर्थः ॥ ५ ॥

यह नित्यविभूति ईश्वर, नित्यजीव तथा मुक्तजीव की भोग्य, भोगोपकरण और भोगस्थानरूपिणी कही गई है ॥५ ॥

भोग्यमीश्वरदेहादि द्वितीयं चन्दनादिकम् ।
भोगस्थानं तु माणिक्यगोपुरादिकमुच्यते ॥ ६ ॥

भोग्यादीन् निर्दिशति—भोग्यमिति । ईश्वरस्य देहादि भोग्यमित्यर्थः । ईश्वरदिव्यमङ्गलविग्रहोऽन्येषां नित्यसूरीणामिवेश्वरस्यापि भोग्यो भवति । यदाहुः—"मूर्तं ब्रह्म ततोऽपि तत्प्रियतरं रूपं यदत्यचद्भुतम्" इति । भोगोपकरणमाह—चन्दनादिकमिति । नित्यविभूतावाप्राकृतचन्दनादिकं शास्त्रसिद्धम् । भौगस्थानान्याह—माणिक्येति । माणिक्यमयं गोपुरप्रासादवितर्दिकादिकं भोगस्थानमित्यर्थः ॥ ६ ॥

ईश्वर की देह आदि **भोग्य** हैं, चन्दनादि **भोगोपकरण** हैं तथा माणिक्यमय गोपुरप्रासाद, वतर्दिका आदि **भोगस्थान** हैं ॥६ ॥

देहा ईश्वरनित्यानां नित्येच्छाकल्पिता हरेः ।
मुक्तानां तु शरीरादिस्तत्संकल्पकृतो मतः ॥ ७ ॥

तत्र भोग्यभूतदेहे विशेषमाह—देहा इति । ईश्वरस्य नित्यानां च देहो हरेर्नित्येच्छापरिकल्पितः । मुक्तानां तु ईश्वरेच्छाधीनस्वेच्छाकल्पितः । भगवदाज्ञामनुरुन्धाना यथा यथा भूत्वा भगवन्तं तत्कल्याणगुणांश्चानुबुभूषन्ति तथा तथा स्वदेहं परिगृह्णन्तीत्यर्थः ।

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

ईश्वर और नित्यजीव की देह हरि की नित्य इच्छा से कल्पित होती हैं, किन्तु मुक्त जीव के शरीर आदि ईश्वरेच्छाधीन स्वेच्छा से कल्पित होते हैं ॥७ ॥

श्रीपतेर्व्यूहविभवार्चावतारतया सतः ।
अप्राकृतशरीराणि प्रतिष्ठानन्तरं हरेः ॥ ८ ॥
प्रसादोन्मुखतापत्तौ प्रकटानि भवन्ति हि ।
तच्च प्रकटनं तस्य संकल्पाधीनमीर्यते ॥ ९ ॥

श्रीपतेरिति । व्यूहाः वासुदेवसंकर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धाख्याश्चत्वारः । विभवाः रामकृष्णादिबहुभेदाः । अर्चाः श्रीरङ्गादिदिव्यदेशेषु प्रतिमारूपाः । एवं व्यूहाद्यात्मना वर्तमानस्य भगवतः श्रीपतेः शरीराणि दिव्यमङ्गलविग्रहाः अप्राकृतानि प्राकृतभिन्नानि शुद्धसत्त्वमयानि ज्ञातव्यानि । ननु व्यूहविभवानां सन्तु नामाप्राकृतविग्रहाः । अर्चारूपाणां तु विग्रहाः कथमप्राकृताः ? अर्चा हि प्राकृतलोहैः रजतकाञ्चनादिभिः शिल्पिभिनिर्मिता दृश्यन्ते । सन्ति च प्रतिमानिर्माणे तेषु तेषु शास्त्रेषु परिदृश्यमाना विधय इत्यत्र समाधानमाह—प्रतिष्ठानन्तरमिति । प्राकृतलोहनिर्मितानामप्यर्चाविग्रहाणां यथाशास्त्रं वैदिकतान्त्रिकमन्त्रैः प्रतिष्ठाकरणानन्तरं त एव विग्रहा अप्राकृततामापद्यन्ते इत्यर्थः । यथाहुः—"न तस्य प्राकृता मूर्तिर्मांसमेदोऽस्थिसंभवा" इति, "न भूतसंघसंस्थानो देहोऽस्य परमात्मनः" इति च ॥ ८ ॥

तत्र च हेतुः भगवत्प्रसादौन्मुख्यमेवेत्याह—प्रसादेति । महामन्त्रैः प्रतिष्ठाकरणे तादृशमन्त्रमहिम्ना भगवानाराधकस्य प्रसन्नो भूत्वा तत्र बिम्बे स्वसांनिध्यं कुरुते । तत्सांनिध्यसमय एव तद्बिम्बमप्यप्राकृत भवतीति यावत् । एष च महिमा मन्त्रबलाधीन इति न तत्र लेशतोऽपि कुचोदनाया अवकाशः । तदेवाह—तच्चेति । संकल्पाधीनमिति । मन्त्रविशेषैः प्रतिष्ठिते बिम्बे सांनिध्यं करवाणीति तस्यावितथः संकल्पः । अप्रतिहतसंकल्पे भगवति प्रसन्ने किं किं न संभाव्यत इत्यर्थः ॥ ९ ॥

भगवान् नारायण-श्रीपति के व्यूह, विभव तथा अर्चावताररूप शरीर= दिव्यमङ्गलविग्रह अप्राकृत= प्राकृतभिन्न शुद्धसत्त्वमय होते हैं । यद्यपि अर्चारूप विग्रह प्राकृत लोह, रजत, काञ्चन आदि से निर्मित होते हैं, तथापि उक्त अर्चाविग्रहों का यथाशास्त्र वैदिक-तान्त्रिक मन्त्रों द्वारा प्रतिष्ठाकरण

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

होने से वे ही विग्रह अप्राकृत हो जाते हैं, क्योंकि भगवान् तादृश मन्त्रों की महिमा से आराधक पर प्रसन्न होकर उस विग्रह-बिम्ब में प्रकट हो जाते हैं अथवा उसमें अपनी सन्निधि बना लेते हैं और वह प्रकटन= सान्निध्य उनका संकल्प कहा जाता है। भाव है कि अप्रतिहतसंकल्पवान् भगवान् के प्रसन्न होने पर क्या नहीं हो सकता है, सर्वसंभव होता है ॥८-९ ॥

प्राकृताप्राकृततनुसंसर्गः कथमित्यलम् ।
रामकृष्णवतारादौ दृष्टत्वात्तस्य भूयसा ॥ १० ॥

ननु भगवदर्चामूर्तेप्राकृतत्वे कथमस्याः प्राकृतलोकावतारः ? कथं वा प्राकृतैर्द्रव्यैः संसर्ग इत्याशङ्क्य समाधत्ते—प्राकृतेति । प्राकृताप्राकृतलोकयोरुभयोरपि भगवद्विभूतित्वात् यथा अखिलहेयप्रत्यनीककल्याणगुणैकतानस्य भगवतो रामकृष्णाद्यात्मना दोषबहुलप्राकृतलोकेऽप्यवतारः प्राकृतद्रव्यैश्च योग उपपद्यते तद्वदिति भावः ॥ १० ॥

यह प्रश्न है कि 'प्राकृत जगत् और अप्राकृत शरीर का संसर्ग कैसे संभव हो सकता है'? सर्वथा अनुचित है, क्योंकि ऐसा संसर्ग अनेक बार राम, कृष्ण के अवतार आदि में देखा गया है ॥१० ॥

औज्ज्वल्यादिगुणा ये[1] स्युर्दिव्यमङ्गलविग्रहे ।
हरेस्तांस्तु विजानीहि गद्यत्रयविचारतः ॥ ११ ॥

भगवत्स्वरूपस्य यथा ज्ञानशक्त्याद्यसंख्यातकल्याणगुणाश्रयत्वं तथा शुभाश्रयस्य तद्दिव्यमङ्गलविग्रहस्याप्यनन्तगुणाश्रयत्वं शुद्धसत्त्वमयत्वात् प्रामाणिकमुपपद्यत इत्याह—औज्ज्वल्यादीति । आदिपदेन सौगन्ध्यसौकुमार्यलावण्यादि- संग्रहः । गद्यत्रयेति; श्रीभगवद्रामानुजी भगवदनुसंधानपरे पृथुगद्यमितगद्यश्रीवैकुण्ठगद्यसंघटिते गद्यत्रयाख्यग्रन्थ इत्यर्थः । विचारत इत्यनेन तद्भाष्यार्थावगमोऽपि विवक्षितः ।

---

१. ये तु A.C.

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

हरि के दिव्य-मङ्गलविग्रह में जो औज्ज्वल्यादि गुण हैं उनको तो भगवान् श्री रामानुजाचार्य द्वारा प्रणीत गद्यत्रय ग्रन्थ से हृदयंगम करना चाहिए ॥११ ॥

मुक्तानामशरीरत्ववचनं यत्तु दृश्यते ।
तत्कर्मकृतशारीरसंबन्धाभावगोचरम् ॥ १२ ॥

"अशरीरं वाव सन्तम्" इति श्रुतिर्मुक्तौ देहाभावं ब्रवीतीति तद्विरोध इत्यत्राह—मुक्तानामिति । सशरीरत्वाशरीरत्वपरयोः श्रुत्योः सगुणनिर्गुणश्रुत्योरिवशरीरस्य कर्मकृतत्वाकर्मकृतत्वाभ्यां विरोधः परिहरणीय इति भावः ॥ १२ ॥

'मुक्तजीव अशरीर होते हैं- यह जो वचन कहा जाता है, इसका तात्पर्य यह है कि उन मुक्तजीवों का कर्मकृत शरीर से सम्बन्ध नहीं होता है ॥१२ ॥

निरूपयन्ति श्रीनाथदिव्यमङ्गलविग्रहम् ।
पुराणोक्तक्रमादस्मादाद्या वेदान्तदेशिका[1] ॥ १३ ॥

तथाहि—

"चेतश्चक्रति चेतनासिरमतिस्तत्संवृतिर्मालिका
भूतानि स्वगुणैरहंकृतियुगं शङ्खेन शाङ्र्गायते ।
बाणाः खानि दशापि कौस्तुभमणिर्जीवः प्रधानं पुनः
श्रीवत्सं कमलापते तव गदामाहुर्महान्तं बुधाः ॥"

इति ।

पुराणरत्नास्त्रभूषणाध्यायोक्तप्रकारेण भगवतो दिव्यमङ्गलविग्रहमनुसंधत्ते—निरूपयन्तीति । श्रीनाथेत्यनेन "उभयाधिष्ठानं चैकं शेषित्वम्" इति न्यायेन दिव्यदंपतिशेषित्वमुक्तं भवति । निरूपणप्रकारमेवाह—चेत इति । चक्रति चक्रमिवाचरति । चेतना ज्ञानम् । असिः खड्गरूपतामपद्यते । अमतिः, अज्ञानम् । तत्संवृतिः; तस्य खड्गस्य संवृतिः आवरणभूतः कोशः । भूतानि आकाशादीनि

१. अस्मदाद्यवेदान्तदेशिकाः A.

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

पञ्चभूतानि पञ्च तन्मात्राणि च स्वगुणैः शब्दस्पर्शादिभिः सह मालिका भवति; यस्या भूतमालेत्यपि प्रसिद्धिर्लोके। अहंकृतियुगं सात्त्विकतामसाहंकारद्वयं शङ्खेन सह शाङ्‍र्गं भवति। सात्त्विकाहंकारः शङ्खः, तामसाहंकारश्च शाङ्‍र्गं भवतीत्यर्थः। शङ्खस्य सात्त्विकत्वादेव ध्रुवानुग्रहे भगवता ध्रुवस्य ज्ञानोदयहेतुभूतं शङ्खसंमार्जन- मुक्तं पुराणे। दशापि खानि ज्ञानकर्मेन्द्रियाणि बाणा भवन्ति। जीवः जीवसमष्टिरूपं चेतनतत्त्वं कौस्तुभः कौस्तुभमणिः। प्रधानं प्रकृतिः पुनः श्रीवत्सं भवति। बुधाः महान्तं महत्तत्त्वं तव गदामाहुरिति श्लोकार्थः॥ १३॥

हमारे आद्य वेदान्ताचार्य पुराणोक्त क्रम से भगवान् नारायण श्रीनाथ के दिव्य-मङ्गलविग्रह का निरूपण इस प्रकार करते हैं-

'हे कमलापति !हमारा यह चित्त आपका चक्र है, हमारी चेतना अर्थात् ज्ञान आपकी असि अर्थात् खड्ग है, अमति = अज्ञान उसकी संवृति = कोश अथवा मियान है, अपने गुणों सहित पंचमहाभूत आपका पुष्पहार हैं जिसको भूतमाला भी कहा जाता है, सात्त्विक और तामसरूप द्विविध अहंकार आपके पाञ्चजन्य शङ्ख के साथ शार्ङ्ग धनुष है, दस इन्द्रियां बाणं हैं, जीव आपकी कौस्तुभमणि है, प्रधान-प्रकृति आपका श्रीवत्स है, तथा महत् आपकी गदा है।' इत्यादि ॥१३॥

त्रिपाद्विभूतिवैकुण्ठपरव्योमादिशब्दिता।
विभूतिरियमीशस्य महती सुमहीयते॥ १४॥

नित्यविभूतेर्नामान्तराण्याह—त्रिपादिति। त्रिपाद्विभूतिरिति, श्रीवैकुण्ठ- मिति, परव्योम चेति शब्दभागिनी, ईशस्य सर्वशेषिणो भगवत इयं विभूतिः महती लीलाविभूत्यपेक्षयात्यन्तं महती सुतरां महीयते पूज्यते। मह पूजायामिति धातुः। "तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते" इत्युक्तरीत्या नित्यसूरिभिः सदा स्तूय- माना वर्तत इत्यर्थः॥ १४॥

यह नित्यविभूति त्रिपाद्-विभूति, श्रीवैकुण्ठ और परमव्योम आदि अनेक नामों से जानी जाती है। यह सर्वशेषी भगवान् नारायण की विभूति है, यह महती तथा सुतरां पूज्य है ॥१४॥

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

द्वादशावरणोपेतमनेकशतगोपुरम् ।
वैकुण्ठं नाम नगरमेतस्यां प्रविजृम्भते ॥ १५ ॥

तत्र नित्यविभूतौ दिव्यनगरमाह—द्वादशेति । तत्र नित्यविभूतौ द्वादशभिरावरणैः प्राकारैरावृतमनेकशतसंख्याकगोपुरविराजितं वैकुण्ठाख्यं श्रीवैकुण्ठनामकं दिव्यनगरमपि एतस्य भगवतो भोगार्थं विजृम्भते प्रकाशते ॥ १५ ॥

इस नित्यविभूति में बारह आवरणों प्राकारों से आवृत घिरा हुआ तथा अनेक सौ गोपुरों = अट्टालिकाओं से विभूषित 'वैकुण्ठ' नाम का नगर प्रकाशित है ॥१५ ॥

आनन्दनामकस्तत्र सुदिव्यंनिलयः स्फुटः ।
तत्र रत्नमयस्तम्भसहस्रा भासते सभा ॥ १६ ॥

श्रीवैकुण्ठनगरे भगवतो दिव्यमन्दिरादिकमाह—आनन्देति । तत्र नगरे आनन्दनामकः दिव्यनिलयः स्फुटः स्वयंप्रकाशो वर्तते । तत्र दिव्यनिलये सभामण्डपः रत्नमयैः स्तम्भसहस्रैरन्वितो भासते ।

उस वैकुण्ठ में 'आनन्द' नामक भगवान् का दिव्य मन्दिर है, जो स्फुट अर्थात् स्वयंप्रकाश है तथा उसमें सहस्रों मणिजटित स्तम्भों = खम्भों से अन्वित-भूषित एक 'सभाभवन' सुशोभित है ॥१६ ॥

अनन्तस्तत्र च फणामणितेजोविराजितः ।
तस्मिन् धर्मादिसहितसिंहासनमुपस्थितम् ॥ १७ ॥

तत्र च दिव्यसभामण्डपे फणमणितेजोभिर्विशेषभास्वरः अनन्तः सिंहासनमुद्धरन्नास्ते । तस्य दिव्यमहामणिमण्डपस्थनित्यसूरिसभायामास्तरणभूतस्यानन्तस्य सेवामाह—अनन्त इति । तत्र च सभायाम् । फणामणीनां सहस्रसंख्यस्फटास्थरत्नानां तेजसा कान्त्या विराजितोऽनन्तः तदाख्यया प्रसिद्धो भगवत्पारिषदेषु प्रधानभूतः राजति विद्योतते । अनन्तस्य बहुधा भगवत्सेवाप्रकारो वर्णितः स्तोत्ररत्ने—

"तया सहासीनमनन्तभोगिनि प्रकृष्टविज्ञानबलैकधामनि ।
फणामणिव्रातमयूखमण्डलप्रकाशमानोदरदिव्यधामनि ॥

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

निवासशय्यासनपादुकांशुकोपधानवर्षातपवारणादिभिः ।
शरीरभेदैस्तव शेषतां गतैर्यथोचितं शेष इतीरिते जनैः ॥"

इति । तस्मिन् अनन्ते; अधिकरणे सप्तमी । तद्धारितं दिव्यं सिंहासनमुपस्थितं वर्तत इत्यर्थः । तस्यसिंहासनस्य पादानाह—धर्मादीति । धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्याख्याश्चत्वारः पादास्तस्य । तैः पादैः सहितं सिंहासनं वर्तत इत्यर्थः ।

उस सभाभवन में सहस्र-फणामणियों के तेज अथवा कान्ति से विराजित 'अनन्त' नाम वाले भगवान् के पार्षदप्रधान विराजमान हैं, उन अनन्त द्वारा धारित वहाँ एक दिव्य 'सिंहासन' है जिसके धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य- ये चार पाद हैं ॥१७ ॥

तत्र चामरवद्धस्तैर्विमलादिभिरर्चितम् ।
पद्ममष्टदलं भाति तत्र शेषोऽस्ति धीमयः ॥ १८ ॥

तस्य सिंहासनस्य मध्ये पद्मासनमाह—तत्रेति । तत्र; सिंहासने । चामरवीजनेन भगवत्कैंकर्यप्रसिताभिर्विमलादिभिर्दिव्यपरिचारिकाभिरञ्चितमलंकृतमष्टदलयुक्तं पद्मं भाति विमलादयश्चाष्टौ परिचारिकाः परिगण्यन्ते भगवच्छास्त्रे । तासां नामानि यथा—विमला, उत्कर्षणी, ज्ञानाख्या, क्रिया, योगाख्या, प्रभ्वी, सत्या, ईशाना चेति । एताश्च पद्मासनस्याग्नेयाद्यष्टदिग्दलेषु प्रतिष्ठिता वेदितव्याः । तत्रेति । अष्टदलपद्मे धीमयः ज्ञानस्वरूपः शेषोऽस्ति दिव्य पर्यङ्करूपेण वर्तते । भगवच्छेषतैकरसत्वात् भगवत्पारार्थ्यैकरूपप्रवृत्तिनिमित्तानुगुणां शेषाख्यां बिभ्रदयं स्वयंप्रकाशत्वरूपज्ञानस्वरूपोऽपि विशिष्य पञ्चविधज्योतिः सिद्धान्तप्रवर्तकतया ज्ञानप्रकर्षवानिति धीमयत्वमस्येति मन्तव्यम् । १८ ॥

उस सिंहासन के मध्य एक अष्टदलयुक्त 'पद्मासन' है जो कि अपने-अपने हाथ में चँवर ली हुईं विमला आदि अष्ट परिचारिकाओं द्वारा अर्चित है, उस पद्मासन पर ज्ञानस्वरूप एक 'शेष' है जो कि पर्यङ्करूप है ॥१८ ॥

तत्रानन्दमयः साक्षात्सर्ववाचामगोचरः ।
अद्भुतज्योतिराकारो भाति नारायणात्मना ॥ १९ ॥

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

अनन्तरं शेषपर्यङ्कासीनं भगवन्तं निर्दिशति—तत्रेति। तत्र; शेषपर्यङ्के। आनन्दमय:; मानुषानन्दादिप्रजापत्यानन्दपर्यन्तशतगुणितोत्तरानन्दादप्यतिशयितानन्दरूप:। साक्षात्; विगलितनिखिलकर्मबन्धस्याविर्भूतस्वस्वरूपस्यात्मन: प्रत्यक्ष- वेद्य:। सर्ववाचाम "यतो वाचो निवर्तन्ते" इत्युक्तरीत्या ब्रह्मादीनां सर्वदेवानामपि वाचामविषय:। अद्भुतज्योति:, "परं ज्योतिरुपसंपद्य," "न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम्" इत्यादि श्रुत्युक्तरीत्या युगपदुदितकोटिकोटिसूर्यलावण्यज्योतिराकार:। नारायणत्मनेति सदात्मपरब्रह्मादिशब्दानां सामान्यविशेषन्यायेन नारायणे पर्यवसानमभिप्रेत्यात्र देवताविशेषनिर्देश:। अनेन मुक्तप्राप्यं निर्विशेषं परं ब्रह्मान्यत्। उपसनागोचर आविद्यक: सगुणो नारायणोऽन्य इति परेषां मते तत्क्रतुन्यायविरोधरूपमनौचित्यमपि सूचितम्। ब्रह्मणि सगुणनिर्गुणविभाग एव प्रमाणं नास्ति। तथा कृत्वा चिन्तायामपि सगुणब्रह्मोपासकस्य सगुणब्रह्मप्राप्तिरेवोचिता, न निर्गुणब्रह्मप्राप्तिरिति युक्तम्।

उस शेषपर्यङ्क पर आनन्दमय, साक्षात, ब्रह्मादि सभी देवताओं की वाणी से भी अगोचर, नारायणस्वरूप, युगपद्-उदित-कोटिकोटिसूर्यलावण्य से अद्भुत ज्योतिरूप विभासित अथवा प्रकाशित रहता है ॥१९॥

इति वेदान्तकारिकावल्यां नित्यविभूतिनिरूपणं षष्ठं प्रकरणम्।

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

७. धर्मभूतज्ञाननिरूपणम्

[१]धर्मो भवति यज्ज्ञानं प्रभा दीपे यथात्मनोः।
तद्धर्मभूतविज्ञानं नित्यं नित्येश्वरेषु तत्॥ १ ॥

अथ धर्मभूतज्ञानं निरूपयितुमुपक्रमते—धर्म इति। यथा प्रभा दीपधर्मतया भाति, तथा ज्ञानमप्यात्मधर्मतया भातीत्यर्थः। ज्ञानस्वरूपस्यात्मनो व्यवच्छेदाय धर्म इति विशेषणम्। धर्मीभवतीति पाठे धर्मो भवतीत्यर्थे, "कृभ्वस्तियोगे संपद्य-कर्तरि च्विः" इति च्विप्रत्ययः। अभूततद्भावश्चात्र यथावदनवस्थितोऽपि शब्द-साधुत्वसंपत्तये यथाकथंचिन्निर्वाह्यः। अत्रायमाशयः—ज्ञानं द्विविधं धर्मिभूतं धर्मभूतं चेति। तत्राद्यं जीवा ईश्वरश्च। अन्त्यं तेषां गुणभूतं मतिबुद्ध्यनुभूत्यादि-पदवाच्यम्। अवभासत्वमुभयानुगतं प्रवृत्तिनिमित्तम्। अर्थप्रकाशत्वं तु धर्मभूत-ज्ञानस्य। ज्ञानस्वरूपस्यात्मनो ज्ञानमेव कथं गुणो भवितुमर्हतीति विशये दीपप्रभादृष्टान्तेन समाधानमुक्तं भवति। यथा तेजोरूपाया एव दीपज्वालायास्ते-जोरूपा प्रभा गुणो भवति तथेति।

ननु ज्ञानं नामाद्रव्यं द्रव्याश्रितो गुण इति प्रसिद्धिः। तथा सति कथात्मनो द्रव्यस्याद्रव्यात्मकज्ञानरूपत्वमिति चेत्, ज्ञानस्य द्रव्यात्मकत्वादिति ब्रूमः। आगमोऽपि हि "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इति ब्रह्मणो ज्ञानस्वरूपतामाह। ननु तत्र ज्ञानशब्दे अन्तोदात्तबलादर्श आद्यचि ज्ञानवत्त्वमेवार्थं इति चेत्; तन्न, "विज्ञानमा-नन्दं ब्रह्म" इति श्रुत्यन्तरानुगुण्येनात्रापि बाहुलकादन्तोदात्ततामाश्रित्य ज्ञानस्वरूप-त्वस्यैव वक्तव्यत्वात्। नन्वेवमप्यागमबलात् ज्ञानरूपगुण एव ब्रह्मास्तु। तथा च केवलमनुभूतिरेव ब्रह्म। अनुभूतेश्च गुणत्वात् तत्र ज्ञानान्तरासंभवः, गुणे गुणान-ङ्गीकारात्। न हि रूपादौ गुणे गुणान्तरं रूपाद्युपलभामहे इति चेत्, अत्रेत्थं वक्त-व्यम्—यदि नैयायिकपक्षपातेनाद्रव्यं गुण इति पक्षमवलम्ब्य वितर्क्यते, तदा गुणस्याद्रव्यस्य कंचिदाश्रयमन्तरावस्थितिरपि न दृष्टचरेति ज्ञानरूपस्य ब्रह्मणः कश्चिदाश्रयोऽभ्युपगन्तव्यो भवति। यदि "निराधारं निराश्रयम्" इत्याद्यागमबला-दाश्रयमन्तरापि तद्वर्तत इत्यभ्युपगम्यते, तर्हि काममागमबलादेव तस्य ज्ञानगुणक-

---

१. धर्मीभवति—A.B.

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

त्वमप्यभ्युपगन्तव्यो भवति। यदि "निराधारं निराश्रयम्" इत्याद्यगमबलादगाश्रयमन्तरापि तद्वर्तत इत्यभ्युगम्यते, तर्हि काममागबलादेव तस्य ज्ञानगुणकत्वमप्युपगम्यताम्। अस्ति चायमागमः—"परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" "सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय" इत्यादिः।

इदमत्रावधेयम्—पदार्थजातं द्रव्यगुणकर्मसामान्याद्यात्मना विभजतां नैयायिकानां यथा गुणा अद्रव्यभूताः, न तथास्माकं सिद्धान्ते। यो यदाश्रित्य वर्तते, स तस्य गुण इति गुणलक्षणम्। स च क्वचिद् द्रव्यं भवति, यथा—दण्डः पुरुषस्य। क्वचिदद्रव्यं भवति, यथा—शुक्लादि रूपं पटस्य। तथा गुणगुणिनोः संबन्धोऽपि द्विविधः—पृथक्सिद्धसंबन्धः, गुणगुणिनोः सामानाधिकरण्यनिर्देशः, यथा—दण्डी पुरुष इति। अपृथक्सिद्धसंबन्धस्थले तु मत्वर्थप्रत्ययापेक्षां विनापि तयोः सामानाधिकरण्यम्, यथा—शुक्लः पटः, ब्राह्मणोऽयम्, पीनोऽयमित्यादि। अत्र शुक्लरूपपटयोः देहात्मनोश्चापृथक्सिद्धसंबन्धः। प्रकृते च ज्ञानब्रह्मणोरपृथक्सिद्धसंबन्धात् "विज्ञानं ब्रह्म" इति व्यवहार इत्येका गमनिका। तथा ह्याह सूत्रकारः—"तद्गुणसारत्वात् तद्व्यपदेशः" इति। स्वयंप्रकाशत्वरूपप्रवृत्तिनिमित्तपौष्कल्यात् तथा व्यवहार इत्यन्या गमनिकेति।

तत्र विशेषान्तरमाह—नित्यमिति। तत्; धर्मभूतं ज्ञानं नित्येषु ईश्वरे च नित्यम् उत्पादविनाशरहितम्। आह च श्रुतिर्धर्मभूतज्ञानस्य नित्यत्वम्; यथा—"न विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते" "न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते" इति। उपबृंहणमपि—

"यथा न क्रियते ज्योत्स्ना मलप्रक्षालनान्मणेः।
दोषप्रहाणान्न ज्ञानमात्मनः क्रियते तथा॥"

इत्यादि। ईश्वरस्य नित्यसूरीणां च ज्ञानं सदा सर्वविषयावगाहीत्यर्थः॥ १॥

जैसे दीपक का प्रकाश उसका धर्म होता है वैसे ही आत्मा का ज्ञान उसका धर्म होता है, यही **धर्मभूतज्ञान** कहलाता है। यह धर्मभूतज्ञान नित्य होता है और नित्यजीव तथा ईश्वर में रहता है॥१॥

बद्धेषु तत्तिरोभूतं मुक्तेषु प्राक्तिरोहितम्।
संकोचनविकासाभ्यां नाशोत्पत्तिविपाकभाक्॥ २॥

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

बद्धमुक्तज्ञानयोर्विशेषमाह—बद्धेष्विति । तत् नित्यमपि ज्ञानम् । बद्धेषु कर्मबद्धेषु जीवेषु । तिरोभूतम् आवृतं भवति । अतः स्वतः सर्वविषयवगाहस्वभावमपि तत् संसृतिदशायां कुण्ठितप्रसरं भवतीत्यर्थः । मुक्तेषु तु प्राक् मुक्तेः प्राक् तिरोभूतम् । मुक्त्यनन्तरं तु नित्येश्वराणामिव सर्वतः प्रसरमित्यर्थः,"परमं साम्यमुपैति" इति श्रुतेः । संसृतिदशायां संकोचविकासाभ्यां नाशोत्पादव्यवहार इत्यर्थः । एवं चात्मधर्मभूतज्ञाने संकोचविकासाभ्युपगमात् तस्यैव विकारित्वम्, न त्वात्मन इति तस्याविकारित्वश्रुत्या न विरोधः । केवलसंविदेवात्मेति वादिनां मते तु ज्ञानेऽभ्युपगतो विकार आत्मन्येव पर्यवस्यंस्तस्याविकारित्वबोधन्या श्रुत्या विरुध्येत । नित्यस्यापि ज्ञानस्य विकारित्वं तु प्रमाणप्रतिपन्नतयाभ्युपगम्यत इति भावः । ज्ञानस्य संकोच एव नाशः, विकास एव चोत्पत्तिरिति व्यवह्रियते ॥ २ ॥

यह ज्ञान बद्धजीव में तिरोभूत रहता है तथा मुक्तजीव में मुक्ति से पूर्व तिरोभूत रहता है । इस ज्ञान का संकोच और विकास क्रमशः नाश और उत्पत्ति कहलाता है ॥२ ॥

संकोच इन्द्रियद्वारा ज्ञानं संकोच्यते यदि ।
विकास इन्द्रियद्वारा ज्ञानप्रसरणाद्भवेत् ॥ ३ ॥

ज्ञानाख्यं द्रव्यमिन्द्रियद्वारा निर्गत्य विषयसंनिधानमाप्नुवद्विषयावभासं जनयति । यदा इन्द्रियद्वारा निर्गमने तत् संकोच्यते तदा तस्य संकोचो भवति । यदा तु प्रसरणमापद्यते तदा विकासो भवतीत्यर्थः ॥ ३ ॥

जब यह ज्ञान इन्द्रियों द्वारा संकुचित होता है तो संकोच कहलाता है । जब यही ज्ञान इन्द्रियों द्वारा प्रसार प्राप्त करता तो विकास कहलाता है ॥३ ॥

स्वप्रकाशं स्वतो मानमेतदित्यत्र संमतम् ।
स्वान्यनिर्वाहकत्वेन दीपवत्स्वप्रकाशता ॥ ४ ॥

एवं ज्ञानस्य नित्यत्वं प्रतिपाद्य स्वयंप्रकाशत्वं स्वतः प्रामाण्यं च प्रतिपादयति—स्वप्रकाशमिति । स्वयंप्रकाशमित्यर्थः । 'घटमहं वेद्मि' इत्युपलम्भे ज्ञेयज्ञातृज्ञानरूपत्रिपुटीप्रतिभासः सर्वानुभवसिद्धः । तत्र ज्ञेयनिष्ठविषयतानिरूपकं

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

वेद्मीति विदधात्वर्थज्ञानमिति सुप्रसिद्धम्। ज्ञातृज्ञाननिष्ठविषयतानिरूपकं ज्ञानं किंरूपमिति विवेचनीयम्। उभयोर्मानसाध्यक्षविषयत्वात् मानसमध्यक्षमिति नैयायिकाः। ज्ञातुरात्मनोऽहंप्रत्ययविषयत्वाद् भानम्; ज्ञानस्य तु प्राकट्यलिङ्गकेनानुमानेन भानमिति भाट्टाः। तन्मतं निरस्यन् स्वसिद्धान्तमाह—स्वप्रकाशमिति। स्वः स्वनिष्ठः प्रकाशो विषयता यस्येति व्युत्पत्त्या प्रकाशशब्दस्य स्वनिरूपितविषयताकमित्यर्थः फलितः। एवं च ज्ञानं स्वनिरूपितविषयताकमित्युक्ते एकमेव ज्ञानं विषयो विषयि चेति पर्यवसानात् स्वगोचरज्ञानान्तरानपेक्षं ज्ञानं स्वयमेव भासत इत्यर्थः पर्यवसन्नः। ज्ञानं स्वयंप्रकाशमपि न सर्वदा सर्वस्य भासते; किंतु विषयप्रकाशनवेलायां ज्ञातुरात्मन एव। कालान्तरीयपुरुषान्तरीयज्ञानं तु स्मृत्या, अनुमानेन च ज्ञायत इति सिद्धान्तः। एवं च "यानुभूतिरजामेया" इतीष्टसिद्धिकारवचनेऽप्यजत्वांशे न विप्रतिपत्तिः, ज्ञानस्य नित्यत्वात्। अमेयत्वांशेऽपि विषयप्रकाशनवेलायां ज्ञातुः स्वयंप्रकाशत्वात् ज्ञानान्तरामेयेत्यर्थकरणे न विप्रतिपत्तिरिति ज्ञेयम्।

एतच्च ज्ञानं स्वतो मानं स्वतः प्रमाणमित्यत्र सिद्धान्ते संमतम्। अयं भावः—ज्ञानस्य प्रामाण्यं विषयास्तित्वेन व्यवस्थाप्यम्। अप्रामाण्यं च विषयनास्तित्वेन। तच्च विषयास्तित्वं स्वत एव प्रतीयते। 'घटोऽस्ति' इति ज्ञाने घटास्तित्वरूपं प्रामाण्यं तेनैव ज्ञानेन प्रतीयते। अतः स्वतः प्रमाणमिदं ज्ञानम्। यत्र तु शुक्तौ रजतप्रतीतिः, तत्रापि रजतास्तित्वमेव प्रतीयते, न पुनस्तन्नास्तित्वम्। तन्नास्तित्वं तु बाधकेन ज्ञानेन। अतः सर्वेषां ज्ञानानां प्रामाण्यं स्वतः, अप्रामाण्यं तु परत इति। एतदप्रामाण्यमपि न धर्म्यंशे, किंतु धर्मांशे। 'इदं रजतम्' इत्यत्र इदमंशे न भ्रान्तिः। किंतु तत्प्रकारांशे। प्रकारश्च द्वेधा—स्वरूपनिरूपकः, निरूपितस्वरूपविशेषकश्चेति। 'इदं रजतम्'इत्यत्राद्यम्, 'पीतः शङ्खः' इत्यत्रान्त्यमिति विवेकः। स्वयमेव स्वस्य प्रकाशकं कथं भवेदिति शङ्कायां दृष्टान्तप्रदर्शनेन समाधत्ते—स्वान्येति। दीपो यथा स्वान्यद्वस्तु प्रकाशयन् स्वात्मानमपि प्रकाशयति तथा ज्ञानमपि स्वेतरत् गृह्णत् स्वात्मानमपि गृह्णातीत्यर्थः। यदाहुः—"ग्राह्यत्वं ग्राहकत्वं च द्वे शक्ते तेजसो यथा" इति ॥ ४ ॥

रामानुजवेदान्त में धर्मभूतज्ञान स्वप्रकाश और स्वतःप्रमाण होता है। जैसे दीपक अपने को तथा अपने से अन्य पदार्थों को प्रकाशित करता है वैसे

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

ही धर्मभूतज्ञान स्वयं का तथा स्वभिन्न अन्य पदार्थों का अनुभव करता है- यही इसकी स्वप्रकाशता है ॥४ ॥

तमोविशेषसांनिध्याज्ज्ञानं स्वापे तिरोहितम् ।
द्रव्यत्वमस्य ज्ञानस्य प्रभावद्गुणतापि च ॥ ५ ॥

यदि ज्ञानं नित्यं स्वयंप्रकाशं च तदा तस्य सदातनत्वात् सर्वदापि भासेत; कुतः स्वापादौ न भासत इत्याशङ्कायामाह—तमोविशेषेति । अतिशयिततमोगुणेनावरणात् स्वापादौ न प्रकाशते । तमोऽपगमे च भासत इत्यर्थः । एतच्च स्वापे ज्ञानं न भासत इति सिद्धान्तपक्षमङ्गीकृत्य । केचित्तु तदाप्यान्तरवस्त्ववगाहि स्फुरणमस्त्येव । बहिर्विषयावगाहि ज्ञानं परं नास्तीति वदन्ति । संकोचविकासरूपविकारभागित्वात् सिद्धं ज्ञानद्रव्यत्वं धर्मभूतत्वेऽपि न विहन्यत इत्याह—द्रव्यत्वमिति । न हि परेषामिवस्माकं मते गुणत्वं द्रव्यत्वविरोधि, मणिद्युमण्यादिप्रभायामुभयोरपि दृष्टत्वात् । नन्वेवं परस्परव्यधिकरणयोः धर्मयोरेकत्र समावेशात्सांकर्यप्रसङ्गः । द्रव्यत्वं विहाय गुणत्वं रूपादौ,गुणत्वं विहाय द्रव्यत्वं घटादौ । उभयोर्धर्मभूतज्ञाने समावेशादिति चेत्, नैवम् । सांकर्यं हि जातित्वे बाधकमिति परेषां मतम् । न वयं जातिमेवाभ्युपगच्छाम इति ॥ ५ ॥

यद्यपि धर्मभूतज्ञान नित्य और स्वप्रकाश है, तथापि यह तमोगुणविशेष के सान्निध्य से स्वाप = स्वप्न या निद्रा अवस्था में तिरोहित हो जाता है । यह ज्ञान सूर्य और उसके प्रकाश के समान द्रव्य है साथ ही गुण भी है ॥५ ॥

धीभेदाः सुखदुःखेच्छाद्वेषयत्ना न ते पृथक् ।
द्वेष्मीच्छामीति वादस्तु स्मरामीत्यादिवन्मतः ॥ ६ ॥

पराभिमतानां सुखदुःखेच्छादीनां पार्थक्यमाशङ्क्य समाधत्ते—धीभेदा इति । एवं च न तेषां पृथक् पदार्थगणनावसर इति भावः । यदि सुखादयो धीभेदाः, तदा कथं द्वेष्मीत्यनुभव इत्यत्राह—द्वेष्मीति । यथा स्मृतेः धीरूपत्वेऽपि स्मरामीत्यनुभवो लोकसिद्धः, तथा प्रकृतेऽपीति भावः ॥ ६ ॥

CC0. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आदि ज्ञान के ही भेद हैं, इससे पृथक् नहीं हैं। 'मैं द्वेष करता हूँ', 'मैं इच्छा करता हूँ'- इत्यादि प्रयोग 'मैं स्मरण करता हूँ' इत्यादि जैसे माने गये हैं ॥६ ॥

स्मृत्यादयो ज्ञानभेदा अनन्ता जीववृत्तयः ।
ज्ञानशक्त्योर्विततयोऽनन्ताश्च भगवद्गुणाः ॥ ७ ॥

ते च धीभेदा अनन्ता इत्याह—स्मृत्यादय इति । व्यवसायमोहरत्यादय आदिपदार्थः । एते च जीवधर्माः । अथेश्वरधर्मानाह—ज्ञानेति । ज्ञानविततयः सौशील्यवात्सल्यादयः । शक्तिविततयः स्थैर्यशौर्यादय इति विवेकः ॥ ७ ॥

यो स्मृति, व्यवसाय, मोह, रति आदि ज्ञान के भेद, जो कि जीववृत्ति, जीव के धर्म हैं, अनन्त हैं । भगवान् के अनन्त गुण उनके ज्ञान और शक्ति के विस्तृत रूप हैं; ज्ञान के विस्तृत रूप सौशील्य, वात्सल्य आदि हैं, इसी प्रकार शक्ति के विस्तृत रूप स्थैर्य, शौर्य आदि हैं ॥ ७ ॥

गद्यत्रये महाचार्यैरयमर्थ उदीरितः ।
तत्तत्स्वरूपविज्ञानं तद्भाष्येणावगम्यते ॥ ८ ॥

धीविततिभूतानाममीषां विस्तरजिज्ञासून् प्रत्याह—गद्यत्रयेति । पृथुगद्य-श्रीरङ्गगद्यवैकुण्ठगद्याख्यगद्यत्रयग्रन्थ इत्यर्थः । महाचार्यैः, श्रीवैष्णवसंप्रदायकुलगुरुभिर्भगवद्रामानुजमुनिभिः । अयमर्थः—ज्ञानशक्तिविततिभूता भगवद्गुणा इति विषयः । उदीरितः, विस्पष्टं प्रपञ्चितः । तत्तस्वरूपेति; सौशील्यवात्सल्यादिगुणस्वरूपेत्यर्थः । तद्भाष्येण गद्यत्रयभाष्येण श्रीवेदान्तदेशिकविरचितेन रहस्यरक्षाख्येन । महतो मन्दैः सह नीरन्ध्रेण संश्लेषः सौशील्यम् । स्वरक्षणीयतयाभिमतेषु दोषतिरस्कारिणी प्रीतिर्वात्सल्यमित्यादिरीत्येति भावः ॥ ८ ॥

उक्त पदार्थ महाचार्य रामानुज के 'गद्यत्रय' में कहे गये हैं । अतएव तद्-तद् गुणों का स्वरूप 'गद्यत्रय' के वेदान्तदेशिककृत 'रहस्यरक्षा' नामक भाष्य में कहा गया है वहाँ द्रष्टव्य है ॥८ ॥

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

भक्तिप्रपत्तिसुप्रीत ईश्वरो मुक्तिदायकः।
अतो भक्तिप्रपत्ती हि मुक्तौ परमकारणम्॥ ९॥

अथ मोक्षकारणमाह—भक्तीति। "स्नेहपूर्वमनुसन्धानं भक्तिरित्यभिधीयते" इत्यादिलक्षिता महनीयविषये निरतिशयप्रीतिरूपा भक्तिरत्र विवक्षिता। प्रपत्तिः, शरणागतिः;

"अनन्यसाध्ये स्वाभीष्टे महाविश्वासपूर्वकम्।
तदेकोपायता याच्ञा प्रपत्तिः शरणागतिः॥"

इत्यादिलक्षणलक्षिता। एते भक्तिप्रपत्ती एव मोक्षसाधिके, नान्यत्किंचिदित्याहाहिर्बुध्नियसंहितायां भगवान्,

"भक्त्या परमया वापि प्रपत्त्या वा महामते।
प्राप्योहं नान्यथा प्राप्यो मम कैंकर्यलिप्सुभिः॥"

इति। तदाह सुप्रीत ईश्वरो मुक्तिदायक इति। अनेन भक्तिप्रपत्त्योरपि व्याजमात्रत्वमेव। सुप्रसन्नो भगवानेक एव मोक्षसाधनमिति परमसिद्धान्तत्वमुक्तं भवति। मुक्तौ परमकारणमिति; भगवत्प्रसादजननद्वारा मुख्यकारणमित्यर्थः। एतेन तत्त्वमस्यादिमहावाक्यार्थज्ञानमेव मोक्षसाधनमिति परेषां मतं न सम्यगित्युक्तं भवति। तादृशवाक्यार्थज्ञाने सत्यपि मोक्षादृष्टेः श्रवणमननादिभिर्निर्धूतद्वैतवासनस्य शास्त्रजन्यः साक्षात्कारस्तथेत्यपि न सम्यक्। अन्योन्याश्रयबाधाददुष्टत्वात्॥ ९॥

भगवान् सर्वेश्वर भक्त की भक्ति और प्रपत्ति से सुप्रसन्न होकर उसको मुक्ति प्रदान करते हैं, अतः भक्ति और प्रपत्ति ही मुक्ति का परम कारण है॥९॥

कर्मयोगज्ञानयोगौ भक्तौ[1] साधनमूचिरे।
फलाभिसंधिर्रहितं कर्माराधनमीशितुः॥ १०॥

तर्हि कर्मयोगज्ञानयोगयोर्भगवदुपदिष्टयोः क उपयोग इत्याकाङ्क्षायामाह—कर्मेति। कर्मयोगज्ञानयोगयोर्भक्तियोगाङ्गत्त्वेन तत्र कीर्तनमित्यर्थः। तदुक्तं यामुनाचार्यैः;

---

१. भक्ति C

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

"मध्यमे भगवत्तत्त्वयाथात्म्यावाप्तिसिद्धये ।
ज्ञानकर्माभिनिर्वर्त्यो भक्तियोगः प्रकीर्तितः ॥"

इति । कर्मयोगलक्षणमाह—फलेति । फलकामनारहितमीशितुरीश्वरस्य परमपुरुषस्याराधनं कर्म कर्मयोग इत्युच्यत इत्यर्थः । तत्स्वरूपं च निगमितं गीतार्थसंग्रहरक्षायां वेदान्तदेशिकैः, "स्वकीयेनात्मना कर्त्रा स्वकीयैश्चोपकरणैः स्वाराधनैकप्रयोजनाय परमपुरुषः सर्वशेषी सर्वेश्वरः स्वयमेव स्वकर्माणि कारयति" इति । "कर्मयोगस्तपस्तीर्थदानयज्ञादिसेवनम्" इति च श्रीयामुनाचार्येण तन्निदर्शितम् । । १० ॥

कर्मयोग और ज्ञानयोग भक्तियोग के साधन कहे गए हैं। फलकामनारहित, ईश्वर का कर्माराधन कर्मयोग कहा जाता है ॥१० ॥

विनिर्मलान्तःकरणे चिन्तनं ज्ञानयोगकः ।
साक्षादितरथा वापि भक्तौ कारणतानयोः ॥ ११ ॥

ज्ञानयोगं लक्षयति—विनिर्मलेति । कर्मयोगपरिशीलनेन विमले अन्तःकरणे परिशुद्धस्वात्मस्वरूपस्य यच्चिन्तनं स ज्ञानयोग इत्यर्थः । तदुक्तं यामुनाचार्यैः,"ज्ञानयोगो जितस्वान्तैः परिशुद्धात्मनि स्थितिः" इति । एवं च ज्ञानयोगो नाम परिशुद्धजीवात्मोपासनामिति स्थितम् । कर्मज्ञानयोगयोर्भक्तियोगे इतिकर्तव्यतामाह—साक्षादिति । अनयोः; कर्मज्ञानयोगयोः । साक्षात्; इतराव्यवधानेन, कर्मयोगस्य ज्ञानयोगाव्यवधानेनेत्यर्थः । इतरथा वा व्यवधानेन वा ज्ञानयोगव्यवधानेन वा ज्ञानयोगस्य तु योगान्तराव्यवधानेन भक्तियोगे कारणत्वमित्यर्थः । अयमत्राशयः—भक्तियोगात्पूर्वमात्मावलोकनमपेक्षितम् । तच्च कर्मयोगस्यात्मतत्त्वज्ञानपूर्वकत्वात् तत्रात्मतत्त्वज्ञानपौष्कल्यतारतम्येन मध्ये ज्ञानयोगव्यवधानमन्तरापि क्वचिद्भवति । क्वचित्तु ज्ञानयोगद्वारेति ॥ ११ ॥

कर्मयोग के परिशीलन से हुए विमल अन्तःकरण में परिशुद्ध आत्मस्वरूप का जो चिन्तन किया जाता है वह ज्ञानयोग कहलाता है । कर्मयोग और ज्ञानयोग-ये दोनों योग प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से भक्तियोग के साधन या कारण कहे गये हैं ॥११ ॥

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

भक्तियोगोऽयमष्टाङ्गोऽविच्छिन्ना स्मृतिसंततिः ।
विवेकादिभिरुत्पाद्या दर्शनाकारतां गता ॥ १२ ॥

अनन्तरं भक्तियोगं लक्षयति—भक्तियोग इति । अष्टाङ्गः, यमनियमाद्यष्टाङ्गयुक्तः । तैलधारावदविच्छिन्नप्रसरा विवेकविमोकाभ्यासक्रियाकल्याणानवसादानुद्धर्षरूपसहकारिकलापात्परिपोष्य दर्शनसमानाकारतां प्रापिता स्मृतिसंततिरेव भक्तियोग इत्यर्थः । वस्तुनः संततमव्यग्रमनसा चिन्तने तदेव वस्तु प्रत्यक्षदृष्टमिव भवतीत्यनुभवसिद्धम् ॥ १२ ॥

यमादि अष्टांग से युक्त, तैलधारावत् अविच्छिन्न, विवेकादि से परिपोष्य, साक्षात् दर्शनाकारता को प्राप्त स्मृतिसंसृति = सतत भगवद्-चिन्तन ही भक्तियोग कहलाता है ॥१२॥

तत्तच्छरीरावसानसमये परिणामिनी ।
सेयं साधनभक्तिः स्यात्प्रपत्त्यङ्गवती मता ॥ १३ ॥

स च भक्तियोगः तत्तच्छरीरावसानसमय एव परिपाकावस्थामुपेत्य साधकस्य संसिद्धा भवति । अतः सः शरीरावसानपर्यन्तमनुष्ठेयः । तथा च श्रुतिः; "स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते" इति, "प्रायणान्तमोंकारमभिध्यायीत" इति च । सूत्रकारोऽपि, "आ प्रायणात्तत्रापि हि दृष्टम्" इत्याह । इयं पूर्वमुपवर्णिता साधनभक्तिरित्युच्यते । सा च प्रपत्यङ्गवती भवति । भक्तियोगविनिष्पत्तये भगवन्तमुद्दिश्य प्रपत्तिस्तदङ्गतया कर्तव्या । तेन च प्रसन्नो भगवान् प्रत्यूहान् निरस्य भक्तियोगं यथावत्परिपूर्णं करोति । तदाह भगवान्—

"दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥"

इति । एवं च प्रपत्तिर्द्विधा—अङ्गप्रपत्तिः, अङ्गिप्रपत्तिश्चेति । भक्तियोगाङ्गतयानुष्ठिता अङ्गप्रपत्तिः, भक्तियोगानाधिकारिभिः स्वतन्त्रतयानुष्ठिता अङ्गिप्रपत्तिरिति विवेकः । तथा च अङ्गतया वा अङ्गितया वा यथाकथंचिद्भगवन्तं प्रपद्यैव मोक्षः प्राप्यः, नान्यथेत्युक्तं भवति । तथाचाह वेदान्ततत्त्वासारवर्षुको वेदान्तदेशिकः, "प्रपन्नादन्येषां न दिशति मुकुन्दो निजपदम्" इति ॥ १३ ॥

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

यह भक्तियोग देहावसान के समय ही परिपाकावस्था को प्राप्त हो साधक को संसिद्ध होता है अत: यह शरीरावसानपर्यन्त अनुष्ठेय है। इसको **साधन भक्ति** कहते हैं, प्रपत्ति इसका अङ्ग होती है ॥१३ ॥

फलभक्तिस्तु भगवदनुग्रहकृता भवेत्।
अत एव हरिः साक्षात्सिद्धोपायत्वमश्नुते ॥ १४ ॥

एवं भक्तियोगरूपां साधनभक्तिमुपपाद्य प्रपत्तियोगरूपां साध्यभक्तिमाह—फलभक्तिस्त्विति। भगवदनुग्रहेति;

"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥"

"जायमानं हि पुरुषं यं पश्येन्मधुसूदनः।
सात्त्विकः स तु विज्ञेयः स वै मोक्षार्थचिन्तकः।"

इत्यादि श्रुतिस्मृतिभिः यस्मिन् भगवदनुग्रहो भवति, स एव साध्यभक्तौ प्रवर्तते नान्य इत्यर्थः। अनेन प्रपन्नेषु भगवदनुग्रहपौष्कल्यमुक्तं भवति। साध्यभक्तेः प्राशस्त्यमप्यन्यत्रोपवर्णितम्, "साध्यभक्तिस्तु सा हन्त्री प्रारब्धस्यापि भूयसी" इति। अत एव; प्रपन्नानामनन्यगतिकतया भगवत्कृपैकावलम्बितयैव। हरिः साक्षात् अव्यवधानेन सिद्धोपायो भवति। एतदुक्तं भवति उपायो द्विविधः— साध्योपायः, सिद्धोपायश्चेति। भक्तिप्रपत्ती साध्योपायौ। भगवान् सिद्धोपायः। भक्तिप्रपत्ती तु तत्प्रसादनैकपर्यवसायिन्याविति ॥ १४ ॥

फलभक्ति तो भगवदनुग्रह से ही प्राप्त होती है अतएव हरि सर्वशेषी सर्वेश्वर साक्षात् और सिद्ध उपाय कहे जाते हैं ॥१४ ॥

अन्तरादित्यविद्यादिभेदात्सा बहुधा मता।
सर्वापि ब्रह्मविद्येयं ब्रह्मप्राप्त्युपयोगिनी ॥ १५ ॥

भक्तियोगप्रसङ्गात् तत्संगतब्रह्मविद्याभेदानाह—अन्तरादित्येति। आदिपदात् दहरभूमन्यासविद्यादयो गृह्यन्ते। ताश्च विद्यास्त्रयस्त्रिंशदिति प्रायोवादः। वासुदेवादिव्यूहोपासनान्यपि गृह्यन्ते। तदाह—बहुधेति। सर्वापीयं ब्रह्मविद्या

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

ब्रह्मप्राप्तावुपकरोति। अनेन न्यासविद्याया ब्रह्मविद्यात्वे संदिहानान् परान् प्रति तस्या विद्यान्तरसाम्यं प्रदर्शितं भवति। यदाहुः,

"यद्वा शब्दादिभेदादिति तु कथयता सूत्रकारेण सम्यङ्
न्यासोपासे विभक्ते यजनहवनवच्छब्दभेदादभाक्तात्।

आख्यारूपादिभेदः श्रुत इतरसमः किंच भिन्नोऽधिकारः
शीघ्रप्राप्त्यादिभिः स्याज्जगुरिति च मधूपासनादौ व्यवस्थाम्॥"

इति॥ १५॥

भक्तियोगप्रसङ्गात् तत्संगत **ब्रह्मविद्या** अन्तरादित्यविद्या, न्यासविद्या आदि भेद से बहुत प्रकार की कही गई है। ये सभी ब्रह्मविद्याएँ ब्रह्मप्राप्ति में परम उपयोगी होती हैं॥१५॥

न्यासविद्या प्रपत्तिः स्यादङ्गपञ्चकयोगिनी।
आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्॥ १६॥

रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा।
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये अङ्गपञ्चकमीरितम्॥ १७॥

एवं सामान्यतो ब्रह्मविद्या उपवर्ण्य न्यासविद्यायां विशेषमाह—न्यासविद्येति। प्रपत्तिरेव न्यास इत्युच्यते। "तस्मान्न्यासमेषां तपसामतिरिक्तमाहुः" इत्यादिश्रुतौ न्यासपदेन प्रपत्तिरेवोच्यते। उपासना यथा चाष्टाङ्गो योगः, तथा न्यासः पञ्चाङ्गो योग इत्युच्यते। तानि च पञ्चाङ्गानि लक्ष्मीतन्त्रोदितान्याह—आनुकूल्यस्येति। आनुकूल्यसंकल्पः, प्रातिकूल्यवर्जनम्, महाविश्वासः, गोप्तृत्ववरणम्, कार्पण्यमिति पञ्चाङ्गानि। आत्मनिक्षेपोऽङ्गी। एवं चाङ्गिना सह न्यासः षोढा परिगण्यते। यथा ध्यानेनाङ्गिना सहाष्टाङ्गो योग इति परिगणनम्। आनुकूल्यसंकल्पादीनां स्वरूपमुक्तं लक्ष्मीतन्त्रे—

"आनुकूल्यमिति प्रोक्तं सर्वभूतानुकूलता।
तथैव प्रातिकूल्यं च भूतेषु परिवर्जयेत्॥

त्यागो गर्वस्य कार्पण्यं श्रुतशीलादिजन्मनः।
अङ्गसामग्र्यसंपत्तेरशक्तेरपि कर्मणाम्॥

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

अधिकारस्य चासिद्धेर्देशकालगुणक्षयात् ।
उपाया नैव सिध्यन्ति ह्यपायबहुलास्तथा ॥

इति या गर्वहानिस्तद्दैन्यं कार्पण्यमुच्यते ।
शक्तेः सूपसदत्वाच्च कृपायोगाच्च शाश्वतात् ॥

ईशेशितव्यसंबन्धादनिदंप्रथमादपि ।
रक्षिष्यत्यनुकूलान्न इति या सुदृढा मतिः ॥

स विश्वासो भवेच्छक्र सर्वदुष्कृतनाशनः ।
करुणावानपि व्यक्तं शक्तः स्वाम्यपि देहिनाम् ॥

अप्रार्थितो न गोपायेदिति तत्प्रार्थना मतिः ।
गोपायिता भवेत्येवं गोप्तृत्ववरणं स्मृतम् ॥

तेन संरक्ष्यमाणस्य फले स्वाम्यवियुक्तता ।
केशवार्पणपर्यन्ता ह्यात्मनिक्षेप उच्यते ॥

निक्षेपापरपर्यायो न्यासः पञ्चाङ्गसंयुतः ।
संन्यासस्त्याग इत्युक्तः शरणागतिरित्यपि ॥"

इति ।

न्यासविद्या प्रपत्ति ही है । इसके पांच अङ्ग हैं- आनुकूल्यसंकल्प, प्रातिकूल्यवर्जन, रक्षिष्यतीति-महाविश्वास, गोप्तत्वरण और कार्पण्य । आत्मनिक्षेप अङ्गी है अतएव अङ्गी सहित पांच अङ्ग कहे गये हैं, फलतः न्यासविद्या छः अङ्गों वाली भी कहलाती है ॥१६-१७ ॥

गुरूपसदनादेषा विज्ञातव्या मनीषिभिः ।
इयमुत्तरपूर्वाघाश्लेषनाशकृदुच्यते ॥ १८ ॥

न्यासविद्यास्वरूपं तन्महिमा तदधिकार इत्यादिकं सर्वं गुरुमुखादवगन्तव्यमित्याह—गुरूपसदनादिति । मनीषिभिरित्यनेन सारासारविवेकज्ञानानामेवात्र प्रवृत्तिः संभवति, नान्येषां कौतस्कुतानामिति व्यञ्जितम् । भक्तियोगादस्य न्यासस्य वैशिष्ट्यमाह—इयमिति । उत्तराघाश्लेषः पूर्वाघनाशश्च न्यासमहिम्ना संभवतीत्यर्थः । तत्र भक्तियोगनिष्ठस्य प्रारब्धेतरपूर्वाघमेव नश्येत् प्रारब्धं तु भोगैकप्रणा-

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

श्यम्। प्रपन्नविषये तु प्रारब्धमपि यथाभिलषितं सद्य एव प्रणश्यतीति विशेषः। तथोक्तम्—

"साधनं भगवत्प्राप्तौ स एवेति स्थिरा मतिः।
साध्यभक्तिस्तथा सैव प्रपत्तिरिति गीयते॥

उपायो भक्तिरेवेति तत्प्राप्तौ या तु सा मतिः।
उपायभक्तिरेतस्याः पूर्वोक्तैव गरीयसी॥

उपायभक्तिः प्रारब्धव्यतिरिक्ताघनाशनी।
साध्यभक्तिस्तु सा हन्त्री प्रारब्धस्यापि भूयसी।"

इति।

यह न्यासविद्या मनीषियों को गुरु के चरणों में बैठकर ही जाननी चाहिए। यह कहा जाता है कि यह विद्या = प्रपत्ति पूर्व पापों का विनाश करती है और उत्तर पापों से दूर रखती है॥१८॥

अपचारान्विना ब्रह्मविदां नास्या विरोधकृत्।
अन्योऽस्तीति महाचार्यशासनं व्यवसीयते॥ १९॥

प्रपन्नस्य मुक्तिप्राप्तौ न कोऽपि विघातको विना ब्रह्मविदपचारमित्याह—अपचारान्विनेति। ब्रह्मविदां भागवतानामपचारान् विना अस्याः प्रपत्तेः फलजनने न कोऽपि विरोधकृदिति महतामाचार्याणां शासनं निश्चीयते॥ १९॥

महान् आचार्यों का यह व्यवसाय = निर्णय है कि 'ब्रह्मवेत्ताओं = भागवतों के अपचारों के विना इस प्रपत्ति की फलोत्पत्ति में कोई अन्य विरोध करने वाला नहीं है'। भाव यह है कि प्रपन्न भक्तों की मुक्तिप्राप्ति में उनके अपचारों के अतिरिक्त अन्य कोई भी विघातक नहीं होता है॥१९॥

इति वेदान्तकारिकावल्यां धर्मभूतज्ञाननिरूपणं सप्तमं प्रकरणम्।

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

८. जीवनिरूपणम्

अणुत्वे सति चैतन्यं जीवलक्षणमुच्यते।
स च देहेन्द्रियादिभ्यो विलक्षणतया मतः ॥ १ ॥

अथ क्रमप्राप्तं जीवनिरूपणमारभते—अणुत्व इति। अणुत्वमल्पपरिमाणवत्त्वम्। चैतन्यं ज्ञानाश्रयत्वम्। आभ्यां विशेषणाभ्यां क्रमेण ईश्वरस्य घटादेश्च व्यावृत्तिः। जीवस्याणुत्वं च श्रुत्यदिप्रमाणसिद्धम्। तथाच श्रूयते—"एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः"

"वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ॥"

इति। सूत्रकारोऽपि "उत्क्रान्तिगत्यागत्यादीनाम्" इति सूत्रयंस्तस्याणुत्वं प्रसाधयति। एतेन जीवविभुत्ववादनिरासः। तथा तस्य ज्ञातृत्वमपि श्रूयते—"यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा" "जानात्येवायं पुरुषः" "न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते"इत्यादि। सूत्रकारश्च "ज्ञोऽत एव" इति वदन् ज्ञातृत्वं तस्य प्रसाधयति। एतेन केवलज्ञप्तेरात्मत्ववादनिरासः। स च जीवो देहेन्द्रियादिभ्योऽन्यः, तेषां ज्ञातृत्वाद्ययोगात् ॥ १ ॥

अणुत्व और चैतन्य संयुक्तरूपेण जीव का लक्षण अभिलक्षित करते हैं अर्थात् जीव अणु और चैतन्यस्वरूप है। जीव देह, इन्द्रियों से सर्वथा भिन्न है ॥१ ॥

जीवस्यानेकविषयानुभवोऽणोरपि स्मृतः[१]।
यद्धर्मभूतविज्ञानव्याप्तिस्तत्रोपयोगिनी ॥ २ ॥

ननु जीवस्याणुत्वे कथं तस्य युगपदनेकविषयानुभवसंभवः? सुगन्धि चन्दनं हि नरो युगपदेव चक्षुभ्यां पश्यति। घ्राणेन जिघ्रति। हस्तेन स्पृशति। तदा च तद्गतरूपादीनुलभत इत्याशङ्क्य समाधत्ते—जीवस्येति। अणोरपि जीवस्य युग-

१. स्फुटः B.

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

पदनेकविषयानुभवः स्मृतः। यतस्तत्र धर्मभूतज्ञानस्य बहुत्र व्याप्तिरुपयोगिनी। तदाह "गुणाद्वा लोकवत्" इति। आत्माणुरपि स्वगुणेन ज्ञानेन सकलं देहं व्याप्यावतिष्ठते। यथा मणेरेकदेशवर्तिनोऽप्यालोकोऽनेकदेशव्यापी, तद्वत् हृदयकुहरान्तःस्थस्याप्यात्मनो ज्ञानं सकलं देहं व्याप्य वर्तत इति सूत्रार्थः॥ २॥

जीव यद्यपि अणुरूप है, फिर भी वह युगपद् अनेक विषयों का अनुभव करता है। इसमें उस जीव के धर्मभूतज्ञान की व्याप्ति ही उपयोगी होती है॥२॥

पूर्वानुभूतविषयप्रतिसंधानयोगतः।
नित्यः प्रतिशरीरं स भिन्नो भोक्त्रादिशब्दितः[1]॥ ३॥

अथ तस्य नित्यत्वं प्रसाधयति—पूर्वेति। पूर्वमनुभूतो यो विषयः देवदत्तादिः, तत्प्रतिसंधानयोगान्नित्य इत्यर्थः। उपदेशेभ्यो वत्सरेभ्यः पूर्वं काश्यां दृष्टस्य देवदत्तस्य संप्रति मद्रपुर्यां पुनर्दर्शने 'सोऽयं देवदत्तः' इति प्रतिसंधानं जायते। यद्यात्मा न नित्यःस्यात्, तदा तन्नोपपद्येत। अन्येन दृष्टस्यान्येन प्रतिसंधानं हि न संघटते। एतेन क्षणिकात्मवादो निरस्तः। जीवश्च प्रतिशरीरं भिन्नः। स्मृत्यनुभवादीनां व्यवस्था हि तदैव संगच्छते। यद्येक एवात्मा नानादेहेष्वभविष्यत् तदा येन पूर्वं घटो दृष्टः तस्यैव स्मृतिरुदेति नान्यस्येति व्यवस्था नाघटिष्यत। तदाह—"नानात्मानो व्यवस्थातः" इति। सांख्या अप्याहुः—

"जननमरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव॥"

इति। अनेनैकजीववादो निरस्तः। तथा तत्रैव विशेषान्तरमाह—भोक्त्रादीति। "भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा" "एष हि द्रष्टा श्रोता" इत्यादौ जीवस्य भोक्तृत्वं कण्ठोक्तमिति भावः। अनेन प्राकृतस्यान्तःकरणस्यैव भोक्तृत्वादि, नात्मन इति वादो निरस्तः॥ ३॥

---

१. शब्दतः B.

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

जीव पूर्वानुभूत विषयों के प्रतिसंधान = प्रत्यभिज्ञान के योग से नित्य कहा जाता है। जीव प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न होता है और वह भोक्ता आदि शब्दों से कहा जाता है ॥३ ॥

प्रकृत्यपेक्षया देही देहः श्रीमदपेक्षया।
तस्य स्वयंप्रकाशत्वं प्रत्यक्षश्रुतिबोधितम्[1] ॥ ४ ॥

अथ सिद्धान्तिनां प्रतितन्त्रसिद्धान्तभूतं शरीरशरीरिभावमाह—प्रकृतीति। प्राकृतस्वदेहापेक्ष्यायं देही, तज्जन्यसुखदुःखादिभोगवान्। श्रीमन्तं भगवन्तमन्तर्यामिणमपेक्ष्यायं देहो भवति, तन्नियाम्यत्वतदाधारत्वादिशरीरलक्षणैर्लक्षितत्वात्। एवं च यथैकस्यैव देवदत्तस्य स्वपितरं प्रति पुत्रत्वं स्वपुत्रं प्रति पितृत्वं च न विरुध्यते, तथैकस्यैव जीवस्य स्वदेहं प्रति शरीरित्वमीश्वरं प्रति शरीरत्वं च न विरुध्यत इति भावः। स चायं जीवः स्वयंप्रकाशः, अनन्याधीनप्रकाश इत्यर्थः। स्वगोचरज्ञानान्तरमनपेक्ष्यापि स्वयमेव प्रकाशत इति यावत्। ननु तथा सति स किं सर्वदा भासते? ओमिति ब्रूमः। सुषुप्तावपि हिं'अहमहम्' इत्यात्मनः प्रतिभासः सर्वानुभवसिद्धः। कथं तर्हि सुप्तोत्थितस्य 'न किंचिद वेदिषम्' इति प्रतिसंधानमिति चेत्, बाह्यवस्तुविशेषावेदनादिति वेदितव्यम्। नन्वात्मापि नित्यः सर्वदा संनिहितः, ज्ञानमपि विभु नित्यं चाभ्युपगतम्; तथापि कुतः सुषुप्तौ बाह्यवास्त्ववेदनमिति चेत्, कथं वा जागरेऽपि सर्ववस्त्वग्रहणमिति पृच्छामः। यदीन्द्रियव्यापाराभावादिति, तदात्रापि तथेति तुल्यः समाधिः। जागरे कतिपयबाह्यवस्तुग्रहणम्। सुषुप्तौ तु तदपि नास्तीति परं विशेषः। ननु किमनेन प्रयासशतोपपादनीयेन जीवस्वयंप्रकाशत्वेन? तदेव- मास्त्वित्यत्राह—प्रत्यक्षश्रुतिबोधितमिति। "अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति" इत्यादिप्रत्यक्षश्रुत्यवगतमित्यर्थः ॥ ४ ॥

वह जीव प्रकृति की अपेक्षा से देही = शरीरी तथा श्रीपति भगवान् की अपेक्षा से देह = शरीर कहा जाता है। वह जीव स्वयंप्रकाश है- ऐसा प्रत्यक्ष श्रुतियों से ज्ञात है ॥४ ॥

---

१. चेदितम् B.

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

देशान्तरफलादीनामुपलब्धिरणोरपि ।
[1]कर्मजन्याददृष्टाप्यविज्ञानादिति संजगुः ॥ ५ ॥

ननु कथं तर्हि सौभरिप्रभृतीनामनेकशरीरपरिग्रहेण भिन्नभिन्नदेशेषु सुखाद्युपलम्भः; आत्मना ह्यणुनैकस्मिन्नेव शरीरे संनिहितेन भाव्यम्, न सर्वत्र; शरीरान्तरेष्वात्माभावे च कथं तत्रत्यसुखाद्युपलम्भसंभव इत्यत्राह—देशान्तरेति । उपलब्धिः; अनुभवः । कर्मजन्यात् अदृष्टप्राप्याच्च विज्ञानादिति शब्दार्थः । अयं भावः—यद्यप्यणोर्जीवस्य नानाशरीरसंबन्धो न संभवति, तथापि तद्धर्मभूतस्य ज्ञानस्य विभुनस्तावत्पर्यन्तप्रसरात् तत्संबन्धोऽस्तीति तत्रत्यसुखोपलब्धिसंभवः । कथं तर्हि सर्वेषां पुंसां न तथा प्रसर इति चेत्, अदृष्टविशेषाभावादित्युच्यते । अदृष्टं चास्माकं मत ईश्वरप्रीत्याद्यात्मकमेव । तच्चादृष्टं तत्तत्पुरुषीयकर्मविशेषतारतम्याधीनमिति नातिप्रसङ्ग इति ॥ ५ ॥

जीव यद्यपि अणु है, फिर भी वह भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न विषयों का एक साथ अनुभव करता है, इस विशेष अनुभव में उसका कर्मजन्य और अदृष्ट-प्राप्य धर्मभूतज्ञान कारण होता है- ऐसा विद्वान् कहते हैं ॥५ ॥

बद्धो मुक्तो नित्य इति जीवः स त्रिविधो मतः ।
ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्ता[2] बद्धाः संसारयोगिनः ॥ ६ ॥

बद्धो मुक्त इत्यादि निगदव्याख्यातम् । स्तम्बः सूक्ष्मः कीटविशेषः ॥ ६ ॥

वह जीव तीन प्रकार का होता है- बद्ध, मुक्त और नित्य । ब्रह्मा से लेकर कीट तक संसार से संयुक्त बद्ध जीव होते हैं ॥६ ॥

त्रैवर्गिकार्थनिष्णाता बुभुक्षव[3] उदाहृताः ।
अर्थकामपरास्तत्र स्वदेहात्माभिमानिनः[4] ॥ ७ ॥

---

१. कर्मजन्याददृष्टाख्य A.D.
२. कीटपर्यन्ता A.D.
३. बुभुत्सवः A.D.
४. अभिमानकाः B.

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

बुभुक्षुमुमुक्षुभेदेन बद्धजीवानां द्वैविध्यमभिप्रेत्यादौ बुभुक्षून् निरूपयति—त्रैवर्गिकेति। धर्मार्थकामास्त्रिवर्गः; तद्रूपेऽर्थ विषये निष्णातास्तत्परा बुभुक्षव इत्यर्थः। ते च द्विधा—अर्थकामपराः, धर्मपराश्चेति। ये स्वदेहे प्राकृतदेह एवात्माभिमानेन ऐहिकसुखाभिलाषेण तदुपभोगसाधनशरीरपोषणायार्थान् कामांस्वाभिलषन्ति ते अर्थकामपराः ॥ ७ ॥

बुभुक्षु और मुमुक्षु भेद से बद्ध जीव दो प्रकार के होते हैं। धर्म, अर्थ और काम-त्रिवर्गरूप विषयों में जो निष्णात = तत्पर होते हैं वे **बुभुक्षु** कहे जाते हैं। बुभुक्षु दो प्रकार के होते हैं- अर्थकामपर और धर्मपर। इनमें जो स्वदेह= प्राकृत देह में ही आत्माभिमान करके ऐहिक सुख की अभिलाषा से उसके उपभोग के साधन शरीर के पोषण के लिए अर्थ और काम की अभिलाषा करते हैं वे **अर्थकामपर** होते हैं ॥७ ॥

ते तु धर्मपरास्तत्र यागाद्यर्थानुषङ्गिणः।
धर्मस्त्वलौकिकश्रेयःसाधनं चोदनोदितम् ॥ ८ ॥

धर्मपरानाह—ते त्विति। ये तु देहातिरिक्तात्मनोऽलौकिकपारत्रिकश्रेयस्कामास्तत्साधनानि यागादिकर्माण्यारचयन्ति ते धर्मपरा इत्यर्थः। प्रसङ्गात् धर्मलक्षणमाह—धर्मस्त्विति। अत्र "चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः" इति जैमिनीयं सूत्रं विवक्षितम्। चोदनोदितमित्यनेन चोदनालक्षण इति, अलौकिकश्रेयःसाधनमित्यनेनार्थ इति च पदं विवृतं भवति ॥ ८ ॥

जो तो यागादि कर्मों का आचरण करते हैं वे **धर्मपर** कहलाते हैं। **धर्म** वह है जो प्रेरणादायी विधि-वाक्य द्वारा प्रतिपादित होता है और अलौकिक श्रेयस् का साधन कहलाता है ॥८ ॥

रुद्राद्याराधनपरा अन्यदेवपरा मताः।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थीत्येवं भगवताः स्मृताः ॥ ९ ॥

धर्मपरेष्वेव देवतान्तरपरत्वेन भगवत्परत्वेन च द्वैविध्यमभिप्रयन्नाद्यानाह—रुद्रेत्यादि। रुद्रादीन् देवान् भगवच्छरीरत्वेन स्वातन्त्र्येण वाभिमत्य ये आराधयन्ति, ते देवतान्तरपराः। भगवत्परानाह—आर्त इति। आर्तः; अनुभूतभ्रष्टै-

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

श्वर्यकामः। अर्थार्थी; अननुभूतापूर्वैश्वर्यकामः। उभयोरेतयोरैश्वर्यार्थित्वाविशेषेऽपि मुखभेदेन पृथगुक्तिः। जिज्ञासुः; प्रकृतिवियुक्तात्मस्वरूपानुभवेच्छुः। ज्ञानमेवास्य स्वरूपमिति तदिच्छोर्जिज्ञासुत्वम्। एते सर्वेऽपि स्वस्वाभिलषितसिद्ध्यर्थं देवतान्तरपरित्यागेन भगवदेकध्यानपरा इति तेषां भागवतत्वम्। अत्र

"चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥"

इति भगवद्गीतावचनमनुसंधेयम्। तत्र हि देवतान्तरपरित्यागेन भगवत्परा हि सुकृतिन उक्ताः।

अन्य देवपर और विष्णुपर भेद से धर्मपर जीव दो प्रकार के होते हैं। जो रुद्र आदि देवताओं की आराधना करते हैं वे **अन्य देवपर** होते हैं, किन्तु जो मात्र भगवान् विष्णु की भक्ति करती है वे **विष्णुपर** अथवा भागवत कहलाते हैं। भागवत तीन प्रकार के होते हैं- आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी॥९॥

मुमुक्षूणां च कैवल्यपराणां लक्ष्म कथ्यते।
प्रकृतेस्तु वियुक्तस्य स्वात्मनोऽनुभवः परम्॥ १०॥

अत्र केचित् सिद्धान्त्येकदेशिनो मुमुक्षून् परममुक्तिपरत्वेन कैवल्याख्यमुक्तिपरत्वेन च द्वेधा विभज्य वर्णयन्ति। तन्न युक्तमित्यभिप्रयंस्तान् प्रत्येकं लक्षयितुमुपक्रमते—मुमुक्षूणामिति। प्रथमं सूचीकटाहन्यायेन कैवल्यपरानाह—कैवल्यपराणामिति। प्रकृतेः सकाशात् विमुक्तस्यस्वात्मनोऽनुभवपराणामित्यर्थः। केवलस्य इतरसंसर्गरहितस्य भावो हि कैवल्यम्। प्रकृतिवियुक्तस्वात्मानुभवपरः केवल इति फलितम्॥ १०॥

कैवल्यपर और मोक्षपर भेद से मुमुक्षु जीव दो प्रकार के होते हैं। कैवल्यपर मुमुक्षु जीवों का लक्षण कहते हैं- प्रकृति से वियुक्त, मात्र स्वात्मानुभव में लीन **कैवल्यपर** मुमुक्षु होता है॥१०॥

कैवल्यमर्चिर्मार्गेण गत्वापि परमं पदम्।
रमणत्यक्तपत्नीवत् क्वचित्कोणेऽवतिष्ठते॥ ११॥

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

कैवल्यमिति पूर्वेणान्वेति। ते च केवलाः केन मार्गेण प्राकृतलोकान्निर्गच्छन्ति ? कुत्र स्थित्वा स्वात्मानमनुभवन्तीत्यत्राह—अर्चिर्मार्गेणेति । अर्चिरादिमार्गेण गत्वा परमपदं प्राप्नुवन्ति। परं तु परमपदं प्राप्तानां परब्रह्मानुभवस्य शास्त्रसिद्धत्वात् तद्विधुरास्ते परमपद एव कुत्रचित्कोणे लब्धास्पदा यथा पतिपरित्यक्ताः साध्व्यः पातिव्रत्यमनुपालयन्त्यः पतिसांनिध्यानन्दानुभवं विहायावतिष्ठन्ते, तथैतेऽपि परब्रह्मानन्दानुभवं विना वर्तन्त इत्यर्थः ॥ ११ ॥

कैवल्यपर जीव अर्चिमार्ग से परम पद पाकर भी किसी कोने में अवस्थित रहता है जैसे पतिपरित्यक्ता साध्वी पातिव्रत्य धर्म का पालन करती हुई पतिसान्निध्य सुख को छोड़कर दिन व्यतीत करती है। भाव है कि यह जीव परब्रह्मानन्द के अनुभव के विना ही अवस्थित रहता है ॥११ ॥

कैवल्यमेतत्केषांचिदार्याणामेव संमतम्।
अस्मदार्यास्तु[1] कैवल्यं न मन्यन्त इति स्थितम्[2] ।१२।

एष च कैवल्याख्यो मोक्षः परमसिद्धान्तिनामनभिमतमित्याह—कैवल्यमिति। अर्चिरादिमार्गेण परमपदं प्राप्तस्य परब्रह्मानन्दानुभवस्यावश्यंभावित्वात् तत्र तद्वैधुर्येण स्वात्ममात्रानुभवः सुतारामसंभावितः। "सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह। ब्रह्मणा विपश्चिता" इति हि श्रूयते। तत्र काम्यन्त इति कामा इति व्युत्पत्त्या कामपदेनानन्दादयो ब्रह्मगुणा उच्यन्ते। अतः कैवल्याख्यो मोक्षो नास्तीत्यर्थः। यदि परेषां जीवन्मुक्तव्यवहारवत् मुक्तिकल्पतया तत्र गौणो मुक्तिव्यवहारस्तदा कामं व्यवह्रियताम्। ननु केवलात्मोपासकानां तत्क्रतुनयात् स्वात्मानुभव एव फलं भवितुमर्हति; ते च केन मार्गेण निर्गच्छन्ति ? कुत्र वावस्थितिस्तेषामितिचेत्, येन केनापि मार्गेण निर्गच्छन्तु। यत्र कुत्र वा प्रकृतिमण्डल एव तिष्ठन्तु। न त्वर्चिरादिना निर्गमः, न वा परमपदावस्थितिस्तेषामिति सिद्धान्तः ॥ १२ ॥

अतएव हमारे कुछ आचार्यों को ही यह कैवल्य-स्थिति स्वीकार्य है, हमारे गुरुजन कैवल्य को मुक्ति नहीं मानते हैं- यह भाव है ॥१२ ॥

---

१. आद्यास्तु A.D.
२. स्फुटम् C.D.

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

[1]भक्ताः पूर्वोक्तभक्त्यैव मुक्तिसंप्राप्त्यपेक्षिणः ।
अपशूद्रनये भक्तौ शूद्रानधिकृतिः स्फुटा ॥ १३ ॥

अथ मोक्षपरानाह—भक्ता इति । पूर्वोक्तेति; धर्मभूतज्ञाननिरूपणप्रकरणोक्तरीत्येत्यर्थः । ये भक्तियोगेन मोक्षं प्राप्तुमिच्छन्ति ते भक्ताः । तत्र च भक्तियोगे त्रैवर्णिकानामेवाधिकारः, तस्य वैदिकमन्त्रकरणकत्वात् । न शूद्रस्य, तस्य वैदिकमन्त्रानधिकृतत्वात् । किंच भक्तियोगे हि वर्णाश्रमधर्मा इतिकर्तव्यतामापद्यन्ते । तदाह—"विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि" इति । आश्रमविधुराणामाश्रमकर्मप्रसक्त्यभावात् अङ्गाधिकाराभावात् नाङ्गिन्यधिकारः । एष च विषयो भगवद्भाष्यकारैर्निर्णीत इत्याह—अपशूद्रनय इति । प्रथमाध्यायतृतीयपादस्य नवमाधिकरण इत्यर्थः ॥१३ ॥

भक्त और प्रपन्न भेद से मोक्षपर मुमुक्षु जीव दो प्रकार के होते हैं। जो पूर्वोक्त भक्तियोग मात्र से ही मोक्षप्राप्ति की इच्छा करते हैं वे भक्त कहलाते हैं। ब्रह्मसूत्र के अपशूद्राधिकरण के अनुसार शूद्र भक्तियोग के अधिकारी नहीं है- यह स्पष्ट है ॥१३ ॥

साध्यसाधनभक्तिभ्यां भक्ताः स्युर्द्विविधा मताः ।
पराङ्कुशादिकानाद्यान् व्यासादीनपरान् विदुः ॥ १४ ॥

तत्र भक्तानां द्वैविध्यमाह—साध्येति । भक्तिर्द्विधा—साध्यभक्तिः, साधनभक्तिश्चेति । यत्रावस्थायां परिनिष्पन्नभक्तियोगैर्भगवदनुध्यानं स्वयंप्रयोजनतया परमस्वादुतया च निरन्तरमनुष्ठीयते, साधनं तु भगवानेवेति सुदृढो विश्वासः सा साध्यभक्तिः । प्रपत्तिरपि तथा गीयते । यदाहुः—

"साधनं भगवत्प्राप्तौ स एवेति स्थिरा मतिः ।
साध्यभक्तिस्तथा सैवप्रपत्तिरिति गीयते ॥

उपायो भक्तिरेवेति तत्प्राप्तौ या तु सा मतिः ।
उपायभक्तिरेतस्याः पूर्वोक्तैव गरीयसी ॥"

इति । पराङ्कुशपरकालादयः साध्यभक्तिनिष्ठाः । ते हि परिनिष्पन्नपरभक्तियोगाः परमभक्तिमास्थिताः स्वयंप्रयोजनतया समाधिपरा भगवदनुभवैकपरा अवर्तन्त ।

---

१. शक्ताः B.

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

साधनभक्तिनिष्ठाः पराशरपाराशर्यादयः। ते हि यमनियमाद्यष्टाङ्गयोगनिरता आसन्। व्युत्थानकाले च शास्त्राणि प्राणैषुरिति विद्मः।

स्यादेतत्। भक्तियोगे त्रैवर्णिकानामेवाधिकार इति पूर्वस्मिन् श्लोके निर्णीतम्। अस्मिन श्लोके तु पराङ्कुशादयः साध्यभक्तिनिष्ठा इत्युच्यते। पराङ्कुशो हि तुरीयवर्णजन्मेति वदन्ति। तत्कथमिदं संगच्छतामित चेत्, अत्रेदं तत्त्वम्— नित्यसूरिष्वन्यतमावतारभूतः पराङ्कुशो न प्राकृतचतुर्थवर्णजतुल्यतया मन्तव्यः। स हि भगवद्भक्तिमहिमानं भगवदनुभवरसास्वादतत्त्वं च लोकानवबोधयितुं भूमावततीर्य परमभक्तिमन्वतिष्ठत्। नित्यसूरयोऽपि हि "तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते" इति श्रुत्या "बद्धाञ्जलिपुटा हृष्टाः" इत्यादिस्मृत्या च भगवद्ध्यानपरा इत्यवगम्यते। नित्यसूरित्वावस्थायां या भक्तिरनुष्ठिता, सैव पराङ्कुशावतारावस्थायामप्यन्वर्ततेति न किंचिदनुपपन्नम्। अन्यथा रामकृष्णाद्यात्मना क्षत्रियवंशेऽवतीर्णस्य भगवतो विष्णोर्ब्राह्मणोत्तमैर्महर्षिभिर्वन्द्यत्वं कथमिति पर्यनुयोगे किमुत्तरम्? किंच सर्वत्र भक्तियोगप्रारम्भ एव हि त्रैवर्णिकाधिकारनियमः। न तु तस्य साधितस्यानुवृत्तिदशायामपि। परिनिष्पन्नभक्तेरपि प्रारब्धकर्मवशात् तत्तद्देहावाप्तिवर्जनीया। तदात्वे च भगवदनुभवरूपफलभक्तेरनुवृत्तौ को निर्बन्धः? को वा वारयिता भवतुमर्हति? लोकोत्तरव्यक्तिविशेषभूततन्निदर्शनेन पामरेष्वन्यत्राप्यतिशङ्कामापाद्य वर्णाश्रमधर्मसंकरकरणे समुद्यमस्तु न केवलं स्वस्य, किंतु सर्वस्यापि लोकस्य महतेऽर्थायेति विभावनीयम्॥ १४॥

साध्यभक्ति और साधनभक्ति भेद से भक्त दो प्रकार के कहे गये हैं- साध्यभक्तिनिष्ठ और साधनभक्तिनिष्ठ। इनमें पराङ्कुश, परकाल आदि **साध्यभक्तिनिष्ठ** भक्त हैं तथा व्यासादि **साधनभक्तिनिष्ठ** भक्त कहे जाते हैं॥१४॥

मुमुक्षवः प्रपन्नाश्चाकिंचन्यादिकयोगिनः।
त्रैवर्गिकपरा मोक्षपराश्चेति च ते द्विधा॥ १५॥

तत्र साध्यभक्तिपरेषु मुमुक्षुषु विशेषमाह—मुमुक्षव इति। त एव प्रपन्ना इत्युच्यन्ते। ते च प्रपत्त्यङ्गभूताकिंचन्याद्यङ्गपञ्चकयोगिनः। प्रपन्नेष्वेव द्वैविध्यमाह—त्रैवर्गिकेति। धर्मार्थकामाख्यत्रिवर्गपराः, मोक्षपराश्चेति ते द्विधा भवन्ति॥ १५॥

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

मुमुक्षुओं के अन्तर्गत मोक्षपर जीवों में जो अकिंचन आदि पांच अङ्गों वाले प्रपत्तियोग से युक्त होते हैं वे प्रपन्न कहलाते हैं। त्रैवर्गिकपर = धर्म-अर्थ-काम-त्रिवर्गपर और मोक्षपर भेद से प्रपन्न दो प्रकारके होते हैं ॥१५॥

धर्मार्थकामान् स्वाम्यर्थं येऽन्वतिष्ठंस्त आदिमाः।
सत्सङ्गादर्थवैराग्ये मुमुक्षायां कृतादराः॥ १६॥

तत्र त्रिवर्गपरानाह—धर्मेति। स्वामिप्रतिमेकामेव फलमुद्दिश्य तत्साधनतया धर्मार्थकामान् भगवत्प्रपदनेन ये संपादयन्ति ते त्रिवर्गपरा इत्यर्थः। कर्मयोगिनः स्वयमेव धर्मार्थकामान् संपाद्य तैर्भगवन्तमारिराधयिषन्ति। त्रिवर्गपराः प्रपन्नास्तु तान् स्वयमेव संपादयितुमशक्नुवन्तस्तदर्थं भगवन्तं प्रपद्य तत्प्रसादेन तान् लब्ध्वा तैर्भगवदाराधनपरा इति विशेषः। मोक्षपरप्रपन्नाह—सत्सङ्गादिति। अर्थवैराग्य इत्यनेन तन्मूलधर्मकामवैराग्यमपि विवक्षितम्। धर्मपदेनात्र न नित्यनैमित्तिकर्माणि; किंतु तदतिरिक्तानि तपस्तीर्थदानयज्ञादीनि विवक्षितानि। अतो न नित्यनैमित्तिककर्मप्रहाणं प्रपन्नानामनुमन्यते। धर्मार्थकामवैराग्येण मोक्ष एव येषां त्वरातिशयः, तेऽत्र मोक्षपराः॥ १६॥

जो स्वामिप्रीतिमात्र को फल समझकर उनकी ही शरण आकर उनकी ही कृपा से धर्म, अर्थ और काम को प्राप्त करके उन्हीं त्रिवर्ग से भगवान् सर्वेश्वर की आराधना करते हैं वे त्रैवर्गिकपर प्रपन्न कहलाते हैं। जो सत्सङ्ग के कारण अर्थवैराग्य-तन्मूलधर्मकामवैराग्य में तथा मुमुक्षा में आदर रखते हैं वे मोक्षपर प्रपन्न कहे जाते हैं। मोक्षपर प्रपन्न वे होते हैं जिनका धर्म, अर्थ और काम के प्रति वैराग्य से मोक्ष ही त्वरातिशय होता है ॥१६॥

[१]भगवद्भोगसंप्राप्त्यै महाचार्यं समाश्रिताः।
असामर्थ्येन भक्त्यादौ प्रपत्त्येकाश्रयाः परे॥ १७॥

किंच भगवत्स्वरूपरूपगुणाद्यनुभवसंपादनाय सदाचार्यमुपसद्य तदपदिष्टभगवत्स्वरूपगुणविभवादयस्तादृशमनवधिकातिशयानन्दमयं भगवन्तं लब्धुं भक्तिरूपे साधनान्तरे स्वासामर्थ्येन ये भगवत्प्रपत्तिमेव साधनतयावलम्बन्ते ते मोक्षपराः प्रपन्ना इत्यर्थः॥ १७॥

---

१. भगवदनुबोध B.

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

इसके अतिरिक्त भगवद्योग = भगवान् के रूप, गुण आदि के अनुभव की प्राप्ति हेतु महाचार्य = सदाचार्य-सद्गुरु की शरण ग्रहण कर उनके द्वारा उपदिष्ट भक्ति आदि साधन में अपनी असामर्थ्य के कारण जो भगवत्प्रपत्ति का ही साधनरूप से अवलम्बन करते हैं वे **मोक्षपर** प्रपन्न होते हैं- यह अर्थ है ॥१७ ॥

[1]सर्वाधिकारितां धीराः प्रपत्तेराचचक्षिरे ।
एकान्तिनः फलं मुक्त्या सहान्यद्य उशन्ति ते ॥ १८ ॥

भक्त्यपेक्षया प्रपत्तेर्विशेषमाह—सर्वेति । धीराः धीमन्तो मनीषिणः;प्रपत्तिः सर्वाधिकारा सर्वेषामपि वर्णानां तथा देवमनुजपशुपक्ष्यादिरूपाणां सर्वेषां प्राणिनामाधिकर्तुं योग्येत्याचक्षते । पुनश्च प्रपन्ना द्विधा—एकान्तिनः परमैकान्तिनश्चेति । तत्राद्यानाह—एकान्तिन इति । ये मोक्षेण सहान्यत् धनधान्यादिकं फलमिच्छन्तः प्रपत्तिमनुतिष्ठन्ति त एकान्तिन इत्यर्थः । चतुर्वर्गफलेच्छया ये देवतान्तरं परित्यज्य भगवन्तमेव प्रपद्यन्ते त इत्यर्थः । एकस्मिन् भगवत्येवान्तः फलप्रदत्वेन निश्चयो येषां त एकान्तिनः ।

"येत्वन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ।
लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान् ॥"

इति भगवद्वचनानुसंधानेन भगवानेक एव सकलफलप्रदानसमर्थ इति निश्चयवन्त इत्यर्थः ॥ १८ ॥

विद्वान् प्रपत्ति के लिए सभी को अधिकारी कहते हैं । सभी वर्ण तथा देव-मनुष्य, पशु-पक्षी आदिरूप सभी प्राणी प्रपत्ति के लिए अधिकारी होते हैं- यह अर्थ है । पुनः, एकान्ती और परम-एकान्ती भेद से प्रपन्न दो प्रकार के होते हैं । जो मोक्ष के साथ अन्य धन-धान्यादिरूप फल की इच्छा करते हुए भगवत्प्रपत्ति का अनुष्ठान करते हैं वे **एकान्ती** प्रपन्न कहलाते हैं ॥१८ ॥

---

१. सर्वाधिकारतां B.

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

परमैकान्तिनस्त्वैच्छन् भगवत्प्रीतिमेव[1] ये।
प्रारब्धं कर्म भुक्त्वैव यो मोक्षमभिकाङ्क्षति ॥ १९ ॥
दृप्त आर्तस्तु संसारे वह्नाविव समुत्तपन्।
प्रपत्त्यनन्तरे काले यो मोक्षमभिकाङ्क्षति ॥ २० ॥

अथ परमैकान्तिन आह—परमेति। ये भगवत्प्रीतिमेकामेव फलतयोद्दिश्य भगवन्तं प्रपद्यन्ते, ते परमैकान्तिन इत्यर्थः। परमे सर्वोत्कृष्टे भगवत्प्रीतिरूपे फल एवैको मुख्योऽन्तो निश्चयो येषां ते परमैकान्तिनः। ते किल परब्रह्मानन्दानुभवरूपं मोक्षमपि फलतया नोद्दिशन्ति। किंतु भगवत्प्रीतिमेकामेव। अथ दृप्तार्तभेदेन तेषां द्वैविध्यमभिप्रेत्याद्यानाह—प्रारब्धमिति।

"दह्यमानेन्धनान्तःस्थो विष्फुरन्निव कीटकः।
अलब्धनिर्गमस्तिष्ठन्मध्ये मरणजन्मनोः ॥"

इत्युक्तरीत्या वह्नितप्तः कीट इव नितरां संतप्यमानमानसाः प्रपदनसमये प्रारब्धकर्मणामपि विनाशपूर्वकं सद्यो मुक्तिमभिलषन्तो ये प्रपद्यन्ते ते आर्तप्रपन्नाः। किंचित्कालपर्यन्तं प्रारब्धकर्मफलभोगमभ्युपगम्य तद्देहावसानसमय एव ये मुक्तिमभिलषन्ति ते दृप्तप्रपन्ना इत्युच्यन्त इति भावः ॥ १९-२० ॥

जो भगवत्प्रीति की ही इच्छा करते हुए भगवत्प्रपत्ति करते हैं वे **परम-एकान्ती** कहे जाते हैं।अथवा, परम = सर्वोत्कृष्ट भगवत्प्रीतिरूप फल में ही एक = मुख्य अन्त = निश्चय जिनका होता है वे **परम-एकान्ती** कहलाते हैं। वे परब्रह्मानन्दानुभवरूप मोक्ष भी नहीं चाहते हैं। दृप्त और आर्त भेद से परम-एकान्ती दो प्रकार के होते हैं। उनमें जो प्रारब्ध कर्म भोगकर ही मोक्ष की आकांक्षा करता है वह **दृप्त** कहलाता है। किन्तु जो अग्नि में तप्त कीट के समान संसाराग्नि में संतप्त होकर प्रपत्तिसमय में प्रारब्ध कर्म के भी विनाशपूर्वक सद्योमुक्ति की अभिलाषा करता है वह **आर्त** होता है ॥१९-२० ॥

---

१. भगवद्भक्तिमेव D.

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

सत्सङ्गादिति सुश्लोकद्वयोक्तगतिमान्नरः[1] ।
आविर्भूतस्वस्वरूपो मुक्तो ब्रह्मानुभूतिभाक्[2] । २१ ॥

सत्सङ्गादिति । इदमत्र श्लोकद्वयम्—

"सत्सङ्गाद्भवनिःस्पृहो गुरुमुखाच्छ्रीशं प्रपद्यात्मवान्
प्रारब्धं परिभुज्य कर्मशकलं प्रक्षीणकर्मान्तरः ।
न्यासादेव निरङ्कुशेश्वरदयानिर्लूनमायान्वयो
हार्दानुग्रहलब्धमध्यधमनिद्वाराद्बहिर्निर्गतः ॥

मुक्तोऽर्चिर्दिनपूर्वपक्षषडुदङ्मासाब्दवातांशुमद्-
ग्लौविद्युद्वरुणेन्द्रधातृमहितः सीमान्तसिन्ध्वापलुतः ।
श्रीवैकुण्ठमुपेत्य नित्यमजडं तस्मिन् परब्रह्मणः
सायुज्यं समवाप्य नन्दति समं तेनैव धन्यः पुमान् ॥"

इति । अनेन मार्गेण गच्छन् नरः स्वयंप्रकाशरूपं स्वस्वरूपं प्राप्य ब्रह्मानुभवन् भवतीत्यर्थः । अत्राविर्भूतपदेन जीवस्य मुक्तौ नाभूतपूर्वं स्वरूपमुत्पद्यते । किंतु स्वाभाविकमपि मध्ये कर्मणा तिरोहितं स्वरूपमाविर्भवति । तदाह श्रुतिः—"परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" इति । सूत्रकारश्चाह—संपद्याविर्भावः स्वेन शब्दात्"इति ॥ २१ ॥

'सत्सङ्गाद्भवनिःस्पृहो-----' इत्यादि सुश्लोकद्वय में उक्त गति = मार्ग पर चलने वाला पुरुष स्वयंप्रकाशरूप स्वस्वरूप को प्राप्त कर ब्रह्मानुभूति का अनुभव करता है अतएव मुक्त हो जाता है ॥२१ ॥

मुक्तस्य भोगमात्रे तु साम्यं श्रुतिषु चोदितम् ।
स्वेच्छया सर्वलोकेषु संचारोऽस्य न रुध्यते ॥ २२ ॥

मुक्तौ ब्रह्मणा सहाभेदं जीवस्य केचिदाचक्षते । तन्निरासार्थं तत्र तस्यावस्थामाह—मुक्तस्येति । "निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" इत्यादिश्रुतिषु मुक्तस्येश्वरेण सह परमसाम्यमुच्यते । तच्च साम्यं भेदगर्भमिति नाभेदवर्णनं युक्तम् । किंतु भगवत्स्वरूपगुणाद्यनुभवे भगवता सहात्यन्तसाम्यं मुक्तस्य । यदाह श्रुति—

१. परः A.B.
२. मान् B.

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

"सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह । ब्रह्मणा विपश्चिता" इति । अत्र ब्रह्मणा सहेति सहयोगे तृतीया । न प्रकृत्यादित्वादभेदे, अनन्वयात् । सूत्रकारोऽपि, "भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च" इत्याह । अस्य मुक्तस्य स्वेच्छया सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति । तत्र न कोऽपि प्रतिबन्धः । तथा च श्रूयते—"सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति" इमान् लोकान् कामान्नी कामरूप्यनुसंचरन्" इत्यादि ॥ २२ ॥

श्रुतियों में मुक्त-जीव की ब्रह्मानुभूति मात्र में मुक्त का ईश्वर के साथ परम साम्य कहा गया है, अभेद नहीं । यह मुक्त स्वेच्छा से सभी लोकों में संचरण करता है, इसमें उसके लिए कोई भी प्रतिबन्ध नहीं है ॥२२ ॥

स्वेच्छा च [1]हरिसंकल्पायत्ता मुक्तस्य लभ्यते[2] ।
अनावर्तनशास्त्रं तु [3]कर्मावर्तनिषेधकृत् ॥ २३ ॥

ननु भगवत्पारतन्त्र्यैकस्वरूपस्य मुक्तस्य कथं स्वेच्छया संचार इत्यत्राह—स्वेच्छा चेति । अयंमुक्तः स्वेच्छया संचरतामिति भगवतः संकल्पः । तमनुरुध्य प्रवर्तमानस्यास्य न भगवत्पारतन्त्र्यहानिः । तथाचास्य स्वेच्छाचारोऽपि भगवदधीन इति तादधीन्यं न व्याहन्यत इति भावः । ननु तर्हि यदि मुक्तः स्वेच्छया प्राकृतलोके संचरति, तदा तस्य परमपदादावृत्तिरेव फलति । मुकतस्य पुनरावृत्तिश्च "इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते" "ब्रह्मलोकमभिसंपद्य न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते" इत्यादिश्रुतिभिः "अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्" इत्यादिस्मृतिभिश्च निषिध्यते । तत्कथमित्यत्राह—अनावर्तनेति । आवृत्तिनिषेधः सर्वोऽपि कर्मनिबन्धनावृत्तिनिषेधपरः, न तु सर्वकर्मविनिर्मुक्तस्य स्वेच्छानिमित्तवृत्तिनिषेधपर इति भावः ॥ २३ ॥

मुक्त-जीव की स्वेच्छा हरिसंकल्प के आयत्त =आधीन होती है । 'अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्' इत्यादि अनावर्तन शास्त्र तो कर्मनिबन्धनावृत्तिनिषेधपरक है, न कि सर्वकर्मविनिर्मुक्त की स्वेच्छानिमित्तावृत्तिनिषेधपरक है ॥२३ ॥

---

१. सादि A.D.
२. दृश्यते A.
३. कर्मायत्त D.

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

नित्यासंकुचितज्ञाना नित्यं भगवदाज्ञया।
तत्कैकंर्यरता[1] नित्या अनन्तगरुडादयः ॥ २४ ॥

स्वेच्छावतीर्णान् कांश्चिन्निदर्शयिष्यन् प्रथमं तेषां नित्यत्वमाह— नित्येति। नित्यानामनन्तगरुडविष्वक्सेनादीनां ज्ञानं नित्यमसंकुचितप्रसरं भवति। तथा ते भगवदाज्ञानुसारेण नित्यभगवत्कैंकर्यरता भवन्ति। एतेन तेषां नित्यत्वं न केवलं. स्वरूपेण, स्वरूपनित्यत्वस्य बद्धमुक्तनित्यसाधारण्यात्; किंतु गुणतः क्रियया च। बद्धमुक्तयोस्तु गुणक्रिये न नित्यप्रसरे, बद्धदशायां प्रतिबद्धत्वादिति भावः ॥ २४ ॥

अनन्त, गरुड आदि नित्य जीव नित्य, असंकुचित-ज्ञान से युक्त होते हैं, वे भगवान् की आज्ञानुसार नित्य भगवान् की सेवा में रत रहते हैं ॥२४ ॥

एतेषामवतारादिरिच्छयैव हरेरिव[2]।
आधिकारिकतामीषामीश्वरेण निरूपिता[3] ॥ २५ ॥

अनन्तगरुडादयस्तत्तद्दिव्यसूर्यात्मना तत्तदाचार्यात्मना चावतीर्णा दृश्यन्ते। तेष्ववतारेषु भगवदिच्छैव नियामिका। तथाच ते भगवदिच्छानुगुणमाचार्यरूपेणावतीर्य धर्मसंस्थापनमाचरन्त आधिकारिकव्यपदेशं कंचित्कालमवाप्यानन्तरं यथापूर्वं परमपदमारोहन्ति ॥ २५ ॥

इन नित्य-जीवों के अवतार आदि हरि की इच्छा पर ही आश्रित होते हैं। इनके अधिकार और शक्तियां ईश्वर के द्वारा ही निश्चित की जाती है ॥२५ ॥

इति वेदान्तकारिकावल्यां जीवस्वरूपनिरूपणमष्टमं प्रकरणम्।

---

१. कराः B.

२. इह B.

३. नियन्त्रिता C.D.

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

९. ईश्वरनिरूपणम्

स्वेतराखिलशेषित्वमीश्वरस्य तु लक्षणम्।
स सूक्ष्मचिदचिन्मिश्रो विश्वोपादानकारणम्॥ १ ॥

अथेश्वरो निरूप्यते—स्वेतरेति। स्वस्मादितराणि यान्यखिलानि वस्तूनि चेतनाचेतनात्मकानि, तेषां सर्वेषामपि विषये शेषित्वमीश्वरस्य लक्षणम्। स चेश्वरो विश्वस्य प्रपञ्चस्योपादानकारणं भवति। ननु तर्हि घटोपादानस्य मृद इव सविकारत्वं प्रसज्येतेत्यत्राह—सूक्ष्मेति। ब्रह्मणो विश्वोपादानत्वं न निष्कृष्टस्वरूपस्य। किंतु चिदचिद्विशिष्टस्यैवेति तदात्वे तस्य सविकारत्वमिष्टमेव। विकारनिषेधपराणि वचनानि तु विशेष्यभूतब्रह्मविषयकाणीति भावः। अयमत्राशयः—अवस्थान्तरयोगित्वमुपादानत्वम्। अवस्थायोगित्वं च साक्षात्परंपरासाधारणम्। मृदादेः साक्षादवस्थान्तरयोगः। ब्रह्मणस्तु स्वप्रकारभूतचेतनाचेतनद्वारा। सूक्ष्मचेतनाचेतनविशिष्टं ब्रह्म जगदुपादानम्। तत्राचेतनांशे साक्षादवस्थान्तरयोगः चेतनांशे तु स संकोचविकासयोगितदीयज्ञानद्वारा। एतदुभयपरंपरया स ब्रह्मणीति ब्रह्मोपादानं भवति। परैरपि निर्विशेषब्रह्मणो जगदुपादानत्वमेतादृश्यैव रीत्या समर्थ्यते। ते किलैवमाहुः—अविद्योपहितं ब्रह्म जगदुपादानम्। तत्राविद्यांश एव वस्तुत उपादानत्वम्। तदुपहितब्रह्मांशे तु पारंपरिकस्तद्व्यपदेशः। तथा च श्रुतिः, "मायां तु प्रकृतिं विद्यात्" इति। ब्रह्मोपाधिभूतां मायामेव प्रकृतिमुपादानकारणं विद्यादिति तदर्थः। प्रकृतिशब्दश्चोपादानपरः प्रसिद्धः—"प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्" इत्यादाविति। वाचस्पतिमिश्राश्चाविद्यासंवलितस्यैव ब्रह्मण उपादानत्वमाहुः—

"अनिर्वाच्याविद्याद्वितयसचिवस्य प्रभवतो
विवर्ता यस्यैते वियदनिलतेजोऽबवनयः॥"

इति। ननु यद्यचेतनगतमवस्थान्तरयोगित्वमवलम्ब्य तद्विशिष्टे ब्रह्मण्युपादानत्वं परंपरया साध्यते, तदा मृद्गतमवस्थान्तरयोगित्वमवलम्ब्य तद्विशिष्टे कुलालेऽपि घटोपादानत्वव्यवहारः कुतो नेष्यत इति चेत्, अपृथक्सिद्धिसंबन्धेन तद्वैशिष्ट्यस्य विवक्षितत्वादिति ब्रूमः। कुलालश्च नापृथक्सिद्धिसंबन्धेन मृद्विशिष्टः॥ १ ॥

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

स्वेतर = अपने से भिन्न जो चेतन और अचेतन रूप सम्पूर्ण जगत् है उसका शेषीरूप ईश्वर का लक्षण है। वह ईश्वर सूक्ष्म चित् और अचित् से विशिष्ट है, वही सम्पूर्ण विश्व = प्रपञ्च का उपादान कारण है ॥१ ॥

[१]संकल्पयुक्त एवैष निमित्तं कारणं मतम्।
कालाद्यन्तर्यामितया सहकारि च कारणम्॥ २॥

अथेश्वरस्य निमित्तकारणतामाह—संकल्पेति। सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टत्वरूपेणोपादानत्ववत् "बहु स्यां प्रजायेय" इति बहुभवनसंकल्पविशिष्टत्वरूपेण निमित्तकारणत्वमपि तस्यैत्यर्थः। एवं ब्रह्मणोऽभिन्ननिमित्तोपादानत्वमुक्तं भवति। उपादाननिमित्तयोर्भेदावश्यंभावसाधकान्यनुमानादिप्रमाणानि त्वीश्वरधर्मिग्राहकप्रमाणविरोधादनादरणीयानि। ब्रह्मण एव सहकारिकारणत्वमप्याह—कालेत्यादि। कार्यसामान्यं प्रति कालस्य सहकारिकारणत्वमभ्युपेतं सर्वैरपि। तादृशकालाद्यन्तर्यामितया ब्रह्मणोऽपि सहकारिकारणत्वमिष्टमेवेति भावः। असमवायिकारणं तु नैयायिकपरिभाषितं नास्माकमिष्टम्, कल्पनागौरवादिति भावः॥ २॥

वही ईश्वर बहुभवन-संकल्पविशिष्ट होने से निमित्त कारण है तथा कालादि में अन्तर्यामीरूप होने से सहकारी कारण है ॥२ ॥

कार्यरूपेण वैविध्ययोग्युपादानमुच्यते।
परिणामयितृत्वेन निमित्तमपि तन्मतम्॥ ३॥

पूर्वव्याख्यातमेवोपादानत्वादिकं लक्षयति—कार्येति। वैविध्यमवस्थान्तरम्। परिणामयितृत्वं कार्यरूपेण परिणामस्य प्रयोजकत्वम्॥ ३॥

जो कार्यरूप से विविध अवस्थाओं में परिणत होता है वह उपादान-कारण कहा जाता है। जो कार्यरूप में विविध अवस्थाओं को परिणत करता है वह निमित्त-कारण होता है ॥३ ॥

१. संकल्पयुक् स एवैष A.B.

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

कार्योत्पत्त्युपकारेण सहकारि च तद्भवेत्।
एकविज्ञानसहितसर्वविज्ञानवादतः ॥ ४ ॥
उपादानत्वमेवोक्तं मृदादाविव चेश्वरे।
तदैक्षतेति संकल्पान्निमित्तत्वं कुलालवत् ॥ ५ ॥

कार्योत्पत्तौ यदुपकरोति तत्सहकारिकारणं भवति; यथा घटोत्पत्तौ दण्डादिर्नैयायिकानाम्। तत्रोपादानत्वसाधकं प्रमाणमाह—एकेति। श्रुतौ, "आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते इदं सर्वं विदितम्" इति ब्रह्मविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञायते। स च प्रतिज्ञावादो जगद्ब्रह्मणोरुपादानोपादेयभावादनन्यत्व एव संभवति, नान्यथा। अतो ब्रह्मणा उदानत्वमेष्टव्यमिति भावः। तदेवाह—उपादानत्वमिति। उक्तमित्यनेन ब्रह्मण उपादानत्वं नास्माभिः कल्पनीयम्। किंतु श्रुत्यैव कण्ठरवेणोक्तप्रायमित्यर्थः। "यथा मृत्पिण्डेन"इत्यादि श्रुतिमभिसंधायाह—मृदादाविवेति। आदिपदेन लोहमणिनखकृन्तनादिग्रहणम्। निमित्तत्वमुपपादयति—तदैक्षतेति। यथा कुलालस्य घटकरणसंकल्पादिना निमित्तत्वं तद्वत् ब्रह्मणोऽपि बहुभवनसंकल्पादिना निमित्तत्वमित्यर्थः ॥ ४-५ ॥

कार्योत्पत्ति में जो उपकार या सहायता करता है वह **सहकारी-कारण** होता है। सिद्धान्त है कि 'एक ब्रह्म के ज्ञान से सभी वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है'। इस मत के अनुसार मृत्तिका आदि के समान ईश्वर उपादान कारण है। 'तदैक्षत' इत्यादि श्रुतिवाक्यों में ईश्वर का संकल्प कथित है, उसके कारण कुम्भकार के समान ईश्वर निमित्त कारण भी है ॥४-५ ॥

सहकारित्वमप्यस्यान्तर्यामिब्राह्मणोदितम्।
सद्ब्रह्मात्मादयः शब्दाः कारणत्वावबोधिनः ॥ ६ ॥

सहकारित्वमाह—सहेति। अन्तर्यामीति। "यः पृथिवीमन्तरो यमयति" इत्यादिश्रुत्युदितमित्यर्थः। ननु सर्वेश्वरस्यापि भगवतो हरेर्जगदुपादानत्वमप्रामाणिकम्। श्रुत्यादिप्रमाणानि हि सदादीनामेवोपादानत्वं कथयन्ति, न तु हरेः। तथा हि—"सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" इति सत्प्रस्तुत्य,"तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय" इति तस्यैव संकल्पपूर्वकबहुभवनम् "अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" इति नामरूपभाक्त्वं च श्रूयते। तथान्यत्र, "ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्" इति

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

ब्रह्म प्रस्तुत्य, तस्यैव "तदेतद् ब्रह्म क्षत्रं विट् शूद्रः" इत्यादिना ब्रह्मक्षत्रादिनामभाक्त्वं श्रूयते। तथान्यत्र च, "आत्मैवेदमग्र आसीदेक एव" इत्यात्मानं प्रस्तुत्य, तस्यैव "इदं सर्वं यदयमात्मा" इति विविधनामरूपभाक्त्वं श्रुतम्। तथा "एको ह वै नारायण आसीन्न ब्रह्मा नेशानः" इति नारायणं प्रस्तुत्य, 'ब्रह्मा च नारायणः शिवश्च नारायणः' इत्यादिना तस्यैव ब्रह्मशिवादिनामरूपभाक्त्वं श्रुतम्। एवमव्यवस्थिते विषये कथं भगवतो नारायणस्यैवोपादानत्वमुच्यत इत्यत्राह—सद्ब्रह्मात्मादय इति। कारणत्वावबोधिनः सद्ब्रह्मादयः शब्दाः छागपशुन्यायात् नारायणैकपरा इत्यर्थः। अयं भावः—शङ्कास्पदतया प्रतीयमानाः सदादयः शब्दाः सामान्यशब्दाः। सच्छब्दो हि सत्ताश्रयत्वं प्रवृत्तिनिमित्तमादाय प्रवर्तमानः 'घटः सन्' 'पटः सन्' इत्यादिप्रतीतिबलात् घटादिसाधारणः। एवं ब्रह्मशब्दोऽपि तत्र तत्र जीवप्रधानादिष्वपि प्रयुक्तो दृश्यत इति साधारण एव। आत्मशब्दोऽपि जीवपरसाधारणतया प्रयुज्यमानः साधारण एवेति न ते कारणभूतं वस्तु विशिष्य निर्देष्टुमीशते। कारणभूतवस्तुविशेषज्ञानमन्तरा कारणवाक्यानि न निवृत्ताकाङ्क्षाणि भवन्तीति सदादयः शब्दा नारायणरूपदेवताविशेषे पर्यवस्यन्ति। नारायणशब्दस्तु न साधारणो भवितुमर्हति। नरसंबन्धिनो नाराः; तेषामयनं, ते अयनं यस्येति वा व्युत्पत्त्या निष्पन्नोऽपि नारायणशब्दो न भगवन्तमन्तरा देवतान्तरपरो भवितुमर्हति, तस्य संज्ञाशब्दत्वात्। संज्ञात्वादेव हि "पूर्वपदात्संज्ञायामगः" इत्यनुशासनबलात् णत्वं भवति। "विश्वं नारायणं हरिम्" इति च श्रुतिरेव हरेर्नारायणसंज्ञामाह, "विष्णुर्नारायणः कृष्णो वैकुण्ठः" इति लौकिककोशोऽपि। ननु श्रुतौ देवतान्तराणामपि नमस्कारः श्रूयत इति चेत्, किं तेन ? न हि नमस्करणमात्रेण तेषां जगत्कारणत्वं मोक्षप्रदत्वं चाभिसंहितमिति शक्यते वक्तुम्, कामनान्तरैरपि नमस्कारसंभवात्। "नमस्ते अस्तु मा मा हिंसीः" इत्यादौ हि सान्त्वनार्थमपि नमस्कारः श्रूयते। ननु "एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः" इति रुद्रस्याप्यद्वितीयत्वं श्रूयत इति चेत्, तत्रत्यरुद्रशब्दः भूयसां न्यायानुसारेण विरोधिनो रोदयतीत्यादिव्युत्पत्त्या भगवति यौगिक आस्थेयः। न हि नारायणशब्दे णत्ववत् रुद्रशब्दे यौगिकत्वबाधकं दृढतरं किंचित्प्रमाणमुपलभ्यत इत्यास्तां तावत्॥ ६॥

अन्तर्यामी-ब्राह्मण में ईश्वर को सहकारी-कारण भी कहा गया है। सत्, ब्रह्म, आत्मा आदि शब्द ईश्वर की कारणता को ही कहते हैं ॥६ ॥

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

तत्र च्छागपशुन्यायान्नारायणपरा मताः ।
नामरूपविभागानर्हत्वावस्थासमन्वितम् ।। ७ ।।

सुसूक्ष्मचिदचिद्युक्तमेकं ब्रह्मात्मकं मतम् ।
नामरूपविभागात्प्राङ् न हि भेदोऽवसीयते ।। ८ ।।

मृद्घटादावपि ततस्तदेकमिति गीयते ।
नामरूपाद्यभावेन सच्छब्देनापि गीयते ।। ९ ।।

सामान्यवचनस्य विशेषे पर्यवसानं निदर्शनमुखेन द्रढयति—तत्रेति । "पशुना यजेत" इति विधौ सामान्यतः श्रुतोऽपि पशुशब्दः, "अग्नये छागस्य वपाया मेदसः" इति मन्त्रलिङ्गप्राप्ते छागे यथा पर्यवस्यति तद्वदिति भावः । ननु सदादिशब्दानां नारायणरूपदेवताविशेषे पर्यवसानं न युक्तम् । तथाहि—"सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" इति श्रूयते । तत्र एकमिति पदेन स्वगतसजातीयविजातीयभेदरहितं सद्वस्तु जगत्कारणतया प्रतीयते । नारायणस्तु "पतिं विश्वस्य" इत्यादिना विश्वपतित्वेन "ह्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ" इत्यादिना लक्ष्मीपतित्वेन च प्रतीयते । अतो द्वितीयवस्तुरहितं सदाख्यं ब्रह्मैव जगत्कारणम् । किंच "नेह नानास्ति किंचन" इत्यादिना कृत्स्नभेदप्रतिषेधः क्रियते; इत्याशङ्क्याह—नामरूपेत्यादि । नारायणख्यं परं ब्रह्मैव प्रपञ्चसर्गात् पूर्वं नामरूपविभागानर्हसुसूक्ष्मचिदचिच्छरीरकमभूत् । तदात्वे तत् परं ब्रह्म केवलमेकमेवाभूत् । विभक्तनामरूपवत्त्वं हि सर्गानन्तरभावि । श्रुतावेकशब्दो वक्ष्यमाणबहुभवनपूर्वावस्थापरतया प्रयुक्तः । ब्रह्मणोऽनेकनामरूपभाक्त्वाद्बहुत्वम् । "अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" इति संकल्पपूर्वकजीवरूपानुप्रवेशकृतमिति ततः पूर्वं तस्यैकत्वात् एकमेवेति निर्देशो युज्यते । अत एवाग्र इति पदसार्थक्यमपि । परेषां मते तु ब्रह्मणः सर्वदा सजातीयविजातीयभेदरहितत्वादग्र इति पदस्य वैयर्थ्यमस्वारस्यं च दुरपह्नवम् । "नेह नानास्ति किंचन" इत्यत्रापि न ब्रह्मणि सर्वात्मना पराभिमतभेदप्रतिषेधः । किंत्वब्रह्मात्मकवस्तुनानात्वं प्रतिषिध्यते । तथाहि—तत्र "यस्मिन् पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः" इति पूर्ववाक्ये ब्रह्मण इन्द्रियभूतपञ्चकाधिष्ठानत्वं प्रतिपादितम् । तत्कथमेकस्यात्मनः संभवतीत्याशङ्क्यामिदं वाक्यं प्रवृत्तम्—"नेह नानास्तीति" । इह "यस्मिन् पञ्च पञ्चजनाः" इत्यादिवाक्यनिर्दिष्टे ब्रह्मणि किंचन नानात्वं नास्तीत्यर्थः । पूर्वस्मिन् वाक्य इन्द्रियादीनां

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

ब्रह्मात्मकत्वकण्ठोक्त्या तदविरोधेनाब्रह्मात्मकवस्तुप्रतियोगिकनानात्वं ब्रह्मणि निषिध्यते । न तु निष्कृष्टतत्तद्वस्तुभेदः,ब्रह्मणि स्वेतरवैलक्षण्यस्य प्रमाणशतप्रतिपन्नत्वात् । तस्य सच्छब्दवाच्यत्वमेवं निदर्शनमुखेन निगमयति—मृदिति । अपराह्णे कुलालगृहे प्रसारितान् घटशरावादीन् दृष्ट्वा कश्चिद्वक्ति—'इदं सर्वं प्राक् कुलालव्यापारात् पूर्वं पूर्वाह्णे मृदेकैवासीत्' इति । तत्र घटादिकरणात्पूर्वं मृदस्तत्तन्नामरूपभाक्त्वाभावात् यथैकैव मृदासीदिति व्यवहारः, तथा सृष्टेः पूर्वं हिरण्यगर्भादिप्रपञ्चाभावात् तदैकमेव ब्रह्मासीदिति व्यवहारो युज्यते। नैतावता प्रपञ्चमिथ्यात्वं सिध्यतीति भावः ॥ ७-८-९ ॥

सत्, ब्रह्म, आत्मा आदि शब्द छाग-पशुन्याय से नारायणपरक ही कहे गये हैं । परब्रह्म केवल एक ही है; स्वगत, सजातीय और विजातीय भेद से रहित अथवा द्वितीय वस्तु रहित सदाख्य ब्रह्म एक ही है, कारण कि वह सूक्ष्म चित् और अचित् से विशिष्ट मात्र ही था अतएव वह नाम, रूप जैसे विभाग के अयोग्य अवस्था से समन्वित था । निश्चय ही, घटादि जैसे नाम, रूपविभाग से पूर्व मृत्तिका में कोई भी भेद नहीं हो सकता है । अतएव ब्रह्म एक ही था- यह कहा जाता है । नाम, रूपादि के अभाव के कारण 'सत्' शब्द से भी ब्रह्म ही कहा गया है ॥७-८-९ ॥

तदेवान्तःप्रवेशेन नामरूपविभागकृत् ।
यथा जीवोऽन्तराविष्टो नामरूपविभागभाक् ॥ १० ॥

देवोऽहमिति शब्दैश्च मुख्यवृत्त्याभिधीयते ।
यथा नीलादयः शब्दा नीलाद्यव्यभिचारिणम् ॥ ११ ॥

विशिष्टमेव मुख्यार्थं वदन्ति निरूपाधिकम् ।
तथैव भगवानन्तर्यामी सन्नामरूपयोः ॥ १२ ॥

विभागकृत्स तैः शब्दैर्मुख्यवृत्त्याभिधीयते ।
अमुख्यार्थत्वमेतेषां परैरुक्तं न युक्तिमत् ॥ १३ ॥

तच्च बहुभवनं नामरूपव्याकरणं च तत्तद्वस्त्वन्तरात्मनानुप्रवेशकृतमित्याह—तदेवेति । यद् ब्रह्म सदेवेति वाक्ये एकमेवेति । निर्दिष्टं तदेवेत्यर्थः ।

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

"तदैक्षत" इति श्रुतिवाक्येऽपि तच्छब्देन सदेवेति वाक्यनिर्दिष्टं ब्रह्मैव हि प्रतिपादितम्। अन्तःप्रवेशेनेति; "अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य" "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्, तदनुप्रविश्य, सच्च त्यच्चाभवत्" इत्यादिवाक्यान्यत्राभिप्रेतानि। तत्र दृष्टान्तमाह—यथेति। यथा जीवो ब्राह्मणादिशरीरान्तःप्रवेशेन "ब्राह्मणेभ्यो वेदविद्भ्यो दिवे दिवे नमस्कुर्यात्" इत्यादौ ब्राह्मणादिव्यपदेशं लभते, तद्वदिति भावः। एवं ब्रह्मणस्तत्तदनुप्रवेशकृतं तत्तन्नामरूपभाक्त्वमुपपाद्य तस्य ब्रह्मणस्तत्तच्छब्दैर्मुख्यवृत्त्याभिधानं स्वसिद्धान्तसंमतमुपपादयति—मुख्यवृत्त्येति। ब्राह्मणादिशब्दास्तत्तच्छरीरवाचिनोऽपि तथा तदन्तर्गतजीवेषु मुख्यवृत्तास्तथेति भावः। तत्रैव निदर्शनान्तरमाह—यथा नीलादय इति। नीलादयः शब्दा आकृत्यधिकरणन्यायात् गुणवाचिनोऽपि यथा नीलादिरूपविशिष्टं वस्तु मुख्यवृत्त्याभिदधति, तथेति भावः। तैः शब्दैः; ब्रह्मेन्द्रादिशब्दैः। आह च श्रुतिः—"स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट्" इत्यादि। परे तु मीमांसकादयः नीलादिशब्दानाममुख्यार्थे द्रव्ये पर्यवसानमाहुः; तन्न सम्यगित्याह—अमुख्यार्थत्वमिति ॥ १०-११-१२-१३ ॥

जैसे जीव ब्राह्मण आदि शरीरों में प्रविष्ट होकर ब्राह्मण आदि नाम, रूपविभाग को प्राप्त करता है, वैसे ही वह ब्रह्म तद्-तद् वस्तुओं में आत्मरूप = अन्तर्यामीरूप से प्रवेश कर नाम, रूपविभाग वाला कहलाने लगता है। जैसे- 'देवोऽहम्' = 'मैं देव हूँ' - इत्यादि वाक्यों में प्रयुक्त शब्दों से मुख्यवृत्ति-अभिधा से ही जीव को कहा जाता है, इसी प्रकार जैसे- नीलादि शब्द आकृत्यधिकरणन्याय से गुणवाची होने पर भी निरूपाधिक नीलादिरूप-विशिष्ट वस्तु को ही मुख्यार्थरूप में कहते हैं; ठीक वैसे ही वह ब्रह्म ब्रह्मा, शिव, इन्द्र आदि शब्दों से मुख्यवृत्ति से जाना जाता है, क्योंकि भगवान् अन्तर्यामी रूप से तद्-तद् वस्तुओं में प्रवेश करता है और तद्-तद् नाम, रूपविभाग वाला हो जाता है।मीमांसक आदि नीलादि शब्दों से प्राप्त तद्-तद् वस्तुओं को अमुख्यार्थ ही मानते हैं, किन्तु उनका मत युक्तिमत् नहीं है ॥१०,११, १२-१३ ॥

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

शरीराद्यपृथग्भावाच्छब्दा निष्कर्षकेतरे ।
विशिष्टमेव श्रीमन्तमभिधास्यन्ति युक्तितः[1] ॥ १४ ॥

शब्दा हि द्विविधाः—निष्कर्षकाः, विशिष्टवाचिनश्चेति । तत्रापृथक्सिद्धि-संबन्धेन संबद्धान् विशेषणांशान् विशेष्यांशांश्च पृथग्व्यवहर्तुमिच्छया यदा शब्दाः प्रयुज्यन्ते, तदा ते निष्कर्षका इत्युच्यन्ते । यथा पदार्थास्त्रिधा—चितः, अचितः, ईश्वरश्चेति । अत्र चिदादिपदानि केवलचिदादिवाचकानि, न तु तद्विशिष्टेश्वरवा-चकानि । एवमीश्वरशब्दः चिदचित्संवलितमपीश्वरं चिदचिद्भ्यः पृथ-क्कृत्यबोधयतीति स निष्कर्षकः शब्दः । तेभ्य इतरे शब्दास्तत्तत्प्रकारकमीश्वरमेव भगवन्तं श्रियः पतिमभिदधति, पूर्वोक्तयुक्तिबलादिति श्लोकार्थः । । १४ ॥

शब्द दो प्रकार के होते हैं- निष्कर्षक और विशिष्टवाची । इनमें जो अपृथक्सिद्धि-सम्बन्ध से सम्बद्ध विशेषणांश और विशेष्यांश को बताते हैं वे **विशिष्टवाची** होते हैं, किन्तु जो पृथक् व्यवहार की इच्छा से प्रयुक्त होते हैं वे **निष्कर्षक** कहलाते हैं । अतएव सिद्धान्त-पक्ष में निष्कर्षक-भिन्न शब्द शरीरादि से अपृथक्-भाव रखने के कारण विशिष्ट ही श्रीपति भगवान् का ही अभिधान करेंगे-यही युक्तियुक्त है ॥१४ ॥

सर्वं ब्रह्मेत्यैतदात्म्यमित्यादिव्यपदिष्टयः ।
सामानाधिकरण्येन संयुज्यन्तेऽत एव हि ॥ १५ ॥

निर्विशेषाद्वैतवादिभिर्यानि श्रुतिवाक्यानि स्वमतसर्वस्वतयोद्घोष्यन्ते, तानि वाक्यान्यस्माकमेवानुकूलानि; न परेषामित्याह—सर्वमिति । "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" इति । आदिपदेन "तत्त्वमसि" इत्यादयो गृह्यन्ते । एते व्यपदेशाः । अत एव; सर्वेषां शब्दानां ब्रह्मपर्यवसायित्वादेव । सामानाधिकर-ण्येन संयुज्यन्ते संगता भवन्ति । भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानां शब्दानामेकस्मिन्नर्थे वृत्तिः सामानाधिकरण्यमिति सामानाधिकरण्यशब्दार्थो वर्णितः । स चास्मन्मत एव संगतः, न परमत इति भावः ॥ १५ ॥

---

१. तत्त्वतः C.

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' - इत्यादि वाक्यों में सभी शब्द ब्रह्मवाची ही हैं, क्योंकि सामानाधिकरण्य से संयुक्त = संगत हैं। जब भिन्न प्रवृत्तिनिमित्त शब्दों की एक अर्थ में वृत्ति होती है तो सामानाधिकरण्य कहलाता है। यह सिद्धान्त हमारे मत में ही संगत है, किन्तु निर्विशेषाद्वैतवादियों के अनुकूल नहीं है ॥१५॥

स्वरूपभिदया भेदश्रुतयोऽस्मन्मते स्थिताः।
विशिष्टाभेदतोऽभेदश्रुतयोऽपि सुनिर्वहाः॥ १६॥

श्रुतयो हि द्विधा भवन्ति—भेदपराः, अभेदपराश्चेति। द्विविधा अपि ता अस्मन्मत एव सुसंगताः, न परेषां मत इत्याह—स्वरूपेति। "पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा" "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया" "प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः" इत्यादयोऽचितां जीवानामीश्वरस्य चात्यन्तवैलक्षण्यं बोधयन्ति। अस्माकं मते चिदचिदीश्वरस्वरूपेषु भेदाङ्गीकारादत्यन्तमेताः श्रुतयोऽनुकूलाः। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" "ब्रह्मैवेदं सर्वम्" इत्याद्यभेदबोधिकाः श्रुतयश्चिदचिद्विशिष्टब्रह्मबोधकत्वात् सुनिर्वाहा इति भावः। परैस्तु अभेदश्रुतीनां प्राधान्यमभ्युपगम्य भेदश्रुतीनां कल्पितभेदपरत्वेन समन्वयः क्रियते। भेदस्य पारमार्थिकत्वेन कल्पितत्वासंभवात् तेषां तथा निर्वाहस्तासां श्रुतीनामप्रामाण्याभ्युपगमपर्यवसायीति हृदयम् ॥१६॥

श्रुति दो प्रकार की है- भेदपरा और अभेदपरा। इनमें 'पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा' इत्यादि भेदश्रुति चित्, अचित् और ईश्वर का स्वरूप भेद बताने के कारण हमारे मत के अनुकूल हैं, क्योंकि हमारे मत में उक्त तत्त्वत्रय के स्वरूपों में भेद स्वीकार है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' - इत्यादि अभेदश्रुति तो चित् और अचित् से विशिष्ट ब्रह्मबोधक होने से हमारे लिए अत्यन्त अनुकूल है। किन्तु निर्विशेषाद्वैतवादी अभेदश्रुतियों को प्रधान मानकर भेदश्रुति में कल्पित भेद कहकर अद्वैतहेतु भेदश्रुतियों का समन्वय करते हैं, जो कि युक्तिमत् नहीं है, क्योंकि भेद श्रुतियों में भेद पारमार्थिक रूप है, कल्पितरूप नहीं ॥१६॥

कारणात्सूक्ष्मचिदचिद्युक्तात्स्थूलैतदाहितम्।
कार्यं नान्यदिति व्यक्तमारम्भणनयादिषु॥ १७॥

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

ननु सिद्धान्ते "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इत्यादिश्रुतिबलादीश्वरस्य प्रपञ्चोपादानकारणत्वमङ्गीकृतम्। ईश्वरस्य प्रपञ्चस्य च भेदोऽप्यङ्गीकृतः। तथा सति कथं कार्यकारणयोरनन्यत्वसिद्धिः। तयोरनन्यत्वं च सर्ववेदान्तिसंमतम्। "तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः" इति व्याहरतः सूत्रकृतः संमतं चेत्याशङ्क्य समाधत्ते—कारणादिति। सृष्टेः पूर्वं सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टात् ब्रह्मणः कारणात् सृष्टौ स्थूलचिदचिद्विशिष्टं ब्रह्मोत्पद्यते। तत्र विशेष्यांशे निष्कृष्टे ब्रह्मणि प्रपञ्चात्मना विकारासंभवेऽपि प्रकारांशे अचिति सततविक्रियात्मके तत्संभवात् प्रकारभूताचिद्द्वारा तत्प्रकारिणो ब्रह्मणोऽप्युपादानत्वसंभव इति भावः। एवं परंपरया विकारास्पदत्वं तु प्रामाणिकत्वात् ब्रह्मण इष्टमेवेति भावः। एतदुक्तं भवति। अविकारश्रुतयो विशेष्यभूतब्रह्मपराः। विकारश्रुतयस्तु विशेषणभूताचित्पराः, तत्परंपरया चिदचिद्विशिष्टेश्वरपराश्चेति ॥ १७ ॥

आरम्भणनय आदि में स्पष्टतया कहा गया है कि सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म = कारण से उत्पन्न स्थूल चिद्चिद्विशिष्ट ब्रह्म = कार्य अन्य नहीं है, इससे भी भेद में अभेद है। अविकारश्रुति विशेष्यभूत ब्रह्मपर हैं, विकारश्रुति विशेषणभूताचित्पर हैं किन्तु तत्परम्परा से चिदचिद्विशिष्टेश्वरपर हैं। अतएव सिद्धान्त में भेद और अभेद-दोनों ही पारमार्थिक हैं ॥१७ ॥

निर्गुणत्वपराः कश्चिच्छ्रुतयः सन्ति ता इमाः ।
[1]तद्धेयगुणराहित्यं बोधयन्ति ततो ध्रुवम् ॥ १८ ॥

एवं परस्परं व्याहततयापाततो भासमानानां सगुणनिर्गुणश्रुतीनां समन्वयप्रकारमाह—निर्गुणत्वपरा इति। "निर्गुणम्" "निरञ्जनम्" इत्यादयः श्रुतयो ब्रह्मणो निर्गुणतामाहुः। "प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः" "स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" "सत्यकामः सत्यसंकल्पः" इत्यादयः श्रुतयस्तस्यैव सगुणतामाहुः। एवं परस्परं व्याहततयेव भासमानाः श्रुतयः एवं समर्थनीयाः—सामान्यनिषेधवाक्यानि वाक्यान्तरविहितविशेषेतरविषयाणि परिकल्पनीयानि। यथा "न हिंस्यात्सर्वा भूतानि" इति भूतहिंसानिषेधः "चित्रया यजेत पशुकामः" इत्यादिवाक्यान्तरविहितयज्ञियचित्रादिहिंसाव्यतिरिक्तविषयतया सर्वैरपि प्रमाणतन्त्रैर्वर्ण्यते, तथात्रापि ।-

१. यद्धेय C.

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

नर्गुणवाक्यं विहितज्ञानशक्त्यादिकल्याणगुणव्यतिरिक्तहेयगुणविषयतया नेय-मिति न परस्परं व्याघात इति । यथाह—

"उत्सर्गेणापवादं न खलु नयविदः क्षोभणीयं क्षमन्ते
तस्माद्ब्राह्मे गुणादौ विधिविषयमतिक्रम्य तिष्ठेन्निषेधः ।
एवं शान्ते विरोधे नहि समविषयापच्छिदान्यायसिद्धि-
र्दृष्टो नित्यं निषेधः पर इह ततः स्यादुपक्रान्तिनीतिः ॥"

इति ॥ १८ ॥

पुनश्च श्रुति दो प्रकार की हैं- निर्गुणश्रुति और सगुणश्रुति । इनमें 'निर्गुणम्' 'निरञ्जनम्' - इत्यादि निर्गुणश्रुति ब्रह्म अथवा ईश्वर को हेय गुणों से रहित कहती हैं, अतएव इन द्विविध श्रुतियों में परस्पर कोई व्याहतता ही नहीं है ॥१८ ॥

इति वेदान्तकारिकावल्यामीश्वरनिरूपणं नवमं प्रकरणम् ।

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

१०. अद्रव्यनिरूपणम्

द्रव्यमेवं निरूप्याथ तदद्रव्यं निरूप्यते।
शुद्धसत्त्वं मिश्रसत्त्वमिति सत्त्वं द्विधा मतम्॥ १ ॥

पूर्वापरसंगतिप्रदर्शनपूर्वकमद्रव्यनिरूपणं प्रतिजानीते—द्रव्यमिति। अद्रव्यमिति। आगन्तुकावस्थावद् द्रव्यम्। तदन्यदद्रव्यम्। अद्रव्याणि च दशधा—सत्त्वरजस्तमांसि, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः, संयोगः, शक्तिश्चेति। इमानि च द्रव्यं प्रत्यपृथक्सिद्धविशेषणानि भवन्ति। अतस्तेषां गुणत्वेन व्यवहारः शास्त्रेषु। वैशेषिकाद्यभिमतानां गुरुत्वद्रवत्वादीनां यथासंभवं क्लृप्तेषु पदार्थेष्वेवान्तर्भावः सिद्धान्तिसंमतः। तत्र प्रथमं सत्त्वं निरूपयिष्यन् तस्य द्वैविध्यमाह—शुद्धसत्त्वमिति ॥१ ॥

इस प्रकार द्रव्य का निरूपण करके अब उस **अद्रव्य** को कहते हैं। आगन्तुक अवस्था वाला **द्रव्य** है, उससे भिन्न **अद्रव्य** कहलाता है। अद्रव्य दस हैं - सत्त्व, रजस्, तमस्, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, संयोग और शक्ति। ये सभी अद्रव्य द्रव्य के अपृथक्सिद्ध विशेषण होते हैं अतएव **गुण** कहलाते हैं। शुद्धसत्त्व और मिश्रसत्त्व भेद से सत्त्व दो प्रकार का होता है ॥१ ॥

रजस्तमोभ्यामस्पृष्टमद्रव्यं पूर्वमुच्यते।
रजस्तमोविमिश्रं तु मिश्रसत्त्वं प्रकीर्तितम्॥ २ ॥

तत्र शुद्धसत्त्वस्वरूपमाह—रज इति। सत्त्वस्य रजस्तमोभ्यामस्पर्शो नाम सामानाधिकरण्यसंबन्धेन तद्रहितत्वम्। रजस्तमःशून्यद्रव्यवृत्ति सत्त्वं शुद्धसत्त्वमित्यर्थः। तच्च नित्यविभूतौ ईश्वरादिदेहे च। मिश्रसत्त्वमाह—रजस्तम इति। सामानाधिकरण्यसंबन्धेन रजस्तमोविशिष्टं सत्त्वं मिश्रसत्त्वमित्यर्थः। तच्च त्रिगुणे तद्विकारेषु च। शुद्धरजः शुद्धतमश्च न स्तः। एवमेषामद्रव्यत्वपरिगणनेन तेषां द्रव्यत्ववादः सांख्याद्यभिमतः प्रत्युक्तः॥ २ ॥

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

जो रजस् और तमस् से अस्पृष्ट अद्रव्य होता है वह **शुद्धसत्त्व** कहलाता है, किन्तु जो रजस् और तमस् से मिश्रित होता है वह **मिश्रसत्त्व** कहा जाता है ॥२ ॥

अतीन्द्रियं प्रकाशादिनिदानं सत्त्वशब्दितम् ।
रजो लोभप्रवृत्त्यादिनिदानं कीर्त्यते तमः ॥ ३ ॥

सत्वादीनां स्वरूपमाह—अतीन्द्रियेति । अतीन्द्रियत्वे सति प्रकाशादि-कारणमद्रव्यं सत्त्वमिति तल्लक्षणम् । शब्दादिव्यावृत्त्यर्थमतीन्द्रियत्वविशेषणम् । रजस्तमोव्यावृत्त्यर्थः द्वितीयं विशेषणम् । तादृशद्रव्यव्यावृत्त्यर्थमद्रव्यमिति विशे-ष्यम् । रजसो लक्षणमाह—लोभेति । अत्राप्यतीन्द्रियत्वादिविशेषणं तत्प्रयोजनं चानुसंधेयम् । तम इत्युत्तरत्रान्वितं लक्ष्यनिर्देशः ॥ ३ ॥

सत्त्व अतीन्द्रिय और प्रकाशादि का कारण होता है । **रजस्** लोभ, प्रवृत्ति आदि का कारण होता है । **तमस्** निम्न प्रकार होता है- ॥३ ॥

प्रमादमोहादिहेतुरित्थं[१] त्रैगुण्यरूपणम् ।
लये समानि चैतानि विषमाण्युदयादिषु ॥ ४ ॥

प्रमादेति । अत्राप्यतीन्द्रियत्वादिविशेषणं तत्प्रयोजनं चानुसंधेयम् ।

एवं त्रैगुण्यनिरूपणं कृतमित्युपसंहारः । सत्त्वादीनां स्वभावः कार्याणि च भगवता स्पष्टमगायिषत । यथा—

"सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्त्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत ।
रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ।
सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्यात् विवृद्धं सत्त्वमित्युत ।

१. त्रैगुण्यस्य निरूपणम् B.

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ।
अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन"
"ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्तथा अधो गच्छन्ति तामसाः ।"
"यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥"
"आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ।
कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ।
यातायामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ।"

इत्यादि । एतानि सत्त्वरजस्तमांसि लये प्रलयकाले समानि; परस्परं न्यूनताधिक्य-वर्जितानि समप्रमाणानि भवन्ति । उदयादिषु उत्पत्तिस्थितिषु विरूपाणि विषमाणि । तत्तत्पुरुषीयादृष्टभेदात् तत्तद्देहेषु तद्द्वारा पुरुषेषु च न्यूनाधिकभावेन संबद्धानि सुखादिकार्यजनकानि भवन्तीत्यर्थः ॥ ४ ॥

जो प्रमाद, मोह आदि का हेतु होता है वह तमस् होता है । इस प्रकार ये तीन गुण हैं । प्रलय में इन तीनों गुणों की साम्यावस्था होती है, किन्तु सृष्टि में ये विषम हो जाते हैं ॥४ ॥

श्रोत्रग्राह्यो गुणः शब्दो वर्णावर्णात्मना द्विधा ।
तालुभेर्यादिजत्वेन भूतपञ्चकवर्त्यसौ ॥ ५ ॥

गुणत्रयं निरूप्यानन्तरं शब्दं लक्षयति—श्रोत्रेति । गुण इति स्वरूपकथ-नम् । न तु लक्षणकोटिप्रविष्टं, प्रयोजनाभावात् । नैयायिकानां तु शब्दत्वजातिव्या-

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

वृत्तये गुणशब्द आवश्यकः । अस्माकं तु जात्यनङ्गीकारान्नावश्यक इति भावः । स च शब्दो द्विधा—वर्णात्मकः, ध्वन्यात्मकश्चेति । मानुषताल्वादिस्थानजन्यो वर्णात्मकः । भेरीमृदङ्गादिजन्यो ध्वन्यात्मकः । तत्र वर्णात्मकोऽकारागादिक्षकारान्त एकपञ्चाशतप्रकारः । मातृकापाठे लळयोरभेदात् क्वचित्पञ्चाशत्प्रकारतया व्यपदेशः । क्रत्यादयः संध्यक्षरा इति न पृथक्परिगण्यन्ते । एषां तु संध्यक्षरत्वेऽपि पृथग्वर्णतया सर्वजनप्रसिद्धेः पृथक्परिगणनम् । तेषामपि ह्रस्वदीर्घभेदाः सन्त्येव । प्रयुज्यन्ते च ते वेदे क्वचित् शाखासु लोके च प्राकृतद्रमिडादिषु भाषासु च । संस्कृते तु तद्धटितपदाभावात् न माहेश्वरादिसूत्रेषु तत्परिगणनं कृतम् । शब्दश्चैष पृथिव्यादिभूतपञ्चकवर्ती । न वैशेषिकादीनामिवाकाशमात्रवर्ती, भेर्यां शब्दः, गङ्गाप्रवाहे शब्द इत्यादि प्रतीतेः । स चायं शब्द आकाशेन सहोत्पत्पद्यते विलीयते च ॥ ५ ॥

श्रोत्र से ग्राह्य गुण **शब्द** होता है । वर्ण और अवर्ण भेद से वह दो प्रकार का होता है । मनुष्य के तालु आदि स्थान से उत्पन्न शब्द **वर्णात्मक** होता है तथा भेरी-मृदङ्गआदि से जन्य शब्द **ध्वन्यात्मक** अथवा **अवर्णात्मक** होता है । यह शब्द गुण पंचमहाभूतों में रहता है ॥५ ॥

स्पर्शस्त्वगिन्द्रियग्राह्यः पृथिव्यादिचतुष्टये ।
शीतोष्णादिप्रभेदस्तु शास्त्रान्तरनिरूपितः ॥ ६ ॥

स्पर्शं लक्षयति—स्पर्श इति । स च पृथिव्यादिभूतचतुष्कवर्ती । स च शीतोष्णानुभयभेदात् त्रिधा । अप्सु शीतः, अग्नावुष्णः, पृथिवीवाय्वोरनुभय इति विवेकः । भूतान्तरसंसर्गात् स्पर्शसंकरानुभवः ॥ ६ ॥

त्वगिन्द्रिय से ग्राह्य **स्पर्श** गुण होता है । जो पृथिवी, जल, तेज और वायु-इन चार भूतों में रहता है । दूसरे शास्त्रों में शीत, उष्ण आदि इसके भेद कहे गये हैं ॥६ ॥

चक्षुरिन्द्रियनिर्ग्राह्यं रूपमेतच्चतुर्विधम् ।
श्वेतरक्ते पीतकृष्णे इति भेदाद् द्विधादिमम् ॥ ७ ॥

रूपं लक्षयति—चक्षुरिति । रूपस्य चातुर्विध्यं श्वेतादिना । श्वेतस्य द्वैविध्यमाह—द्विधादिममिति ॥ ७ ॥

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

चक्षुरिन्द्रिय से ग्राह्य गुण **रूप** कहलाता है। यह चार प्रकार का होता है- श्वेत, रक्त, पीत, और कृष्ण। इनमें श्वेत दो प्रकार का होता है- ॥७॥

भास्वराभास्वरत्वाभ्यां भास्वरं तेजसि स्थितम्।
पृथिवीजलयोश्चैतदभास्वरमुदाहृतम्॥ ८॥

द्विविधमेव श्वेतरूपं निर्दिशति—भास्वरत्वेति। तेजसि भास्वरशुक्लम्, जले त्वभास्वरशुक्लमित्यर्थः। एवं च रूपं पृथिव्यादित्रिकवृत्तीत्युक्तं भवति। चित्रं नाम पञ्चमं रूपमिति वैशेषिकादयः; तन्न संघातवर्तिनामेषामेव तथा व्यवहारादिहेतुत्वात्॥ ८॥

भास्वर और अभास्वर। **भास्वर** तेजयुक्त वस्तुओं में रहता है और **अभास्वर** पृथिवी और जल में कहा जाता है। इस प्रकार रूप पृथिवी, जल और तेज- इन तीन भूतों में रहता है ॥८॥

रसनेन्द्रियनिर्ग्राह्यो रसः षोढा स कीर्तितः।
घ्राणग्राह्यो गुणो गन्धो द्विधा शास्त्रान्तरेष्विव॥ ९॥

रसं लक्षयति—रसनेनि। षोढेति। मधुराम्ललवणतिक्तरूक्षकषायभेदात्। एषामेव संघातश्चित्ररस इति न तस्य पृथक्परिगणनं कृतम्। गन्धं लक्षयति—घ्राणेति। अत्रापि गुण इति स्वरूपकथनं न लक्षणकोटिप्रविष्टम्। द्विधेति; सुरभ्यसुरभिभेदेन द्विधेत्यर्थः। पटीरमृगमदादौ सुरभिः। विण्मूत्रादावसुरभिः॥९॥

रसनेन्द्रिय से ग्राह्य रस कहलाता है और वह छः प्रकार का कहा गया है- मधुर, अम्ल, लवण, तिक्त, रूक्ष और कषाय। घ्राणेन्द्रिय से ग्राह्य गुण गन्ध होता है जो दूसरे शास्त्रों में दो प्रकार का कहा गया है ॥९॥

पृथिव्यामेव गन्धः स्यात्पृथिवीजलयो रसः।
पृथिवीजलतेजःसु रूपं स्पर्शः सवायुषु॥ १०॥

गन्धादीनामाश्रयानाह—पृथिव्यामेवेति। जलादौ तत्प्रतीतिस्तु पृथिवीभागसंसर्गकृता। सवायुष्विति; वायुसहितेषु पृथिवीजलतेजःस्वित्यर्थः॥ १०॥

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

गन्ध पृथिवी में ही रहता है। रस पृथिवी और जल में रहता है। रूप पृथिवी, जल और तेज में रहता है। स्पर्श वायु सहित पृथिवी, जल और तेज में रहता है ॥१०॥

शब्दः पञ्चसु भूतेषु प्राधान्येनैवमुच्यते।
पञ्चीकरणरीत्या तु सर्वे सर्वत्र संगताः ॥ ११ ॥

पञ्चस्विति। पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशेष्वित्यर्थः। इदं चाश्रयविशेषकथनं तत्र तत्र तत्तद्गुणभूयस्त्वनिबन्धनमित्याह—प्राधान्येनेति। पञ्चीकरणरीत्या तु सर्वे शब्दादयो गुणाः सर्वेष्वपि भूतेषु वर्तन्त इत्याह—पञ्चीकरणेति। पञ्चीकरणप्रक्रिया तु प्रथमपरिच्छेदे व्याख्यातावगन्तव्या ॥ ११ ॥

शब्द पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश - इन पांच भूतों में रहता है। उक्त आश्रयविशेषकथन वहाँ वहाँ तद्-तद् गुण की प्रधानता से ही कहा जाता है। पञ्चीकरण-रीति से तो ये सभी गुण सभी भूतों में रहते हैं ॥११॥

संयुक्तप्रत्यये हेतुः संयोग इति कथ्यते।
कार्याकार्यप्रभेदेन स संयोगो द्विधा मतः ॥ १२ ॥

अनन्तरं संयोगाख्यमद्रव्यं निरूपयति—संयुक्तेति। घटपटौ संयुक्ताविंत्यादिप्रत्यये व्यवहारे च हेतुतया संयोगः सिध्यन् संयुक्तव्यवहारहेतुत्वमेव स्वस्य लक्षणमवगमयति। यद्यपि तादृशव्यवहारे घटपटावपि विषयतया हेतू इति तत्रातिव्याप्तिः प्रसजेत्, तथापि लक्षणकोटावद्रव्यत्वस्यापि प्रक्षेपान्न दोष इति हृदयम्। स च संयोगः कार्यः, आकार्यश्चेति द्विविधः ॥ १२ ॥

किन्हीं दो द्रव्यों के संयुक्त-व्यवहार का हेतु संयोग कहा जाता है। वह कार्य और अकार्य भेद से दो प्रकार का कहा गया है ॥१२॥

मेषहस्तादिसंयोगः कार्योऽकार्यो विभोर्विभो।
विभुद्वयस्य संयोगः श्रुत्या युक्त्या च मन्यते ॥ १३ ॥

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

तत्र कार्यसंयोगमाह—मेषेत्यादि । परिमितयोर्वस्तुनोः संयोगः कदाचिदेव तयोः क्रियया जायत इति स कार्य इत्यर्थः । स च पुनर्द्विधा—उभयनिष्ठक्रियाजन्यः, अन्यतरनिष्ठक्रियाजन्यश्चेति । तत्राद्यो मेषयोः हस्तयोर्वा संयोगः । द्वितीयः स्थाणुश्येनयोः संयोग इति ज्ञेयम् । अकार्यसंयोगमाह—विभोरिति । विभोर्विभोश्च संयोगोऽकार्य इत्यर्थः । वैशेषिकादयस्तु संयोगसामान्यस्य जन्यत्वं मन्यमाना विभुद्वयसंयोगे तस्य नित्यत्वप्रसङ्गात् तं नाङ्गीकुर्वन्ति । तान् प्रत्याह—विभुद्वयस्येति । श्रुत्येति; "अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणस्थितः" इति श्रुत्या विभोरीश्वरस्य विभ्वन्तरेण संयोगस्य श्रुतत्वात् । युक्त्या चेति; ईश्वरः कालसंयुक्तः कालनैरन्तर्यात् घटवत् इत्याद्यनुमानेनेत्यर्थः । वैशेषिकास्तु संयोगजसंयोगमपीच्छन्ति; यथा—हस्तपुस्तकसंयोगात् कायपुस्तकसंयोग इति; तन्न, अवयवपृथक्त्वेनावयव्यनङ्गीकारात् । यः किल हस्तपुस्तकसंयोगः स एव हस्ताद्यवयवसंघातरूपकायपुस्तकसंयोग इति न ततः पृथगिति भावः ॥ १३ ॥

परिमित दो वस्तुओं का संयोग कदाचित् ही उनकी क्रिया से उत्पन्न होता है अतएव वह **कार्यरूप** संयोग कहलाता है । यह कार्य संयोग दो प्रकार का होता है- उभयनिष्ठक्रियाजन्य और अन्यतरनिष्ठक्रियाजन्य । उभयनिष्ठ क्रियाजन्य है, जैसे- दो मेषों भेढों का संयोग अथवा दो हाथों का संयोग । द्वितीय है, जैसे- स्थाणु और श्येन का संयोग । दो विभुओं का संयोग **अकार्यरूप** संयोग होता है । वैशेषिक विभुद्वय-संयोग होने पर उसकी नित्यता होने से उसको स्वीकार नहीं करते हैं, इसीलिए यहाँ कहा गया है कि सिद्धान्त में विभुद्वय का संयोग श्रुतियुत् और युक्तियुत् है । 'अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणस्थितः'- इस श्रुति में विभु ईश्वर का दूसरे विभु से संयोग श्रुत है । 'ईश्वरः कालसंयुक्तः, कालनैरन्तर्यात्, घटवत्' - इस अनुमान प्रमाण से भी विभुद्वय का संयोग युक्तियुक्त है । वैशेषिक तो संयोगज-संयोग को भी मानते हैं, जैसे- हस्त-पुस्तक-संयोग से काय-पुस्तक-संयोग है । किन्तु यह उचित नहीं है, क्योंकि अवयव के पृथक् होने से अवयवी नहीं रहता है ।जो हस्त-पुस्तक-संयोग है वही हस्तादि-अवयवसंघातरूपकाय-पुस्तक-संयोग है, आद्य द्वितीय से पृथक् नहीं है ॥१३ ॥

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

तस्मात्कालस्येश्वरेण संयोगोऽपि सुसंमतः ।
संयोगाभावरूपो हि विभागो न गुणान्तरम् ।। १४ ।।

तदेवाह—तस्मादिति । श्रुतियुक्तिसद्भावादित्यर्थः । कालस्येश्वरस्य च विभुत्वेऽपि तयोः परस्परं संयोगः सम्यक्तया मन्तव्य इत्यर्थः । वैशेषिकादयो विभागाख्यं पृथग्गुणमिच्छन्ति । तान्निराकरोति—संयोगाभावेति । संयोगाभाव एव विभाग इत्युच्यते । अभावस्य च भावान्तररूपत्वात् पूर्वदेशसंयोगनाशपूर्वकोत्तरदेशसंयोग एव विभाग इत्यर्थः ॥ १४ ॥

अतएव काल का ईश्वर के साथ संयोग भी सुसम्मत है। विभाग संयोगाभावरूप है अतएव पृथक् गुण नहीं है ॥१४ ॥

सर्वहेतुषु हेतुत्वनिर्वोढ्री शक्तिरिष्यते ।
मणिमन्त्रादिकेष्वेषा प्रसिद्धा सा त्वतीन्द्रिया ।। १५ ।।

अथ शक्तिं निरूपयति—सर्वहेतुष्विति । हेतुनिष्ठः कार्योत्पादनयोग्यो धर्मविशेषः शक्तिरित्यर्थः । यथा वह्नौ दाहानुकूलो धर्मविशेषः शक्तिरित्युच्यते । तथा मणिमन्त्रादिषु दाहादिप्रतिबन्धजननसाधनभूतो गुणविशेषः शक्तिरित्युच्यते । सा च नेत्रेन्द्रियग्राह्या । किं त्वागमादिग्राह्या । आगमश्च—

"शक्तयः सर्वभावानामचिन्त्यज्ञानगोचराः ।
यतोऽतो ब्रह्मणस्तास्तु सर्गाद्या भावशक्तयः ॥

भवन्ति तपतां श्रेष्ठ पावकस्य यथोष्णता ।"

इत्यादिः । नन्वेवं तर्हि शब्देष्वर्थबोधनानुकूला शक्तिरङ्गीकरणीया । तथा सति शब्दस्य गुणाश्रयत्वात् द्रव्यत्वापत्तिरिति चेत्, अत्रोच्यते—शब्दे शक्तिर्नाम न काचिदतिरिक्ता शक्तिर्विद्यते किं तु स स्वरूपेणैवार्थं बोधयति । व्याकरणादयस्तत्र सहकारिण इति नातिरिक्ता शक्तिस्तत्रेति । तथा चाहुः—

"शब्दादिष्वस्ति शक्तिर्यदि कथमिव न द्रव्यतैषां गुणित्वे
सा चेन्नास्त्येव कार्यं किमपि कथमितः स्यादितीदं न युक्तम् ।

शक्तिः शक्ता न वेति स्वयमवमृशतः स्वोक्तदोषप्रसङ्गे
निस्तारश्चेत्स्वभावात्फणिमरणमिह प्रस्तुते किं प्रवृत्तम् ॥"

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

इति ॥ १५ ॥

सभी कारणों में कारणता की जो सहायता करती है वह शक्ति कहलाती है। मणि, मन्त्र आदि में यह प्रसिद्ध है, किन्तु शक्ति अतीन्द्रिय होती है ॥१५ ॥

बुद्ध्यादयोऽष्टौ विज्ञाने भावना चान्तराविशन्।
द्रवत्वस्नेहसंख्यानपरिमाणानि वेगकः ॥ १६ ॥

द्रव्यस्वरूपरूपत्वान्नाधिक्यं यान्ति केवलम्।
स्थितस्थापकमेतस्मिन् संयोगेऽन्तर्भवत्यतः ॥ १७ ॥

संयोगाभावरूपत्वात्पृथक्त्वस्य विभागवत्।
गुरुत्वस्यापि शक्तित्वान्नाधिक्यं क्वापि विद्यते १८।

वैशेषिकाद्यभिमतानां बुद्ध्यादिगुणानां धर्मभूतज्ञानेऽन्तर्भावमाह— वुद्ध्यादय इति। अष्टाविति। बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्माख्याः, तथा वासनाख्यः संस्कार इति नवापि गुणा ज्ञानेऽन्तर्भवन्ति। तत्र बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाः षडपि ज्ञानविकाररूपा इति ज्ञान एवान्तर्भवन्ति। धर्माधर्मावपीश्वरप्रीत्यप्रीतिरूपावितीश्वरज्ञानेऽन्तर्भवतः। वासनाख्यः संस्कारोऽपि ज्ञानावस्थाविशेषः स्मृतिवत्। एवं च धर्मभूतज्ञानस्य द्रव्यत्वेन तस्य विविधावस्थास्पदत्वं युज्यते। तत्रात्मा निर्विकारः। धर्मभूतज्ञानं तु सविकारमिति प्रमाणसंप्रतिपन्नम्। धर्मभूतज्ञानगताः सर्वे विकारा ज्ञानद्वारा तदाश्रयात्मपर्यन्तं व्यवह्रियन्त इत्यवगन्तव्यम्। अत्रेदं बोध्यम्—बुद्ध्यादीनामष्टानां बुद्धिविकारत्वात् तेषामात्मनिष्ठत्वं युज्यते। भावना तु ज्ञाननिष्ठैव, नात्मनिष्ठा। सा हि बुद्धेर्द्रव्यस्य पूर्वमर्थविशेषे सकृत्प्रसृतस्य पुनस्तत्रैवार्थविशेषे तस्य प्रसरणोपयोगिनीति सिद्धान्तः। तथा च तस्या बुद्धिनिष्ठत्वमेवोचितम्। आत्मनिष्ठत्वे तु तद्धर्मभूतधीविकासहेतुत्वं तस्याः कथ्यमानं न युक्तिमनुसरतीति। द्रवत्वस्नेहसंख्यापरिमाणवेगा द्रव्यस्वरूपान्नातिरिच्यन्ते, तावतैव प्रतीतिव्यवहारयोरुपपत्तेः। एवं स्थितस्थापकमप्यवयवसंयोगविशेष एव, नातिरिक्तम्। एतेन वेगो भावना स्थितस्थापकमिति त्रिविधः संस्कार इति वैशेषिकमतमपास्तम्। पृथक्त्वस्यातिरिक्तगुणतां निरस्यति—संयोगाभावेति। यथा संयोगाभावरूपो विभाग इति तस्य न पार्थक्यमङ्गीकृतं, तद्वत् पृथक्त्वस्यापीति

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

भाव: । एवं गुरुत्वमपि पतनानुकूलशक्तिरूपमिति न शक्तेरतिरिच्यते ॥ १६-१७-१८ ॥

वैशेषिक-सम्मत बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म और अधर्म नामक आठ गुण धर्मभूतज्ञान में अन्तर्भूत हैं, इसी प्रकार भावनाख्य संस्कार भी ज्ञान में अन्तर्भूत है । द्रवत्व, स्नेह, संख्या, परिमाण और वेग नामक संस्कार- ये सभी द्रव्यस्वरूप होने से अतिरिक्त गुण नहीं है । यह स्थितस्थापक संस्कार भी अवयवसंयोग विशेष ही है, अतिरिक्त गुण नहीं है । विभाग के समान संयोगाभावरूप होने से पृथक्त्व भी गुण नहीं है । इसी प्रकार गुरुत्व भी पतनानुकूल शक्तिरूप ही है, अतिरिक्त गुण नहीं है ॥१६-१७-१८ ॥

कर्मणामपि शक्तित्वं केचिदाहुर्मनीषिणः ।
पदार्थान्तरतामन्ये प्राहुर्वेदान्तवेदिनः ॥ १९ ॥

अथ वैशेषिकाद्यभिमतं कर्मपार्थक्यं निराचष्टे—कर्मणामिति । संयोगविभागजनकं कर्म । तच्च उत्क्षेपणावक्षेपणाकुञ्चनप्रसारणगमनभेदेन पञ्चविधमिति वैशेषिका: कथयन्ति; तन्न, उत्तरदेशसंयोगानुकूलशक्तेरेव कर्मत्वात् । पञ्चविधत्वोक्तिरपि न सम्यक् । उत्क्षेपणम् ऊर्ध्वदेशप्रक्षेप:, अवक्षेपणम् अधोदेशप्रक्षेप इत्यादिरीत्या भेदश्चेत् प्राच्यादिदिग्भेदेनापि विभागप्रसङ्ग: । अत उत्तरदेशसंयोगानुकूला शक्तिरेव कर्मेत्येतावता संतोष्टव्यम् । त एव वैशेषिका: कर्मणामसमवायिकारणत्वमाहु:; तन्न, समवायिनिमित्तसहकार्यतिरिक्तस्यासमवायिकारणस्याप्रसिद्धे: । यदि समवायिकारणप्रत्यासन्नं कारणमसमवायिकारणमिति परिभाष्यते, तदा निमित्तकारणप्रत्यासन्नमनिमित्तकारणमिति किंचित्प्रकल्पयेत । न हि तदस्ति । तस्मात् तदप्यप्रामाणिकमिति मन्तव्यम् । इत्थं कर्मणां शक्तावन्तर्भावमुपपाद्य केषांचिद्वेदान्तिनां मतेन कर्मणां पार्थक्यमाह—पदार्थान्तरतामिति । अयमत्र पृथक्त्वंपरिगणयतां भाव:—विभागपूर्वकोत्तरसंयोगानुकूला शक्ति: कर्मेति पक्षे एकेन जलधारेण विभज्यमाने जलधरान्तरेण तेन वा पुन: संयुज्यमानशिलोच्चये चलतीति प्रत्ययव्यवहारयो: प्रसङ्ग: । यदि देशपदप्रक्षेपेण पूर्वदेशविभागपूर्वकोत्तरदेशसंयोगेत्या-

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

दिना लक्ष्यते, तदापि महाप्रवाहपतितनिष्कम्पमकरे चलतीति प्रत्ययप्रसङ्गः । तस्मात्कर्माख्यं पदार्थान्तरमङ्गीकरणीयमिति ॥ १९ ॥

कुछ विद्वान् कर्म को ही शक्ति कहते हैं, किन्तु दूसरे वेदान्ती शक्ति को पृथक् पदार्थ मानते हैं ॥१९ ॥

प्राचीनग्रन्थपदवीमनुसृत्य यथामति ।
विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तफक्किकेत्थं निदर्शिता ॥ २० ॥

ग्रन्थमुपसंहरति—प्राचीनेति । प्राचीनग्रन्थोऽत्र न्यायसिद्धाञ्जनादिः । फक्किकेत्यनेन विस्तरभिया केवलं दिक्प्रदर्शनं कृतमित्युक्तं भवति ॥ २० ॥

इस प्रकार 'न्यायसिद्धाञ्जन' आदि प्राचीन ग्रन्थों का अनुसरण करके विशिष्टाद्वैतसिद्धान्त से सम्बन्धित यह फाक्किका = पुस्तिका लिखी गई है जिसमें विस्तार के भय से सिद्धान्तों का मात्र दिक्प्रदर्शन किया गया है ॥२० ॥

अण्णयार्याध्वरीन्द्रस्य तार्तीयीकतनूभुवा ।
श्रीमद्वेंकटदासेन निर्मिता कारिकावली ॥ २१ ॥

स्वस्याभिजनसंपत्तिमाह—अण्णयार्येति । तार्तीयीक इति । "तीयादीकक् स्वार्थे" इतीकक्प्रत्यये रूपम् । वेंकटदासेनेति स्वनामनिर्देशः । कारिकावलीति ग्रन्थनाम ॥ २१ ॥

अण्णयार्याध्वरीन्द्र के तृतीय पुत्र श्रीमान् वेंकटदास ने इस कारिकावली की रचना की है ॥२१ ॥

निरमायि रमायत्तपरमाद्भुततेजसः ।
मुदमाधातुकामेन मयेयं कारिकावली ॥ २२ ॥

स्वस्य ग्रन्थकरणे परमं प्रयोजनं भगवत्प्रीतिरेकैवेत्याह—निरमायीति । रमायत्तेति । भगवतः सर्वोऽपि महिमातिशयो महालक्ष्मीसंबन्धकारित इति भावः । यथोक्तम्, "अप्रमेयं हि तत्तेजो यस्य सा जनकात्मजा" इति । स्वतःप्रामाण्यमूर्धाभिषिक्तया श्रुत्यापि विध्यादिसाधारण्येन संशयास्पदे परतत्त्वनिर्णये चिकीर्षिते,

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

"ह्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ"इति विनिर्दिश्य, लक्ष्मीपतित्वपुरस्कारेणैव हि तस्मिन् परदेवतात्वं निर्णेतव्यमासीत् । अमुमेवाशयमभियुक्ताः सरसयोक्त्याविष्कुर्वन्ति । यथा—

"अपाङ्गा भूयांसो यदुपरि परं ब्रह्म तदभू-
दमी यत्र द्वित्राः स च शतमखादिस्तदधरात् ।

अतः श्रीराम्नायस्तदुभयमुशंस्त्वां प्रणिजगौ
प्रशस्तिः सा राज्ञो यदपि च पुरीकोशकथनम् ॥"

इति ॥२२ ॥

मैंने यह कारिकावली रमा-लक्ष्मी के आश्रित\परम-अद्भुत-तेजस्वी भगवान् नारायण को प्रसन्न करने की इच्छा से प्रस्तुत की है ॥२२ ॥

भक्तिप्रपत्त्योरधिदेवताभ्या-
मिवाब्जनाभस्य पदाम्बुजाभ्याम् ।
समर्पयेऽस्मन्मतकारिकावलीं
तदङ्गुलीसंख्यनिरूपणाढ्याम् ॥ २३ ॥

"यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥"

इत्युक्तरीत्या सात्त्विकत्यागं कुर्वन् स्वग्रन्थं भगवत्पादाम्बुजयोः समर्पयति—भक्तीति । पदाम्बुजाभ्यामिति चतुर्थी । पदाम्बुजे प्रीणयितुमित्यर्थः । "क्रियार्थोपपदस्य च" इत्यादिना चतुर्थी । तदङ्गुलीति तच्छब्देन पदाम्बुजे विवक्षिते । तदङ्गुलीसंख्या दश । दशसंख्याकनिरूपणैराढ्यामित्यर्थः ॥ २३ ॥

मैं भक्ति और प्रपत्ति के अधिदेवता के समान, पद्मनाभ भगवान् विष्णु के चरण-कमलों में विशिष्टाद्वैतसिद्धान्त-सम्मत कारिकावली, जिसमें चरणकमलों में दस अङ्गुली होने से दस निरूपण हैं, को समर्पित करता हूँ ॥२३ ॥

यः श्रीमच्छठमर्षणान्वयपयः सिन्धोः सुधांशुर्महा-
नण्णार्यः समभूद्विभूषितचतुस्तन्त्रो वचःकान्तिभिः ।

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

तस्यासौ तनयः समार्जितनयः श्रीवेंकटार्यः सुधीः
श्रुत्यन्तान्वयकारिकालिमकरोत्प्रीत्यै महत्यै सताम् २४

इति श्रीमच्छठमर्षणान्वयपयोधिचन्द्रमःषड्दर्शनीपारदृश्वनोऽण्णयार्यसोमपीथिनस्तृतीयसुतेन बुच्चिवेंकटाचार्येण विरचितायां वेदान्तकारिकावल्यामद्रव्यनिरूपणं नाम दशमं प्रकरणम् ।

स्वग्रन्थस्य श्रद्धेयताभिव्यक्त्यै स्वाभिजनादिसंपत्तिं वर्णयति—य इति । यः शठमर्षणवंशादेव क्षीरसमुद्रादुदितश्चन्द्रोऽभूत्, येन च चतुस्तन्त्री न्यायव्याकरणमीमांसाशारीरकाख्यशास्त्रचतुष्टयं वचःकान्तिभिर्विभूषिता अलंकृता, तस्य अण्णयार्यस्य तनयः सदाचार्यसेवासमधिगतनयसरणिः वेंकटाचार्यनामा सुधीः वेदान्तकारिकावलीनामकमिमं ग्रन्थं सतां महत्यै प्रीत्यै अकरोदित्यर्थः ॥ २४ ॥

वेदान्तार्थनितान्तचिन्तनरताः सन्त्येव सन्तो बुधा-
स्तेषां तोषकृते कृतेति विवृतिर्वेदान्तपद्यावलेः ।
अन्ये मत्सरिणो मितंपचधियो निन्दन्तु नन्दन्तु वा
नैवातो मनसो मनागपि भवेत्सादः प्रसादोऽथवा ॥

इत्थं श्रीशैलसच्चक्रवर्तिवंश्यः सतां मतः ।
श्रीकृष्णोऽकृत वेदान्तकारिकावलिटिप्पणम् ॥
अनेन भगवान् विश्वसर्गस्थित्यन्तकर्मठः ।
सर्वकर्मसमाराध्यः प्रीयतां देवनायकः ॥

महान् श्रीमान् अण्णार्य, जो श्रीमान् शठमर्षण के वंशरूप क्षीरसागर से चन्द्रवत् उदित हुए, ने न्याय-व्याकरण-मीमांसा और वेदान्त- चार शास्त्रों को अपनी व्याख्यानकान्ति से विभूषित किया, उनके समार्जित = सदा आचार्यसेवा से समधिगत पुत्र सुधी-विद्वान् **वेंकटाचार्य** ने सज्जनों की अति प्रसन्नता के लिए इस **वेदान्तकारिकावली** की रचना की है ॥२४ ॥

इतिवेदान्तकारिकावल्यामद्रव्यनिरूपणं दशमं प्रकरणम् ।
प्रमेयनिरूपणं समाप्तम् ।

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

परिशिष्ट-१

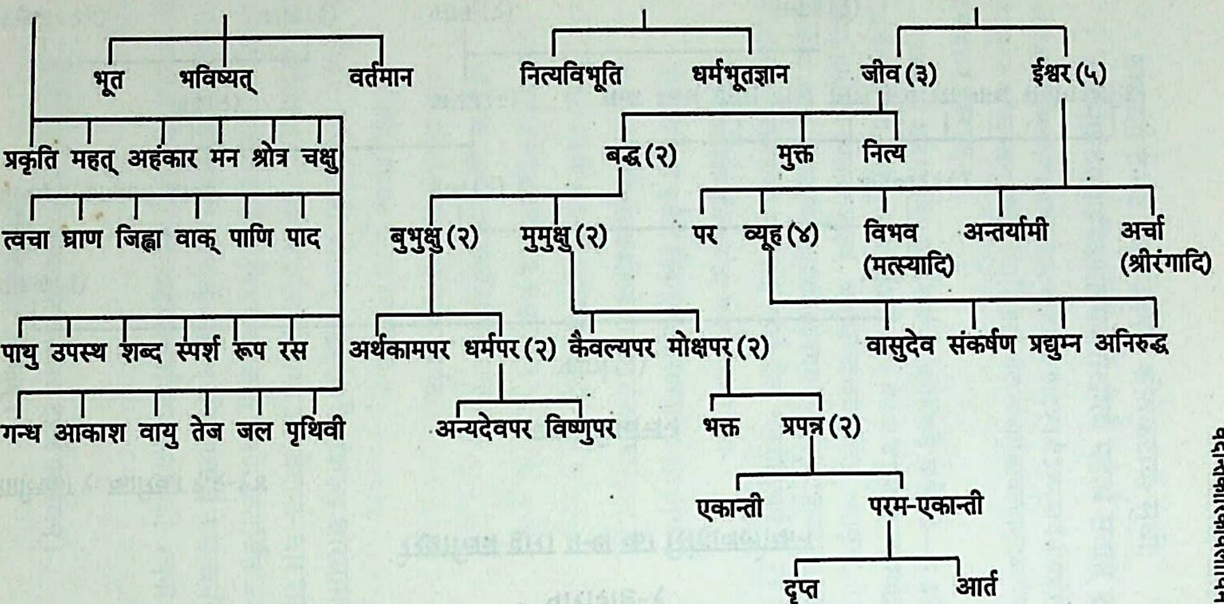
रेखाचित्र द्वारा ग्रन्थ का सिंहावलोकन

तालिका १: कारिका १.२-१४

पदार्थविवेचन

- पदार्थ (२)
  - प्रमाण (३)
    - प्रत्यक्ष
    - अनुमान
    - शब्द
  - प्रमेय १२
    - द्रव्य (२)
      - जड (२)
        - प्रकृति (२४)
        - काल (३)
      - अजड (२)
        - पराक् (२)
        - प्रत्यक् (२)
    - अद्रव्य (१०)
      - सत्त्व
      - रजस्
      - तमस्
      - शब्द
      - स्पर्श
      - रूप
      - रस
      - गन्ध
      - संयोग
      - शक्ति

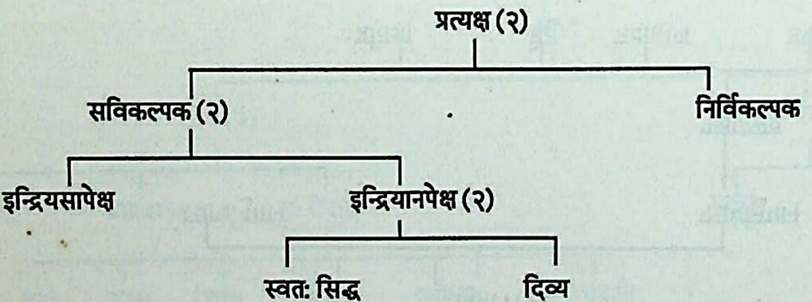
CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri



CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

प्रत्यक्षनिरूपण

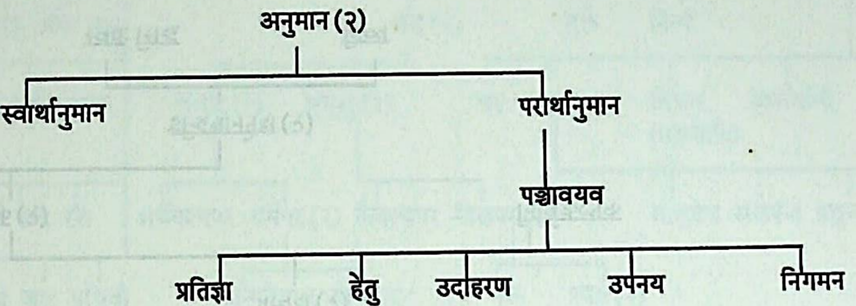
तालिका २: कारिका १.१८-२१



CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

अनुमाननिरूपण

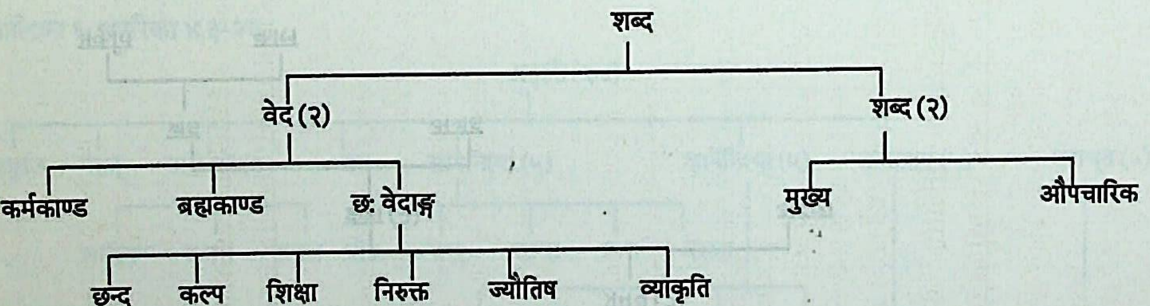
तालिका ३ : कारिका २.५-९



CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

शब्दनिरूपपण

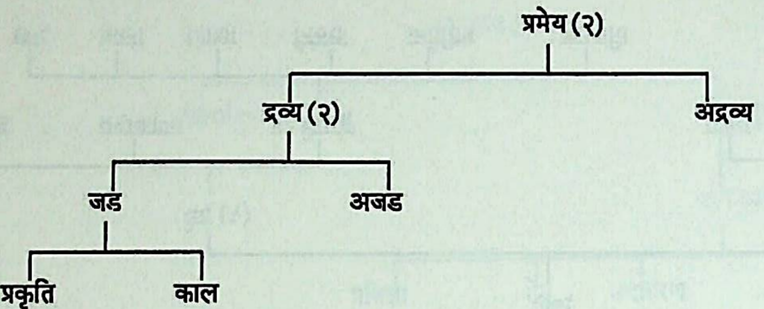
तालिका ४: कारिका ३.१-१३



CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

प्रमेय विवेचन

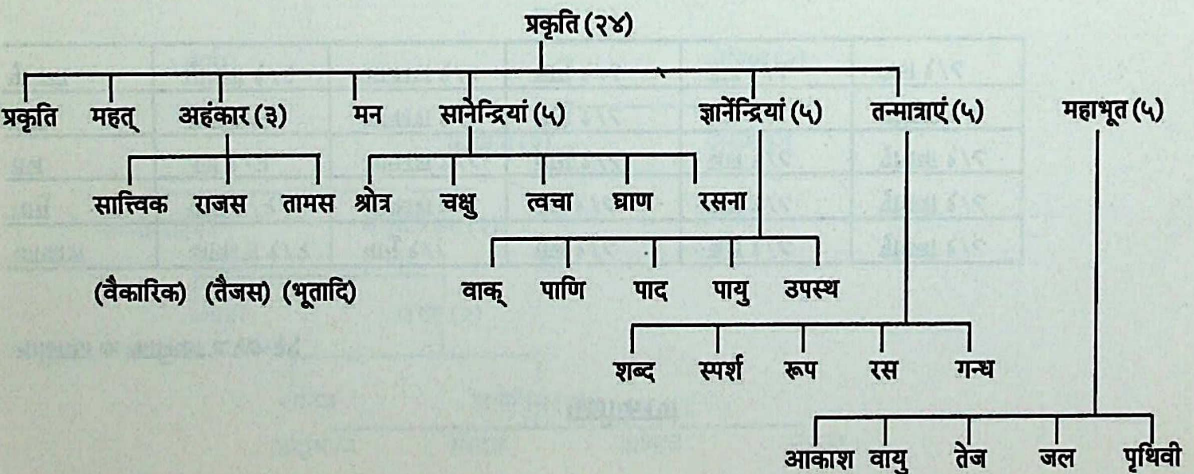
तालिका ५: कारिका ४.१-३



CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

प्रकृतिनिरूपण

तालिका ६: कारिका ४.३-२६



CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

पञ्चीकरण

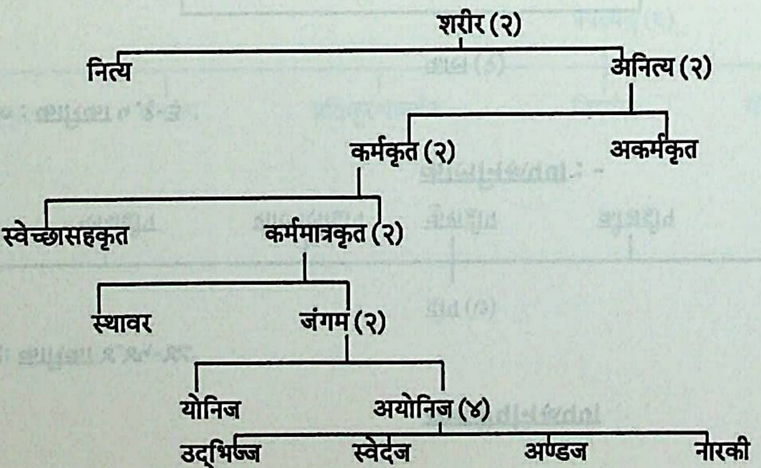
तालिका ७: कारिका ४.२७-२९

आकाश	आकाश १/२	वायु १/८	तेज १/८	जल १/८	पृथिवी १/८
वायु	वायु १/२	आकाश १/८	तेज १/८	जल १/८	पृथिवी १/८
तेज	तेज १/२	आकाश १/८	वायु १/८	जल १/८	पृथिवी १/८
जल	जल १/२	आकाश १/८	वायु १/८	तेज १/८	पृथिवी १/८
पृथिवी	पृथिवी १/२	आकाश १/८	वायु १/८	तेज १/८	जल १/८

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

शरीरनिरूपण

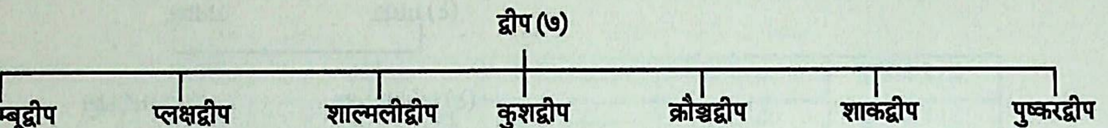
तालिका ८: कारिका ४.३२-३८



CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

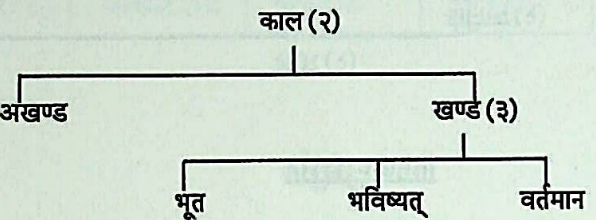
सप्तद्वीपनिरूपण

तालिका ९: कारिका ४.४५-४८



कालनिरूपण : -

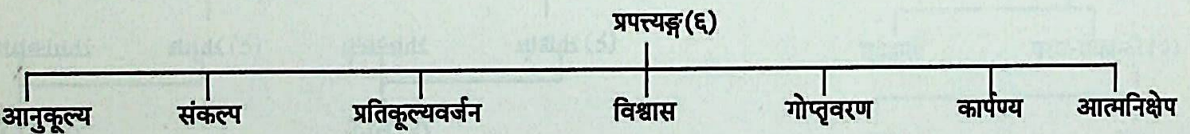
तालिका १० : कारिका ५.१-३



CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

प्रपत्ति के अङ्ग

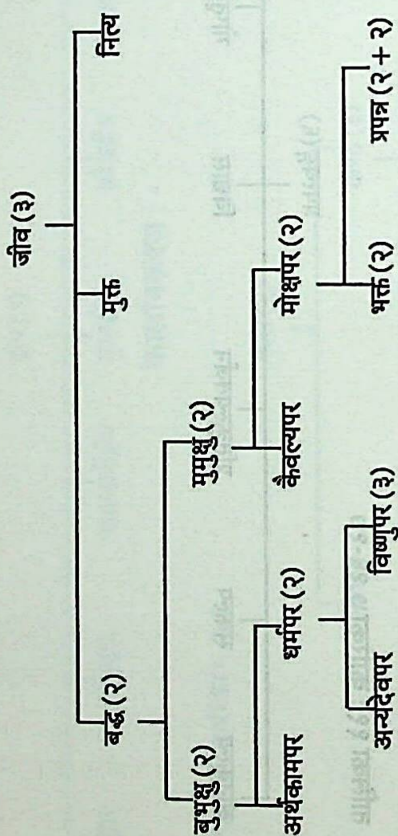
तालिका ११ : कारिका ७.१६-१७



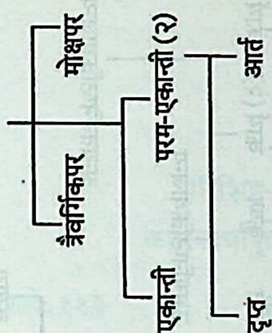
CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

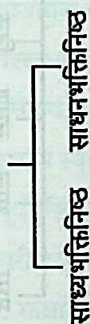
तालिका १२ : कारिका ८.६-२०

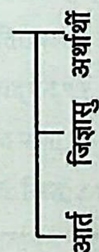
जीवनिरूपण



CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri







CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

अद्रव्यनिरूपण

तालिका १३ : कारिका १०.१-१०, १२-१३

अद्रव्य (१०)

- सत्त्व (२)
  - शुद्धसत्त्व
  - मिश्रसत्त्व (वर्णात्मक)
- रजस्
- तमस्
- शब्द (२)
  - वर्ण (अवर्णात्मक)
  - अवर्ण (ध्वन्यात्मक)
- स्पर्श
- रूप (४)
  - श्वेत (२)
    - भास्वर
    - अभास्वर
  - रक्त
  - पीत
  - कृष्ण
- रस (६)
  - मधुर
  - अम्ल
  - लवण
  - तिक्त
  - रूक्ष
  - कषाय
- गन्ध
- संयोग (२)
  - कार्य (२)
    - उभयनिष्ठक्रियाजन्य
    - अन्यतरनिष्ठक्रियाजन्य
  - अकार्य
- शक्ति

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

परिशिष्ट-२

कारिकार्धानुक्रमणी

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

CC0. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

परिशिष्ट ३

व्याख्यानोदाहृतप्रमाणानुक्रमणी

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

परिशिष्ट ४

तृतीयपरिशिष्टान्तर्निहित—सङ्केताक्षर-सूची

अधि. अधिकरणसारावलिः तै-आ. तैत्तिरीयारण्यकम्

अष्टा. अष्टाध्यायी. तै-ब्रा. तैत्तिरीयब्राह्मणम्

आत्म. आत्मसिद्धि. तै.-सं. तैत्तिरीयसंहिता

आप-श्रौ. आपस्तम्बश्रौतसूत्रम् नाट्य. नाट्यशास्त्रम्

इष्ट. इष्टसिद्धिः नाम. नामलिङ्गानुशासनम्

ऋ. ऋग्वेदः नित्या. नित्यानुसंधानम्

क. कठोपनिषत् नृ-उ. नृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषत्

काठ. काठकम न्या-सि. न्यायसिद्धाञ्जनम्

काव्य. काव्यप्रकाशः न्या. सू. न्यायसूत्रम् ।

कू.पु. कूर्मपुराणम् पर.परमार्थस्तुतिः

कौ. कौषीतक्युपनिषत् परम. परमसंहिता

गी.सं.गीतार्थसंग्रहः पा-शि. पाणिनीयशिक्षा

चतुः चतुः श्लोकी पु-सू. पुरुषसूक्तम्

चू. चूलिकोपनिषत् प्र. प्रश्नोपनिषत्

छा. छान्दोग्यपनिषत् बृ. बृहदारण्यकोपनिषत्

जै-ब्रा. जैमिनीयब्राह्मणम् ब्र.-सू. ब्रह्मसूत्रम्

त-प्र. तत्त्वप्रकाशिका भ-गी. भगवद्गीता

त-मु. तत्त्वमुक्ताकलापः भाम. भामती

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

त-वा. तन्त्रवार्तिकम् म-ना. महानारायणोपनिषत्

तेजो. तेजोबिन्दूपनिषत् मनु. स्मृतिः

तै. तैत्तिरीयोपनिषत् म-भा. महाभाष्यम्

महो. महोपनिषत् वि-ध. विष्णुधर्मः

मी-सू. मीमांसासूत्रम् विष्णु. विष्णुपुराणम्

मु. मुण्डकोपनिषत् वै-सू. वैशेषिकसूत्रम्

मु. मुण्डकोपनिषत् वै-सू. वैशेषिकसूत्रम्

र-सा. रहस्यत्रयसारः शान्ति. शान्तिपर्व

रामा. रामायणम् श्री-को.श्रीगुवणरत्नकोशः

रुद्र. रुद्रकोशः श्रीभा. श्रीभाष्यम्

लक्ष. लक्षणावली श्रुत. श्रुतप्रकाशिका

ल-त. लक्ष्मीतन्त्रम् श्वे. श्वेताश्वतरोपनिषत्

लि-पु. लिङ्गपुराणम् षडर्थ. षडर्थसंक्षेपः

वङ्गी. वङ्गीश्वरकारिका सां-का. सांख्यकारिका

व-पु. वराहपुराणम् सु. सुबालोपनिषत्

वाक्य, वाक्यपदीयम् स्तो-र. स्तोत्ररत्नम्

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

(अ) संस्कृत ग्रंथ

१. अर्थसंग्रह (हिन्दी व्याख्याकार) डा. सत्य प्रकाश शर्मा, साहित्य भंडार मेरठ ।

२. अर्थसंग्रह (हिन्दी व्याख्याकार) प्रो.वाचस्पति उपाध्याय, चौखम्बा संस्करण,वाराणसी ।

३. अभिधावृत्तिमातृका-मुकुल भट्ट, चौखम्बा संस्करण, वाराणसी, १९७३.

४. ऋग्वेद प्रातिशाख्य की वर्गद्वयवृत्ति-विष्णु मित्र ।

५. काव्यप्रकाश-मम्मट,वाराणसी, सं. २०१८.

६. किरणावली—उदयनाचार्य, गायकवाड़ सीरिज़, नं. १५४

७. गौतम धर्मसूत्र ।

८. गीता ।

९. तर्कभाषा-(सम्पादक) आचार्य विश्वेश्वर, वाराणसी, १९६३ ।

१०. तत्वचिन्तामणि-गंगेश उपाध्याय, कलकत्ता, १८९२ ।

११. तर्कसंग्रह—(सं.) बोडास एण्ड ऐथले, पूना, १९६३ ।

१२. तर्कसंग्रह—काशी, १९३९ ।

१३. तर्ककौमुदी—डा.आर.वी. जोशी, पं. रामप्रतापशास्त्री ट्रस्टमाला, ब्यावर (राज.), १९८६ ।

१४. तर्कभाषा (व्याख्याकार) डा. गजानन शास्त्री 'मुसलगांवकर, चौखम्बा प्रकाशन ।

१५. तर्कदीपिका—काशी, १९३९ ।

१६. तन्त्रवार्तिक ।

१७. न्यायसूत्र—गौतम, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी,१९६६ ।

१८. न्यायपरिशुद्धि—वेंकटनाथ, मद्रास संस्करण ।

१९. न्यायसारटीका—चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी ।

CC0. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

२०. न्यायभाष्य—वात्स्यायन, दरभंगा, १९६७।

२१. न्यायसूत्रवृत्ति—विश्वनाथ पंचानन, कलकत्ता, १९१९।

२२. न्यायसिद्धान्त-मुक्तावली—चौखम्बा,प्रकाशन,सं. २०४१।

२३. न्यायबोधनी—(सं.) बोडास और ऐथले।

२४. न्यायबिन्दु—धर्मकीर्ति, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, सं. २०३९।

२५. न्यायवार्तिक—उद्योतकर, दरभंगा, १९६७।

२६. न्यायवार्तिक—तात्पर्यटीका, वाचस्पति मिश्र, दरभंगा, १९६७।

२७. न्यायभाष्य—कलकत्ता संस्करण।

२८. न्यायसार—त्रिवेन्द्रम्,१९३१।

२९. प्रशस्तपादभाष्यम्—श्रीधरभट्टप्रणीतया न्यायकन्दलीव्याख्यया संवलितम्, वाराणसी, १९७७।

३०. पातञ्जलयोगसूत्र—पतञ्जलि,चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ वाराणसी।

३१. बृहदारण्यकोपनिषद्।

३२. मानमेयोदय—नारायणाद्वय, वाराणसी, १९७८।

३३. मनुस्मृति—१९८२।

३४. रामानुजसिद्धान्तसंग्रह—गवर्नमेण्ट ओरियण्टल,हस्तलिपि,सं. ४९८८।

३५. वेदान्तपरिभाषा—धर्मराजाध्वरीन्द्र, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९७७।

३६. वेदाङ्ग ज्योतिष।

३७. वेदान्तसारः—(व्याख्याकार) बद्रीनाथ शुक्ल।

३८. वेदान्तसारः—(व्याख्याकार) श्रीवास्तव्य।

३९. सांख्यकारिका—माठरवृत्ति।

४०. सांख्यकारिका (व्याख्याकार) प्रो. ब्रजमोहन चतुर्वेदी, दिल्ली।

(ब) हिन्दी ग्रन्थ

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

४१. अग्रवाल—डा. मदनमोहन, भावप्रकाशन, चौखम्बा संस्करण, वाराणसी,१९८३।

४२. उपाध्याय, आचार्य बलदेव, वैदिक साहित्य का इतिहास, वाराणसी।

४३. उपाध्याय, बलदेव—-भारतीय दर्शन, काशी, १९६०।

४४. ऋग्वेदभाष्यभूमिका।

४५. तर्कवागीश, फणिभूषण, न्याय परिचय, वाराणसी, १९७८।

४६. बेवर, अलफ्रेक्ट, भारतीय साहित्य, इलाहाबाद, १९६८।

४७. वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग-१, खण्ड-२।

४८. शर्मा, ब्रजनारायण, भारतीय दर्शन में अनुमान, म. प्र. अकादमी, भोपाल।

४९. सुखदास, चैन—जैन दर्शन, जयपुर, १९८१।

५०. सुखवाल, राधारानी—बल्लभ सम्प्रदाय के सिद्धान्त, ब्यावर (राज.), १९८५।

५१. सिंह, डा.राजकिशोर, भारतीय दर्शन, द्वितीय संस्करण विनोद पुस्तक भंडार, आगरा, १९८४-१९८५

(स) अंग्रेजी ग्रन्थ

52. Bhardwaj K.D. : "The Philosophy of Rāmānuja".

53. Devraj. N.K. : "An Introduction to Shankara's Theory of Knowedge'. Varanasi, 1972.

54. Gupta,Anima Sen : "A Critical study of the Philosophy of Rāmānuja". Chaukhambā Sanskrit Series. 1961.

55. Joshi, Rasik Vihari : Studies in Indian Logic and Metaphysics, Bhatiya Vidya Prakasnan, Delhi, 1979.

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

56. Kieth prof. A.B. : Indian Logic, atomism, Delhi, 1977

57. Prof. Kuppuswami : A Primary of Indian Logic, Mailapur,madras, 1961.

58. Singh, Dr. satyavrat : Vedāntadeśika—A study, Chaukhambā vidyā Bhawan, Varānasi,1958.

59. Vara, K.C. : Ramanuja's Theory of knowledge".

60. Vidyarthi,B.P. : "Knoledge, self and good in Ramānuja".

(द) कोशग्रन्थ

६१. आप्टे,शिवराम वामन-संस्कृत हिन्दी,कोश, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पटना वाराणसी ।

६२. झलकीकर, भीमाचार्य, न्यायकोष पूना, १९२८ ।

(ई) पत्र-पत्रिकायें

६३. अग्रवाल, डा. मदनमोहन, शाब्दबोध,परिषद् पत्रिका, वर्ष २१, अंक १, पटना, १९८१.

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

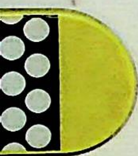
CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri



CC0. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri



CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri



CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri



विशिष्टाद्वैत वेदान्त के प्रवर्तक रामानुज सम्प्रदाय में दीक्षित पं० डॉ० केदारप्रसाद परोहा का जन्म मध्यप्रदेश के रीवा सम्भाग में शहडोल मण्डलान्तर्गत उमरिया तहसील के मानुपुर ब्लाक में सोन नदी के किनारे भोलगढ़ ग्राम के साधारण ब्राह्मण परिवार में द्वितीय संतान के रूप में ३ मार्च १९५८ को हुआ। प्रारम्भिक शिक्षा गाँव से ग्रहण कर संस्कृत जगत् में प्रवेश किया। रणजीत संस्कृत विद्यालय इन्दवार से उच्चतर माध्यमिक शिक्षा लेते हुए उच्च शिक्षा श्री अभयानन्द संस्कृत कालेज से सम्पूर्णानन्द संस्कृत-विद्यालय में सम्पन्न हुई। तदुपरान्त दिल्ली विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग से एम.ए., एम.फिल्. पी-एच्.डी. की उपाधियाँ प्राप्त कीं। साहित्याचार्य, ज्योतिषाचार्य की उपाधियां भी प्राप्त कीं। वर्तमान में श्री लालबहादुरशास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ, मानित विश्वविद्यालय नई दिल्ली में विशिष्टाद्वैत वेदान्त विभाग में व्याख्याता एवं विभागाध्यक्ष के पद पर सेवा कर रहे हैं।

CC0. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri

CC0. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized by eGangotri